भारतीय संस्कृति और उसका इतिहास

द्वितीय भाग

(मध्य और आधुनिक काल)

लेखक

सत्यकेतु विद्यालंकार, डी० लिट् (पेरिस)

(मंगलाप्रसाद पारितोषिक विजेता)

प्रकाशक

सरस्वती-सदन

मसूरी

प्रथम संस्करण] अगस्त, १९५३ [मूल्य २)

प्रकाशक

सरस्वती-सदन, मसूरी

मुद्रक

श्यामसुन्दर श्रीवास्तव

नेशनल हेराल्ड प्रेस

लखनऊ

प्रारम्भिक शब्द

भारतीय संस्कृति का यह इतिहास उन पाठकों व विद्यार्थियों के लिये लिखा गया है, जो राजनीतिक घटनाओं के विस्तार और उनकी बारीकियों में गये बिना भारतीय संस्कृति और उसके क्रमिक विकास का विशदरूप से अध्ययन करना चाहते हैं। अपने देश की संस्कृति के विषय में ज्ञान प्राप्त करने की इच्छा बिलकुल स्वाभाविक है। स्वराज्य की स्थापना के बाद भारत में अपने देश की संस्कृति को जानने की उत्कण्ठा बहुत प्रबल हो गई है। यही कारण है, कि कालिजों और यूनिवर्सिटियों में इतिहास के पाठ्यक्रम में इसको पृथक् रूप से स्थान दिया गया है।

संसार की अनेक प्राचीन सभ्यतायें इस समय नष्ट हो चुकी हैं। असीरिया और बैबिलोनिया के तो अब केवल नाम ही शेष हैं। मिस्र के वर्तमान निवासियों का संस्कृति की दृष्टि से उन प्राचीन लोगों के साथ कोई सम्बन्ध नहीं, जिन्होंने कि नील नदी की घाटी में गगनचुम्बी विशाल पिरामिडों का निर्माण किया था, और जिन्होंने अपने पितरों की ममी बनाकर उन्हें अमर जीवन प्रदान करने का प्रयत्न किया था। प्राचीन ग्रीस और रोम में जो सभ्यतायें विकसित हुई थीं, वे भी अब नष्ट हो चुकी है। आज प्राचीन ग्रीक व रोमन धर्मों का कोई अनुयायी नहीं है। जो विचारधारा प्राचीन रोमन लोगों को देवी-देवताओं और प्राकृतिक शक्तियों की पूजा के लिये प्रेरित करती थी, वह आज के रोमन (इटालियन) लोगों के लिये कोई अर्थ नहीं रखती। पर भारत की प्राचीन सभ्यता और संस्कृति हजारों साल बीत जाने पर भी अब तक कायम है। भारत के बहुसंख्यक निवासियों का धर्म अब भी वैदिक है। इस देश के पुरोहित आज भी वेद मन्त्रों द्वारा यज्ञकुण्ड में आहुति देकर देवताओं व प्राकृतिक शक्तियों को तृप्त करते हैं। उपनिषदों और गीता ने ज्ञान की जो धारा प्रवाहित की थी, वह आज भी अबाधित रूप से इस देश में बह रही है। बुद्ध और महावीर जैसे महात्माओं ने अहिंसा और प्राणिमात्र के प्रति मैत्री भावना का जो उपदेश दिया था, वह आज तक भी इस देश में जीवित और जागृत है। इस बीसवीं सदी में भी इस देश की स्त्रियों का आदर्श सीता, सावित्री और पार्वती हैं।

अनेक विदेशी जातियों ने इस देश पर आक्रमण किये। यवन, शक, कुशाण, हूण, तुर्क, अफगान, मुगल और इंगलिश जातियों ने भारत में प्रवेश कर इसके अनेक भागों पर शासन किया। इन सब ने इस देश की संस्कृति को प्रभावित भी किया। पर इनके आक्रमणों व शासन ने यहां की मूल सांस्कृतिक धारा को नष्ट नहीं किया। जिस प्रकार अनेक छोटी-छोटी नदियां व नाले गंगा में मिल कर उसे अधिक समृद्ध करते जाते हैं, और स्वयं गंगा के ही अंग बन जाते हैं, वैसे ही विविध जातियों ने भारत में प्रवेश कर इस देश की संस्कृति को समृद्ध बनाने में सहायता की, और उनकी अपनी संस्कृतियां इस देश की उन्नत व समृद्ध संस्कृति में मिलकर अपनी पृथक् सत्ता को खो बैठीं और यहां की संस्कृति के साथ एकाकार हो गई।

किसी देश की संस्कृति अपने को धर्म, दार्शनिक विचार, कविता, संगीत, कला, शासन-प्रबन्ध आदि के रूप में अभिव्यक्त करती है। मनुष्य जिस ढंग से अपने धर्म का विकास करता है, दर्शन-शास्त्र के रूप में जो चिन्तन करता है, साहित्य, संगीत और कला का जिस प्रकार से सृजन करता है, और अपने सामूहिक जीवन को हितकर व सुखी बनाने के लिये जिन राजनीतिक, सामाजिक व आर्थिक संस्थाओं व प्रथाओं को विकसित करता है, उन सब का समावेश हम 'संस्कृति' में करते है। इस पुस्तक में मैंने भारतीय इतिहास के इन्हीं अंगों का विशदरूप के विवेचन करने का प्रयत्न किया है। इसे लिखते हुए मैंने भारत के राजनीतिक इतिहास की उपेक्षा की है। पर विषय को स्पष्ट करने के लिये प्रसंगवश उसका उल्लेख अवश्य कर दिया है।

भारत के सांस्कृतिक इतिहास पर कतिपय अन्य पुस्तकें भी हिन्दी में प्रकाशित हुई हैं। पर मुझे विश्वास है, कि विद्यार्थी व सर्वसाधारण पाठक मेरी इस पुस्तक में कुछ विशेषता व नवीनता पावेंगे, और इसे वे उपादेय मानेंगे। यदि पाठकों को इस पुस्तक से भारतीय संस्कृति के स्वरूप व उसके क्रमिक विकास को समझने में सहायता मिली, तो मै अपने परिश्रम को सफल समझूंगा।

प्रयत्न करने पर भी पुस्तक के प्रूफ संशोधन में अशुद्धियां रह गई हैं, जिनमें से कुछ से पाठकों को भ्रम भी हो सकता है। यथा २२ वें पृष्ठ की पांचवीं पंक्ति में 'युइशि' की जगह 'यहूदी' छप गया है। आशा है, विज्ञ पाठक इन्हें सुधार लेंगे।

—सत्यकेतु विद्यालंकार

विषय-सूची

प्रथम भाग

द्वितीय भाग

द्वितीय भाग

चौबीसवां अध्याय

भारत में इस्लाम का प्रवेश

(१) अरबों का आक्रमण

इस्लाम का अभ्युदय—सातवीं सदी के प्रारम्भिक भाग में जब उत्तरी भारत में सम्राट् हर्षवर्धन का, और दक्षिणापथ में चालुक्य चक्रवर्ती पुलकेशी द्वितीय का शासन था, अरब के इतिहास में एक नये युग का प्रारम्भ हो रहा था। अरब के इस नवयुग के प्रवर्तक हजरत मुहम्मद थे। मुहम्मद से पूर्व अरब में बहुत-से छोटे-छोटे राज्य थे, जो सदा आपस में लड़ते रहते थे। राजनीतिक व राष्ट्रीय एकता का वहां सर्वथा अभाव था। सामाजिक और धार्मिक दृष्टि से भी अरब के लोग बहुत अवनत दशा में थे। वे बहुत-से देवी-देवताओं में विश्वास रखते थे, और उन्हें संतुष्ट रखने के लिये अनेकविध विधि-विधानों व अनुष्ठानों का प्रयोग करते थे। अरब पुरुष जितनी स्त्रियों से चाहे विवाह कर सकता था। स्त्रियों की स्थिति अरब में बहुत हीन थी। इसीलिये बालिका का जन्म वहां बुरा समझा जाता था, और अनेक माता-पिता बालिका-वध में भी संकोच नहीं करते थे। मदिरा-सेवन, द्यूत आदि में व्यापृत रहने के कारण अरब लोग सामाजिक दृष्टि से अत्यन्त हीन दशा में थे।

हजरत मुहम्मद ने अरब की इस दशा में सुधार किया। उनकी शिक्षा थी, कि ईश्वर (अल्लाह) एक है, जो निराकार है। उसकी मूर्ति व प्रतिमा नहीं होती, और उसकी पूजा के लिये मन्दिरों की आवश्यकता नहीं। मुहम्मद ने यह भी शिक्षा दी, कि सब मनुष्य एक बराबर हैं, ऊंच-नीच का भेद अनुचित है। जो कोई मनुष्य अल्लाह में विश्वास करके इस्लाम का अनुयायी हो जाय, वह नीच नहीं रह सकता। सब मुसलमान एक दूसरे के बराबर होते है। बालिका-वध, मदिरा-सेवन, द्यूत आदि कुरीतियों का विरोध कर मुहम्मद ने यह मर्यादा निर्धारित की, कि पुरुष को चार से अधिक स्त्रियों के साथ विवाह नहीं करना चाहिये।

शुरू में मुहम्मद के विचारों का बहुत विरोध हुआ। पर कुछ ही समय में सारा अरब मुहम्मद का अनुयायी हो गया। मुहम्मद ने जिस नये धर्म का प्रारम्भ किया, उसे इस्लाम कहा जाता है। मुहम्मद उसका रसूल है। प्रत्येक मुसलमान के लिये जिस प्रकार अल्लाह में विश्वास रखना आवश्यक है, वैसे ही रसूल में ईमान लाना भी उसके लिये अनिवार्य है। ईश्वर और उसके रसूल को न मानना कुफ्र है, और कुफ्र करनेवाला काफिर है। जो ज्ञान ईश्वर ने अपने रसूल मुहम्मद द्वारा प्रदान किया, उसे कुरान कहते हैं।

अरबों का विशाल साम्राज्य––पर हजरत मुहम्मद केवल धर्म-सुधारक ही नहीं थे। साथ ही वे अरब के राष्ट्रीय नेता भी थे। उन्होंने अरब के लोगों को संगठित कर अपने देश को एक राष्ट्र के रूप में परिणत किया। अरब के विविध राज्यों का अन्त कर उन्होंने उन्हें अपने अधीन किया, और इस प्रकार एक शक्तिशाली व सुसंगठित अरब राष्ट्र का प्रादुर्भाव हुआ। अपने जीवनकाल (५७०–६३२ ई० प०) में मुहम्मद ने अरब में राष्ट्रीय एकता स्थापित कर दी थी, और उनके उत्तराधिकारी खलीफाओं के समय में अरब की शक्ति पश्चिम में अटलाण्टिक सागर तक और पूर्व में सिन्ध नदी व पामीर की पर्वतमाला तक विस्तृत हो गई थी। अरब का यह आकस्मिक उत्कर्ष संसार के इतिहास में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। मुहम्मद की मृत्यु के केवल दो साल बाद ६३४ ईस्वी में अरब सेनाओं ने पूर्वी रोमन साम्राज्य को बुरी तरह से परास्त किया, और पश्चिमी एशिया के सीरिया, दमास्कस, एण्टिओक, जैरुसलम आदि प्रदेशों पर खलीफाओं का आधिपत्य स्थापित हो गया। ६३७ ईस्वी में अरबों ने ईरान के सुविस्तृत साम्राज्य को परास्त किया, और शीघ्र ही पूर्व की ओर आगे बढ़ते-बढ़ते वे चीन की सीमा तक पहुंच गये। सातवीं सदी के उत्तरार्ध में उन्होंने पश्चिम में दूर-दूर तक विजय की। मिस्र पर कब्जा कर उन्होंने एलेग्जेण्ड्रिया के सुविख्यात पुस्तकालय का ध्वंस किया, और सम्पूर्ण उत्तरी अफ्रीका को जीतते हुए वे जिबराल्टर के जलडमरूमध्य को पार कर स्पेन पहुंच गये। स्पेन उनके सम्मुख नहीं टिक सका, और अरब की सेनायें पिरेनीज़ की पर्वतमाला तक जा पहुंचीं। अरब-आक्रमणों से फ्रांस के राजा भयभीत हो गये, और उन्हें अपने देश की रक्षा करने के लिये घनघोर युद्धों की आवश्यकता हुई। आठवीं सदी के प्रारम्भ तक यह दशा आ गई थी, कि पिरेनीज की पर्वतमाला से पामीर की पर्वतमाला तक सुविस्तीर्ण भूखण्ड पर अरबों का आधिपत्य था, और उनकी शक्ति के सम्मुख पूर्वी रोमन साम्राज्य के सम्राट् अपने को असहाय अनुभव करते थे।

सिन्ध की विजय—अरब-साम्राज्य की शक्ति की यह दशा थी, जब कि ७१२ ईस्वी में खलीफा के अन्यतम सेनापति मुहम्मद बिन कासिम ने भारत पर आक्रमण किया। सिन्ध में उस समय कोई ऐसा एक शक्तिशाली राजा न था, जो विश्वविजयी अरब सेनाओं का सफलतापूर्वक मुकाबला कर सकता। सिन्ध के छोटे-छोटे राजा अरबों से परास्त हो गये, और भारत के इस प्रदेश पर मुहम्मद बिन कासिम का आधिपत्य स्थापित हो गया। यह बात वस्तुतः महत्त्व की है, कि इस समय अरब सेनायें सिन्ध से आगे बढ़कर भारत के अन्य प्रदेशों को अपनी अधीनता में नहीं ला सकीं। इसका कारण अरब-आक्रांताओं की अनिच्छा नही थी। अरब-साम्राज्य में इस समय अद्भुत शक्ति थी, और खलीफा की ओर से जो शासक सिन्ध में नियुक्त थे, उनका यह निरन्तर प्रयत्न रहा कि वे भारत में और आगे बढ़कर अपनी शक्ति का विस्तार करें। पर जिस प्रकार फ्रांस की राजशक्ति ने स्पेन की विजय करनेवाले अरबों के विरुद्ध लोहा लिया, उसी प्रकार भारत में गुर्जरप्रतीहार और चालुक्य-राजाओं ने सिन्ध को अरब-सेनाओं का मुकाबला करने में अद्भुत पराक्रम प्रदर्शित किया। अरब लोग जो उत्तर में मुलतान से और पूर्व में सिन्ध से आगे नहीं बढ सके, उसका एकमात्र कारण इस युग के भारतीय राजवंशों की सैन्यशक्ति ही थी।

अरबों का शासन—भारत के राजनीतिक इतिहास में अरब-आक्रमण का बहुत अधिक महत्त्व नहीं है, क्योंकि उससे इस देश के इतिहास की मुख्य धारा में कोई विशेष परिवर्तन नही हुआ था। पर सिन्ध और मुलतान के जिन प्रदेशों पर आठवीं सदी में अरब अपना शासन स्थापित करने में समर्थ हुए, उनमें उनके शासन का क्या स्वरूप था, यह प्रश्न विचारणीय है। इस सम्बन्ध में हमें निम्न-लिखित बातों को ध्यान में रखना चाहिये—(१) अरब-विजेताओं ने हिन्दुओं के धर्ममन्दिरों को नष्ट करने व उनमें संचित सम्पत्ति को लूटने में जरा भी संकोच नहीं किया। धार्मिक दृष्टि से अरब लोग असहिष्णु थे, और काफिर हिन्दुओं के धर्म को सहन कर सकना उनके लिये सुगम नहीं था। इसीलिये उन्होंने हिन्दुओं पर घोर अत्याचार किये। (२) पर्शिया आदि जिन अन्य देशों पर अरबों ने आक्रमण किया था, इस्लाम के मुकाबले में वहां के लोग अपने धर्म की रक्षा करने में असमर्थ रहे थे। जिस प्रकार सूखे जंगल में दावानल बात की बात में फैल जाता है, वैसे ही मिस्र, ईरान आदि देशों में इस्लाम का प्रसार हो गया था। इन देशों के पुराने धर्मों में इतनी शक्ति नहीं थी, कि वे इस्लाम के विरुद्ध अपनी रक्षा कर सकते। पर सिन्ध और मुलतान के हिन्दू अरबों द्वारा आक्रान्त होने पर

अपने धर्म की रक्षा करने में समर्थ रहे। मुसलिम-धर्म को न अपनाने के कारण उन्हें जजिया-कर देना पड़ता था। जो कोई मनुष्य इस्लाम को अपना ले, उसे कर देने की आवश्यकता नहीं होती थी। हिन्दुओं और मुसलमानों के पारस्परिक मुकदमों का फैसला मुसलिम-कानून के अनुसार काजी लोगों द्वारा किया जाता था, जिसके कारण हिन्दू सदा नुकसान में रहते थे। पर फिर भी सिन्ध और मुलतान के लाखों हिन्दू जो अपने धर्म पर दृढ रहे, यह उनकी जीवनी शक्ति और धर्म-प्रेम का परिचायक है। (३) सिन्ध और मुलतान की विजय के कारण अरब लोगों का आधिपत्य ऐसे प्रदेशों पर स्थापित हो गया था, जिनके निवासी सभ्यता और संस्कृति के क्षेत्र में अपने शासकों की अपेक्षा बहुत अधिक उन्नत थे। इसी कारण अरबों ने अपने शासन में ब्राह्मण कर्मचारियों को प्रमुख स्थान दिया, और उन्हीं की सहायता व सहयोग से वे शासन-कार्य में सफल हो सके।

भारत से सम्पर्क का परिणाम—सिन्ध और मुलतान की विजय से अरब के खलीफाओं का सम्पर्क एक ऐसी जाति से हो गया था, जो उस युग में ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में शिरोमणि थी। दर्शन, गणित, ज्योतिष, चिकित्साशास्त्र, अध्यात्मचिन्तन आदि सभी विषयों में आठवीं सदी के भारतीय अरबों की अपेक्षा बहुत अधिक उन्नत थे। अरबों ने शीघ्र ही इस तथ्य को अनुभव कर लिया, और बगदाद के खलीफाओं ने भारत के इस ज्ञान से लाभ उठाने का पूरा प्रयत्न किया। खलीफा मन्सूर (७५३–७७४ ई० प०) ने भारत से अनेक विद्वानों और ज्योतिषियों को बगदाद बुलाया, और उनकी सहायता से ब्रह्मगुप्त आदि विद्वानों के अनेक ग्रन्थों का अरबी में अनुवाद कराया। खलीफा हारूं रशीद (७८६–८०८) के शासन-काल में बहुत-से भारतीय गणितज्ञ, ज्योतिषी और वैद्य बगदाद बुलाये गये, और बहुत-से भारतीय ग्रन्थों को अरबी-भाषा में अनूदित किया गया। अरब-इतिहास की दृष्टि से यह बात बहुत अधिक महत्त्व की थी। इस युग में अरबों में अनुपम जीवनी शक्ति थी। भारत से गणित, ज्योतिष और चिकित्साशास्त्र का ज्ञान प्राप्त कर उन्होंने इन विषयों में अद्भुत उन्नति की। प्रसिद्ध ऐतिहासिक एच० जी० वेल्स के अनुसार मध्ययुग में जब यूरोप में सर्वत्र अविद्यान्धकार छाया हुआ था, ज्ञान का दीपक केवल अरब में ही प्रकाश कर रहा था। अरब में ज्ञान का जो यह दीपक प्रकाशित हुआ, उसका प्रधान कारण उसका भारत के साथ सम्पर्क ही था। गणित, ज्योतिष आदि का जो ज्ञान अरबों ने भारत से प्राप्त किया, उसे अरबों से यूरोपियन लोगों ने सीखा। मध्ययुग के अन्त में यरोप में

जो विद्या का पुनः जागरण हुआ, उसमें सिसली, स्पेन और दक्षिणी इटली का अरबों से घनिष्ठ सम्पर्क एक महत्त्वपूर्ण कारण था ।

अरब-शक्ति का ह्रास—आठवीं सदी के प्रारम्भ में सिन्ध और मुलतान के प्रदेश विशाल अरब-साम्राज्य की अधीनता में आ गये थे । पर गुर्जरप्रतीहार-राजा नागभट्ट के पराक्रम के कारण अरब लोग भारत में अधिक आगे नहीं बढ़ सके । ८८३ ईस्वी में सिन्ध के अरब शासक इम्रां बिन मूसा ने एक बार फिर भारत-विजय का प्रयत्न किया, और दक्षिण-पूर्व में कच्छ के ऊपर आक्रमण किया । पर कन्नौज के प्रतापी गुर्जरप्रतीहार-सम्राट् मिहिरभोज ने उसे परास्त कर अरबों की महत्त्वाकांक्षाओं का सदा के लिये अन्त कर दिया । इस बीच में अरब की खलीफत में भी निर्बलता आनी शुरू हो गई थी, और खलीफाओं के लिये यह सम्भव नहीं रह गया था, कि वे अपने साम्राज्य के सुदूरवर्ती भारतीय प्रदेशों पर अपना नियन्त्रण रख सकें । परिणाम यह हुआ, कि सिन्ध और मुलतान के प्रदेशों में विविध अरब शासक स्वतन्त्र रूप से शासन करने और पारस्परिक संघर्ष में अपनी शक्ति को क्षीण करने लगे । दसवीं सदी के अन्त में जब तुर्कों ने भारत पर आक्रमण शुरू किये, तो सिन्ध और मुलतान के अरब-शासकों की स्थिति छोटे-छोटे स्थानीय राजाओं (अमीरों) की रह गई थी, और भारत के राजनीतिक जीवन में उनका कोई महत्त्वपूर्ण स्थान नहीं था ।

(२) तुर्कों के आक्रमण

सातवीं-आठवीं सदियों में अरबों ने जिस विशाल साम्राज्य की स्थापना की थी, धीरे-धीरे उसमें क्षीणता के चिह्न प्रगट होने लग गये थे । सभ्यता और वैभव ने अरबों को विलासी बना दिया था, और उनमें वह प्रचण्ड शक्ति नहीं रह गई थी, जो स्पेन से लेकर सिन्ध तक के विशाल भूखण्ड को उनकी अधीनता में लाने में समर्थ हुई थी । जिस प्रकार विशाल गुप्त-साम्राज्य हूणों के आक्रमणों का मुकाबला करते-करते क्षीण हो गया था, वैसे ही सुविस्तीर्ण अरब-साम्राज्य पर भी उत्तर व पूर्व की ओर से निरन्तर आक्रमण होते रहते थे, और उनसे अपनी रक्षा करने में सभ्य अरब लोग अपने को असमर्थ पाते थे । दसवीं सदी में अरब-साम्राज्य खण्ड-खण्ड होना शुरू हुआ, और उसके भग्नावशेष पर अनेक नये राज्य कायम हुए । इन राज्यों में तुर्कों द्वारा स्थापित गजनी के राज्य का भारतीय इतिहास के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है । तुर्क लोग अरबों के मुकाबले में असभ्य थे ।

इसी कारण अरबों के सम्पर्क में आकर उन्होंने उनके धर्म और संस्कृति को अपना लिया था। गजनी के तुर्क-राज्य का संस्थापक अलप्तगीन था, और उसने दसवीं सदी के मध्यभाग मे अपने स्वतन्त्र राज्य की स्थापना की थी। अलप्तगीन के बाद उसका पुत्र सुबुक्तगीन (९७७ ई० प०) गजनी का राजा बना। उसने अपने तुर्क-राज्य के उत्कर्ष के लिये भारत पर अनेक आक्रमण किये। इस समय उत्तर-पश्चिमी भारत जयपाल नामक राजा के शासन में था, जिसकी राजधानी सिन्ध नदी के तट पर स्थित ओहिन्द नगरी थी। जयपाल हिन्दूसाहीवंश का था, और वर्तमान समय के अफगानिस्तान के भी कतिपय प्रदेश (प्राचीन पश्चिम गान्धार जनपद) उसके राज्य के अन्तर्गत थे। तुर्क-आक्रान्ता का मुकाबला करने के लिये जयपाल ने अन्य भारतीय राजाओं की भी सहायता प्राप्त की। खुर्रम नदी के तट पर तुर्क और भारतीय सेनाओं में युद्ध हुआ, जिसमें सुबुक्तगीन की विजय हुई। इस विजय के कारण सिन्ध नदी के पश्चिम के उत्तर-पश्चिमी भारत पर तुर्कों का अधिकार स्थापित हो गया।

महमूद गजनवी—९९७ ईस्वी में सुबुक्तगीन की मृत्यु के बाद महमूद गजनी का सुलतान बना। उसने गजनी के तुर्कसाम्राज्य को उत्कर्ष की चरम सीमा तक पहुंचा दिया, और अपने राज्य का विस्तार करते हुए भारत पर कई बार आक्रमण किये। दक्षिण-पश्चिम में काठियावाड़ तक और पूर्व में मथुरा और कन्नौज तक महमूद ने विजययात्रायें कीं। इस समय भारत में कोई ऐसी प्रबल राजशक्ति नहीं थी, जो तुर्कों का दृढ़तापूर्वक मुकाबला कर सकती। इसी कारण महमूद गजनवी मथुरा और कन्नौज जैसे वैभवपूर्ण नगरों का ध्वंस करने में समर्थ हुआ। सोमनाथ के मन्दिर की लूट के बाद जब महमूद वापस लौट रहा था, तो धारानगरी के परमार-राजा भोज ने उसका मुकाबला किया, और भोज से परास्त होकर तुर्क-आक्रान्ता को शीघ्र अपने देश को लौट जाने के लिये विवश होना पड़ा। महमूद जो भारत में मुसलिम तुर्कों का स्थिर शासन स्थापित नहीं कर सका, उसका प्रधान कारण यही था, कि अभी भारत के विविध राजवंशों की शक्ति सर्वथा क्षीण नहीं हो गई थी। परमारवंशी भोज सदृश प्रतापी राजा अभी इस देश में विद्यमान थे, जो रणक्षेत्र में तुर्कों को परास्त करने की क्षमता रखते थे। पर इसमें सन्देह नहीं, कि तुर्कों के आक्रमणों के परिणामस्वरूप उत्तर-पश्चिमी सीमा-प्रान्त, पश्चिमी पंजाब और सिन्ध अब मुसलिम शासकों की अधीनता में चले गये। महमूद के उत्तराधिकारी निर्बल थे। उनके शासनकाल में गजनी का साम्राज्य क्षीण होना शुरू हो गया, और तुर्कों के लिये यह

सम्भव नहीं हुआ, कि वे पश्चिमी पंजाब से आगे बढ़कर भारत में अपनी शक्ति का विस्तार कर सकें।

ग्यारहवीं सदी के शुरू में महमूद गजनवी ने भारत पर आक्रमण किये थे। इसके बाद लगभग दो सदी तक भारत पर किसी विदेशी आक्रान्ता ने आक्रमण नहीं किया। बारहवीं सदी के अन्त (११९१ ईस्वी) में एक बार फिर अफगानिस्तान के क्षेत्र से मुसलमानों ने भारत पर हमले शुरू किये, और शहाबुद्दीन गोरी ने उत्तरी भारत के अच्छे बड़े प्रदेश को जीतकर अफगान सल्तनत की नींव डाली। पर लगभग दो सौ साल तक भारत इस्लाम के आक्रमणों से बचा रहा, और इस देश के विविध राजपूत-राजा विजययात्राओं द्वारा अपनी शक्ति का विस्तार करने में तत्पर रहे।

(३) इस्लाम का हिन्दू-जाति से प्रथम सम्पर्क

विदेशी व विधर्मी लोगों का आक्रमण भारत के लिये कोई नई बात नहीं थी। अरबों और तुर्कों से पहले भी अनेक विदेशी जातियों ने विजेता के रूप में भारत में प्रवेश किया था। यवन (ग्रीक), शक, युइशि, पार्थियन, कुशाण, हूण आदि कितने ही जातियों ने भारत के अनेक प्रदेशों की विजय कर वहां अपने राज्य स्थापित किये थे। राजनीतिक दृष्टि से ये जातियां चाहे विजयी रही हों, पर धर्म, सभ्यता और संस्कृति के क्षेत्र में ये भारतीयों द्वारा परास्त हुई थीं। अनेक यवन राजाओं ने भारत के सम्पर्क में आकर बौद्ध, शैव व वैष्णव धर्मों को अपना लिया था। शक, युइशि, हूण आदि भारत में आकर पूर्णरूप से भारतीय बन गये। बहुत पुराने समय से भारत में 'व्रात्यस्तोम' यज्ञ की परिपाटी थी, जिससे इन सब व्रात्य जातियों को आर्यों ने अपने धर्म व समाज में सम्मिलित कर लिया। यह सत्य है, कि इन विदेशी जातियों के विश्वासों, रीति-रिवाजों और पूजा की शैली ने भारत के धर्म को भी प्रभावित किया। पर भारत में बस जाने के बाद ये जातियां इस देश के लिये विदेशी नहीं रहीं। इन्होंने यहां की भाषा, धर्म, साहित्य व संस्कृति को पूरी तरह से अपना लिया।

भारत के इतिहास में यह पहला अवसर था, जब कि अरब और तुर्क लोग भारत में प्रविष्ट होने के बाद भी इस देश के समाज का अंग नहीं बन सके। साथ ही, यह बात भी ध्यान देने योग्य है, कि अरब और तुर्क लोगों को भी हिन्दुओं को अपने रंग में रंग सकने में वह सफलता नहीं हुई, जो उन्हें अन्य देशों में हुई थी। अरब-साम्राज्य के उत्कर्ष-काल में जहां कहीं भी मुसलमानों का आधिपत्य स्थापित

हुआ, वहां की जनता ने पूर्णरूप से अरब के धर्म, सभ्यता और संस्कृति को अपना लिया। प्राचीन मिस्र की यूनानी संस्कृति और प्राचीन ईरान की अपनी उच्च संस्कृति मुसलिम अरबों के सामने नहीं टिक सकी। पर भारत में मुसलमानों को वह सफलता नहीं मिली, जो उन्हें मिस्र और ईरान में प्राप्त हुई थी। इस स्थिति के क्या कारण थे? (१) इस युग में इस्लाम में अद्भुत जीवनीशक्ति थी। वह एक नई महत्त्वाकांक्षा को लेकर अपनी शक्ति के विस्तार में तत्पर था। मुसलमानों से पूर्व यवन, शक, कुशाण, हूण आदि जिन जातियों ने भारत में प्रवेश किया था, वे किसी ऐसे जीवनपूर्ण धर्म की अनुयायी नहीं थीं, जो अपने को अन्य सब धर्मों की अपेक्षा उत्कृष्ट समझता हो। मुसलमान ईश्वर की सत्ता में विश्वास रखते थे, मूर्ति-पूजा से उन्हें घोर घृणा थी, मूर्तियों का भंजन करने में वे गौरव अनुभव करते थे। इस युग के मुसलमान धर्मों के समन्वय और सामञ्जस्य को जरा भी महत्त्व नहीं देते थे। जो मुसलमान नहीं है, वह काफिर है, और जो इस्लाम को स्वीकृत कर लेता है, वह हमारा अपना अंग है—यह भावना उनमें उत्कट रूप से विद्यमान थी। इस्लाम का उद्देश्य यह था, कि वह सम्पूर्ण विश्व को आत्मसात् कर ले। उसकी दृष्टि में सब मनुष्य एक बराबर थे, बशर्तें कि वे इस्लाम को स्वीकार कर लें। मुसलमान बन जाने के बाद ऊंच-नीच, छूत-अछूत और स्वामी-दास का भेदभाव नहीं रह जाता था। भारत के जाति-भेद-प्रधान हिन्दू-धर्म के मुकाबले में इस्लाम की यह बात बड़े महत्त्व की थी। इस देश के शूद्रों व अन्य नीच समझे जानेवाले लोगों के लिये अपनी स्थिति को ऊंचा बनाने का यह सुवर्णीय अवसर था। हिन्दू धर्म का परित्याग कर इस्लाम को स्वीकृत कर लेने मात्र से वे शूद्र या अछूत की हीन स्थिति से ऊंचा उठकर शासक-श्रेणि में सम्मिलित हो सकते थे। इस कारण मुसलमानों को भारत में अपने धर्म के प्रसार का अच्छा अवसर प्राप्त था। वे क्यों अपने धर्म को छोड़कर शैव, वैष्णव या बौद्ध-धर्म को अपनाते? इसमें सन्देह नहीं, कि इस युग के हिन्दू-धर्म में सामञ्जस्य व समन्वय की प्रवृत्ति विद्यमान थी। उनके लिये यह स्वाभाविक था, कि वे अरबों और तुर्कों के 'अल्लाह' को भी विष्णु व शिव का ही रूप मान लेते, और उसके रसूल मुहम्मद को भी कृष्ण व बुद्ध के समान ईश्वर का अन्यतम अवतार। 'अल्लोपनिषद्' की रचना इसी प्रवृत्ति का परिणाम था। पर इस्लाम का अल्लाह 'लाशरीक' था, और शिरकत को मुसलमान लोग बहुत बड़ा कुफ्र समझते थे। इस दशा में यह कैसे सम्भव था, कि विश्वभर को अपने दायरे में ले आने के लिये उत्सुक मुसलमान लोग हिन्दू-धर्म में अपने को विलीन

कर सकते। (२) जहां एक ओर इस्लाम में अपूर्व जीवनीशक्ति थी, वहां दूसरी ओर हिन्दू-धर्म में क्षीणता आ गई थी। वज्रयान, वाममार्ग आदि सम्प्रदायों के विकास के कारण भारत के धर्मों का स्वरूप इस प्रकार का हो गया था, कि उनमें लोकहित और मानव-कल्याण की भावना का अन्त होकर गुह्य सिद्धियों की प्राप्ति की उत्कण्ठा प्रबल हो गई थी। धर्म का सामूहिक प्रयोजन भी कुछ है, यह विचार इस युग के भारतीय धर्मों में बहुत क्षीण हो गया था। जाति-भेद के विकास के कारण इस देश का जनसमाज किस प्रकार छोटे-छोटे विभागों में विभक्त हो गया था, इस विषय पर हम पहले प्रकाश डाल चुके हैं। जब भारत के उच्च वर्ग के लोग अपने धर्म के अनुयायी निम्नवर्ग के लोगों से ही पृथक्त्व अनुभव करते थे, तो उनसे यह आशा कैसे की जा सकती थी, कि वे मुसलमानों को अपने समाज का अंग बना सकें। किसी समय भारत के धर्मों में भी पतित-पावनी शक्ति विद्यमान थी। भगवान् विष्णु के स्मरण व पूजा से शक, यवन, हूण आदि 'पापयोनि' जातियां प्राचीन समय में अपने को पवित्र कर सकती थीं। पर विष्णु की यह पावनी शक्ति इस युग के वैष्णवों की दृष्टि में लुप्त हो चुकी थी। धर्म के 'लोकहितकारक' क्रियात्मक रूप को आंखों से ओझल कर हिन्दू धर्म के नेता इस समय या तो गुह्य सिद्धियों की साधना में तत्पर थे, और या यथार्थ ज्ञान द्वारा मोक्ष प्राप्त करने व भक्ति द्वारा भगवान् को रिझाने में प्रयत्नशील थे। कुछ विचारकों ने इस समय शुद्धि द्वारा तुर्कों को आत्मसात् करने का प्रयत्न भी किया। पर इस प्रयत्न के पीछे वह प्रेरणा नहीं थी, जो विदेशी व विधर्मी लोगों को अपना अंग बना लेती है। मुसलमानों के रूप में जो नई 'व्रात्य' या 'पापयोनि' जातियां इस समय भारत में प्रविष्ट हुई थीं, उन्हें अपने में लीन कर सकने में हिन्दू-जाति असमर्थ रही।

जो बात धर्म के सम्बन्ध में हुई, वही भाषा और संस्कृति के क्षेत्र में भी हुई। जब तुर्कों ने शुरू में भारत पर आक्रमण किया, तो उन्हें यह आवश्यकता अनुभव हुई, कि वे अपने सिक्कों पर संस्कृत-भाषा का प्रयोग करें। वे यह आशा नहीं करते थे, कि किसी विदेशी भाषा के सहारे वे भारत में अपने शासन को चला सकेंगे। महमूद गजनवी के चांदी के सिक्कों पर यह लेख पाया जाता है—"अव्यक्त-मेकं मुहम्मद अवतार नृपति महमूद अयं टंको महमूदपुरे घटे हतो जिनायन-संवत" इसका अर्थ है "एक अव्यक्त (ला इला इल्लिल्लाह) मुहम्मद अवतार (मुहम्मद रसूल इल्लाह) राजा महमूद, यह टंका महमूदपुर की टकसाल में पीटकर बनाया गया, जिन (हजरत) के अयन (भागने—हिजरत) का संवत्।"

केवल महमूद ने ही नहीं, अपितु अफगान सुलतानों ने भी शुरू में अपने सिक्कों पर संस्कृत-भाषा का प्रयोग किया। ऐसे एक टंके पर 'स्री महमूद साम' नागरी अक्षरों में अंकित है, और साथ में बैठे हुए नन्दी की प्रतिमा है। अफगान-युग के एक अन्य टंके पर लक्ष्मी की मूर्ति के साथ 'श्रीमद् मीर महमद साम' शब्द अंकित है। पर मुसलिम शासकों की यह प्रवृत्ति देर तक कायम नहीं रही। शीघ्र ही उन्होंने अपने सिक्कों पर से या शासन-सम्बन्धी अन्य कार्यों से संस्कृत-भाषा व देवनागरी लिपि को दूर कर दिया। वे हिन्दुओं के साथ किसी प्रकार की एकता स्थापित कर सकने में असमर्थ रहे। उन्होंने पर्शियन भाषा और पर्शियन लिपि का भारत में उपयोग किया, और हिन्दुओं व मुसलमानों की दुनिया एक दूसरे से सर्वथा पृथक् होती गई। भारत के इतिहास में यह बात बहुत महत्त्व की है। इसी कारण जब बारहवीं सदी के अन्त में अफगान-आक्रांताओं ने भारत के अच्छे बड़े भाग को जीतकर अपने अधीन कर लिया, तो इस देश के लिये उनका शासन विदेशी शासन के सदृश था। दिल्ली के अफगान सुलतान अपने शासन के लिये या तो अपने सजातीय सरदारों और सैनिकों पर निर्भर करते थे, और या उन भारतीयों पर, जिन्होंने कि इस्लाम को स्वीकार कर लिया था। मुगल बादशाहत के समय न केवल अकबर और जहांगीर अपितु औरङ्गजेब तक की शक्ति का मुख्य आधार राजपूत सैनिक थे, जो हिन्दू-धर्म का दृढ़ता-पूर्वक अनुसरण करते थे। पर अफगान-युग में यह बात नहीं थी। इस काल में मुसलमानों की एक पृथक् श्रेणि थी, जो अपने धर्म भाषा और संस्कृति को दृढ़तापूर्वक पकड़े हुए थी, और जिसका इस देश की सर्वसाधारण जनता के साथ कोई विशेष सम्पर्क नहीं था। पर यह बात भी असम्भव थी, कि भारत में स्थिररूप से बस जाने के बाद भी तुर्कों और अफगानों पर इस देश की सभ्यता और संस्कृति का कोई असर न पड़ता, या इस्लाम के रूप में जो एक नया धर्म इस देश में प्रविष्ट हुआ था, वह भारत के जीवन और विचार-प्रवाह को प्रभावित किये बिना रह जाता। मुसलमानों और हिन्दुओं के इस सम्पर्क द्वारा क्या परिणाम उत्पन्न हुए, इस प्रश्न पर हम अगले अध्याय में विशदरूप से विचार करेंगे। पर पहले यह आवश्यक है, कि भारत में मुसलिम शासन के स्थिर रूप से स्थापित होने के सम्बन्ध में कुछ प्रकाश डाला जाय, क्योंकि अरबों और तुर्कों के आक्रमणों के बाद भी इस देश की राजशक्ति मुसलमानों के हाथ में नहीं चली गई थी। ग्यारहवीं और बारहवीं सदियों में भारत का बहुत बड़ा भाग मुसलिम आधिपत्य से मुक्त था, और इस देश की प्रधान राजशक्ति उन राजपूत राजवंशों के हाथों में थी, जो विविध प्रदेशों में

पूर्ण स्वतन्त्रता के साथ शासन करते हुए अपने-अपने उत्कर्ष के लिये प्रयत्नशील रहते थे।

(४) अफगान-सल्तनत की स्थापना

तुर्क-सुलतान महमूद ने गजनी को राजधानी बनाकर जिस विशाल व वैभवपूर्ण साम्राज्य की स्थापना की थी, उसे उसके निर्बल उत्तराधिकारी सुव्यवस्थित रूप से कायम रख सकने में असमर्थ रहे थे। गजनी के उत्तर में एक छोटा-सा राज्य था, जिसे गोर कहते थे। गोर का शासन अफगान सरदारों के हाथों में था, जो पहले गजनी के सुलतानों की अधीनता स्वीकृत करते थे। तुर्क-सुलतानों की निर्बलता से लाभ उठाकर ११५० ई० में गोरी के सरदार अलाउद्दीन ने अपने को स्वतन्त्र कर लिया, और अवसर पाकर गजनी को भी जीत लिया। गजनी का शासन करने के लिये उसने अपने भाई शहाबुद्दीन गोरी को नियत किया, जो आगे चलकर गजनी का स्वतन्त्र सुलतान बन गया। शहाबुद्दीन गोरी केवल गजनी के राजसिंहासन से ही संतुष्ट नही हुआ, उसने पहले उत्तर-पश्चिमी भारत से तुर्कों के शासन का अन्त किया, और फिर पंजाब से आगे बढ़कर दिल्ली और कन्नौज के चौहान और गहडवाल राजाओं के साथ युद्ध किये। अनेक युद्धों में परास्त होकर भी अन्त में वह दिल्ली और शाकम्भरी के चौहानराजा पृथिवीराज को परास्त करने में समर्थ हुआ (११९२ ई० प०), और दो साल बाद गहड्वाल राजा जयचन्द को हराकर कन्नौज के राज्य पर उसने अपना अधिकार कर लिया। यह प्रथम अवसर था, जब इस्लाम के अनुयायी विदेशी आक्रान्ता ठेट उत्तरी भारत को अपने आधिपत्य में लाने में समर्थ हुए थे। कन्नौज के राजा जयचन्द की पराजय से काशी तक के प्रदेश पर शहाबुद्दीन गोरी का अधिकार हो गया था, और भारत की राजशक्ति को अफगानों के सम्मुख बुरी तरह से नीचा देखना पड़ा था।

शहाबुद्दीन गोरी ने गोर और गजनी को छोड़कर स्वयं दिल्ली या कन्नौज को अपनी राजधानी बनाकर शासन करने का प्रयत्न नही किया। भारत के अपने 'विजित' का शासन करने के लिये उसने अपने अन्यतम सेनापति कुतुबुद्दीन ऐबक को नियत किया, जो १२०६ में शहाबुद्दीन गोरी की मृत्यु के बाद दिल्ली में स्वतन्त्र रूप से राज्य करने लगा। पर अफगानों की भारतविजय कन्नौज और काशी को अधिगत कर लेने के साथ ही समाप्त नही हो गई थी। ११९७ ईस्वी में अन्यतम अफगान सेनापति मुहम्मद बिन बख्त्यार खिलजी ने काशी

से आगे बढ़कर मगध और बंगाल पर आक्रमण किया, और इनके निर्बल राजा मुसलिम आक्रान्ताओं से अपने राज्यों की रक्षा कर सकने में असमर्थ रहे। मगध और बंगाल के समान बुन्देलखण्ड पर भी १२०३ में आक्रमण किया गया, और कालिञ्जर के सुदृढ़ दुर्ग को जीतकर इस प्रदेश को भी अफगान-सल्तनत में शामिल कर लिया गया।

१२०६ में जब कुतुबुद्दीन दिल्ली के राजसिंहासन पर आरूढ़ हुआ, तो प्रायः सम्पूर्ण उत्तरी भारत अफगानों के आधिपत्य में आ चुका था। १२०६ से १५२५ तक (जब कि बाबर ने अफगानों को परास्त कर मुगल बादशाहत की स्थापना की थी) तीन सदी से भी अधिक समय तक भारत में अफगानों का शासन रहा। इस काल में दिल्ली को राजधानी बनाकर अफगानों के अनेक राजवंशों ने भारत का शासन किया। यहां हमारे लिये यह सम्भव नहीं है, कि इन अफगान सुलतानों के शासन व कर्तृत्व का संक्षिप्त रूप से भी उल्लेख कर सकें। पर कुछ ऐसी बातें हैं, जिनका निर्देश करना इस युग के भारतीय इतिहास को भलीभांति समझने के लिये अनिवार्य है। यद्यपि अफगान-विजेता भारत के अच्छे बड़े भाग को अपनी अधीनता में ले आने में समर्थ हुए थे, पर इस देश में उनका शासन सुव्यवस्थित नहीं था। दिल्ली के राजसिंहासन पर कौन व्यक्ति आरूढ़ हो, यह बात उसकी अपनी वैयक्तिक शक्ति और अपने साथी सैनिक नेताओं को काबू में रख सकने की सामर्थ्य पर निर्भर रहती थी। यही कारण है, कि विविध सरदार सुलतान के विरुद्ध षड्यन्त्र और विद्रोह करने के लिये सदा तत्पर रहते थे, और अफगान सुलतानों की स्थिति सदा डांवाडोल रहती थी। फिर भी इस युग में अनेक ऐसे सुलतान हुए, जिन्होंने कि न केवल अपने राज्य पर दृढ़तापूर्वक शासन किया, अपितु दूर-दूर तक विजययात्रायें कर अपने साम्राज्य का विस्तार भी किया। इस प्रकार के प्रतापी अफगान सुलतानों में अलाउद्दीन खिलजी (१२९५-१३१६) सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। देवगिरि के यादवराज्य और अनहिलवाड़ा के चालुक्य-राज्य को युद्ध में परास्त कर अलाउद्दीन ने दक्षिण की ओर अपने आधिपत्य का विस्तार किया। यदि वह राजपूताना को भी जीत सकता, तो सम्पूर्ण उत्तरी भारत और दक्षिणापथ पर उसका सार्वभौम शासन स्थापित हो जाता। पर हम्मीर के नेतृत्व में राजपूताना के मेवाड़ आदि राज्यों ने अलाउद्दीन के विरुद्ध अद्भुत पराक्रम प्रदर्शित किया, और रणक्षेत्र में अनेक बार परास्त हो जाने पर भी मेवाड़ सदृश राजपूत-राज्य अपनी स्वतन्त्र सत्ता को कायम रखने में समर्थ रहे। राजपूतों के उच्छेद में असफल होकर अलाउद्दीन ने दक्षिणी भारत की

विजय का उपक्रम किया। मलिक काफूर नामक कुशल सेनापति के नेतृत्व में अफगान-सेनाओं ने दक्षिण में रामेश्वरम् तक विजययात्रा की, और दक्षिणी भारत में जो अनेक राजवंश स्वतन्त्रतापूर्वक शासन करते थे, उनको परास्त किया। संसार के इतिहास में अलाउद्दीन खिलजी को वही स्थान प्राप्त है, जो सिकन्दर व समुद्रगुप्त जैसे दिग्विजयी वीरों को है। दूर-दूर तक विजययात्रायें कर उसने अपनी सल्तनत का उत्कर्ष किया, पर इन विजयों के परिणामस्वरूप वह किसी स्थायी साम्राज्य की नींव नहीं डाल सका। उसकी मृत्यु से पहले ही साम्राज्य में सर्वत्र विद्रोह शुरू हो गये। न केवल परास्त हुए हिन्दू-राजवंशों ने ही अपनी स्वतन्त्रता की स्थापना के लिये प्रयत्न प्रारम्भ किया, अपितु अनेक प्रान्तीय अफगान शासकों ने भी दिल्ली के सुलतान के विरुद्ध विद्रोह कर दिया। अलाउद्दीन के उत्तराधिकारी निर्बल थे, वे साम्राज्य की एकता को कायम रखने में असमर्थ रहे, और भारत में फिर अनेक स्वतन्त्र राज्य स्थापित हो गये।

चौदहवीं सदी के सुलतानों में मुहम्मद तुगलक (१३२५–१३५१) और फीरोज तुगलक (१३५१–१३८८) के नाम उल्लेखनीय हैं। इन्होंने दिल्ली की सल्तनत की शक्ति को पुनः स्थापित करने के लिये अनेक प्रयत्न किये। आंशिक रूप से सफल होने पर भी ये अफगान-साम्राज्य की एकता को कायम नहीं रख सके। भारत की पुरानी राजशक्तियों ने अफगान-सुलतानों की निर्बलता से लाभ उठाकर एक बार फिर सिर उठाया, और राजपूताना में अनेक राजपूत-राज्य प्रबल हो गये। इनमें मेवाड़ के राणाओं ने बहुत उन्नति की, और जब सोलहवीं सदी के प्रारम्भ में मुगल-आक्रान्ता बाबर ने भारत पर आक्रमण किया, तो उत्तरी भारत की प्रधान राजशक्ति दिल्ली के सुलतान न होकर मेवाड़ के राणा थे। सुदूर दक्षिण में विजयनगर के राज्य के रूप में हिन्दू राजशक्ति का पुनरुद्धार हुआ (१३३८ ई०), और अफगान शासक इसकी स्वतन्त्र सत्ता का नष्ट कर सकने में सदा असमर्थ रहे। इस युग के राजनीतिक इतिहास में यह बात बहुत महत्त्व की है, कि मुहम्मद तुगलक के शासनकाल में हिन्दू राजशक्ति की बड़े प्रबल रूप से पुनः स्थापना हुई थी। बाद के अफगान-सुलतान हिन्दू-राजवंशों को अपना वशवर्ती बनाने में सर्वथा असमर्थ रहे। जिन प्रदेशों में प्राचीन हिन्दू-राजवंशों का शासन कायम नहीं हुआ, वे सब भी चौदहवीं सदी के द्वितीय चरण में दिल्ली की अधीनता में नहीं रह गये। बंगाल, जौनपुर, गुजरात और मालवा में इस समय नये मुसलिम राजवंशों की स्थापना हुई, जो न केवल दिल्ली के सुलतानों के आधिपत्य को स्वीकृत नहीं करते थे, अपितु उसके विरुद्ध संघर्ष में भी तत्पर रहते

थे। मुहम्मद तुगलक के समय में दिल्ली की सल्तनत खण्ड-खण्ड हो गई थी, और उसके भग्नावशेषों पर जहां अनेक स्वतन्त्र हिन्दू-राज्य कायम हो गये थे, वहां साथ ही अनेक प्रान्तीय अफगान शासकों ने भी अपने को पूर्ण रूपसे स्वतन्त्र कर लिया था।

भारतीय इतिहास का अफगान-युग १२१० से १५२५ ईस्वी तक है। इस युग को दो भागों में विभक्त किया जा सकता है। पहला भाग १२१० से १३५० तक समझा जा सकता है, जब कि दिल्ली के सुलतान भारत के विविध प्रदेशों की विजय में तत्पर रहे। इस युग के सुलतानों की यह आकांक्षा थी, कि वे दूर-दूर तक विजययात्रायें कर अपने साम्राज्य का विस्तार करें, और विजित नगरों को लूट कर अपने राज्यकोश को पूर्ण करें। इसमें सन्देह नही, कि अपने इस उद्देश्य में अफगान-सुलतानों को पर्याप्त सफलता हुई थी। देवगिरि, वारंगल आदि से लूटे हुए धन से दिल्ली का राजकोश परिपूर्ण हो गया था, और सुलतान व उनके दरबारी इस धन को भोग-विलास में स्वेच्छापूर्वक उड़ा सकते थे। कुतुबुद्दीन मुबारक (१३१६) जैसा सुलतान जनाने कपड़े पहनकर नर्तकों, वादकों और विदूषकों के साथ बाजार में घूमता फिरता था, और अपने अमीरों व सरदारों के साथ मौज-बहार में मस्त रहता था। मुहम्मद तुगलक की प्रवृत्ति विषय-वासना की ओर नहीं थी, पर पागलपन के आवेश में आकर उसने अनेक ऐसे कार्य किये, जिनसे दिल्ली के राज्यकोश का बहुत सा धन बरबाद हो गया।

१३५० ईस्वी के लगभग अफगान-युग के द्वितीय भाग का प्रारम्भ हुआ, जब कि दिल्ली की सल्तनत के अनेक प्रान्तीय शासकों ने विद्रोह कर अपने स्वतन्त्र राज्यों की स्थापना कर ली। ये राज्य निम्नलिखित थे—(१) बंगाल—मुहम्मद तुगलक के समय में बंगाल के सूबेदार फखरुद्दीन ने विद्रोह कर दिया, और दिल्ली के आधिपत्य का अन्त कर अपने स्वतन्त्र राज्य की स्थापना कर ली। फीरोजशाह तुगलक ने बंगाल को फिर से अपने अधीन करने का प्रयत्न किया, पर उसे सफलता नहीं हुई। (२) जौनपुर—इस राज्य की स्थापना फीरोज तुगलक के समय में हुई थी, और पन्द्रहवीं सदी में इसके स्वतन्त्र सुलतानों ने अपनी शक्ति का अच्छा विस्तार कर लिया था। जौनपुर के राज्य का महत्त्व राजनीतिक दृष्टि से उतना नही है, जितना कि सांस्कृतिक दृष्टि से है। (३) मालवा—अलाउद्दीन खिलजी के बाद मालवा का शासन दिल्ली की ओर से नियुक्त अफगान सूबेदारों के हाथों में रहा, जो कि पन्द्रहवीं सदी के आरम्भ (१४०१) में स्वतन्त्र हो गये। मालवा के इन स्वतन्त्र सुलतानों ने माण्डू

को अपनी राजधानी बनाया। (४) गुजरात—मालवा के समान गुजरात के अफगान सूबेदार भी १४०१ में स्वतन्त्र हो गये, और अहमदाबाद को राजधानी बनाकर उन्होंने स्वतन्त्रतापूर्वक शासन शुरू किया। (५) बहमनी राज्य—दक्षिण के जिन हिन्दू-राजवंशो को परास्त कर अलाउद्दीन ने अपने अधीन किया था, उनके प्रदेश देर तक दिल्ली की सल्तनत के अन्तर्गत नही रह सके। १३४७ में हसन गंगू नाम के एक वीर सैनिक ने वहां अपना स्वतन्त्र राज्य स्थापित कर लिया, जो बहमनी राज्य के नाम से प्रसिद्ध हुआ। हसन गंगू मुहम्मद तुगलक की सेवा में था, और उसी की ओर से दक्षिण मे शासन करने के लिये नियुक्त हुआ था। बहमनी राज्य की राजधानी दौलताबाद थी, जो पुराने देवगिरि का स्थानापन्न थी।

पन्द्रहवी सदी के शुरू में भारत की राजशक्ति का जो स्वरूप विकसित हो गया था, उसे सक्षेप मे इस प्रकार सूचित किया जा सकता है, कि दिल्ली के अफगान सुलतानो की शक्ति बहुत क्षीण हो गई थी, जिनकी स्थिति बहमनी राज्य, गुजरात व मालवा के मुसलिम शासको के मुकाबले मे बहुत कम थी। दिल्ली के सुलतानों की अपेक्षा बगाल, जौनपुर, माण्डू, अहमदाबाद और दौलताबाद के सुलतान अधिक शक्तिशाली और वैभवपूर्ण थे। इन विविध मुसलिम राजशक्तियों के अतिरिक्त सुदूर दक्षिण के विजयनगर-राज्य और राजपूताना के विविध राजपूत-राज्यों का इस युग में निरन्तर उत्कर्ष हो रहा था, और मेवाड़ के राणा उत्तरी भारत के किसी भी मुसलिम सुलतान की अपेक्षा अधिक शक्तिशाली थे। गुजरात और मालवा के मुसलिम सुलतानों के साथ निरन्तर संघर्ष करके मेवाड़ के रानाओं ने अपनी शक्ति को बहुत बढ़ा लिया था।

सोलहवी सदी के पूर्वार्ध में मुगलों ने भारत में अपने विशाल साम्राज्य की स्थापना की। मुगलो के साथ भारत के इतिहास में एक नये युग का प्रारम्भ हुआ, जिसपर हम यथास्थान प्रकाश डालेंगे।

(५) विजयनगर साम्राज्य की स्थापना

चौदहवी सदी के शुरू में जब अलाउद्दीन खिलजी के सेनापति मलिक काफूर ने सुदूर दक्षिण के विविध राज्यों को परास्त कर अपने अधीन किया, तो इस प्रदेश में बहुत अव्यवस्था मच गई। हरिहर और बुक्क नामक दो वीर पुरुषों ने इस परिस्थिति से लाभ उठाया, और विद्यारण्य नामक विद्वान् आचार्य की सहायता से दक्षिणी भारत को मुसलिम आधिपत्य से मुक्त किया। दिल्ली के सुलतानों

के लिये यह सुगम नहीं था, कि सुदूर दक्षिण पर अपने शासन को स्थायी रूप से कायम रख सकें। इसलिये १३३६ ईस्वी में हरिहर और बुक्क ने वहां अपने स्वतन्त्र राज्य की नींव डाली, जो कुछ समय बाद ही दक्षिण में कुमारी अन्तरीप से उत्तर में कृष्णा नदी तक विस्तृत हो गया। भारत के मध्यकालीन इतिहास में विजयनगर राज्य का बहुत अधिक महत्त्व है। इसकी स्थापना के कारण सुदूर दक्षिण के प्रदेश अफगानों के शासन और मुसलिम संस्कृति के प्रभाव से बचे रहे, और इस क्षेत्र में विशुद्ध हिन्दू-संस्कृति का विकास जारी रहा।

विजयनगर के राजा केवल सुदूर दक्षिण की मुसलिम आधिपत्य से रक्षा करने में ही समर्थ नहीं हुए, अपितु उन्होंने उत्तर के मुसलिम सुलतानों को अनेक बार युद्धों में परास्त भी किया। कृष्णदेव राय (१५०९-१५५०) ने उत्तर-पूर्व की ओर विजययात्रा कर कटक और उड़ीसा की विजय की, और बीजापुर के आदिलशाह को रणक्षेत्र में पराजित किया। बहमनी सलतनत की शक्ति क्षीण होने पर उसके प्रदेशों में पांच शक्तियों की स्थापना (पन्द्रहवीं सदी के अन्तिम भाग में) हो गई थी, जिनमें बीजापुर की आदिलशाही अन्यतम थी। उसे परास्त करने में समर्थ होने के कारण विजयनगर की शक्ति बहुत बढ गई थी, और वह भारत की एक प्रमुख राजशक्ति बन गया था। भारतीय इतिहास में विजयनगर के राजा कृष्णदेवराय की वही स्थिति है, जो मध्ययुग के हर्षवर्धन, मिहिरभोज व राजराज प्रथम आदि की है।

कृष्णदेवराय सदृश प्रतापी राजाओं के शासनकाल में विजयनगर ने सभ्यता धर्म और संस्कृति के क्षेत्र में जो असाधारण उन्नति की, उसपर हम यथास्थान प्रकाश डालेंगे। यहां केवल इतना निर्देश कर देना पर्याप्त है, कि चौदहवीं, पन्द्रहवीं और सोलहवी सदियों में दक्षिणी भारत का बड़ा भाग मुसलिम आधिपत्य व प्रभाव से सर्वथा मुक्त था, और वहां एक ऐसे राजवंश का शासन था, जिसने प्राचीन हिन्दू-राजाओं की परम्परा को अक्षुण्ण रूप से कायम रखा हुआ था।

सोलहवीं सदी के उत्तरार्ध में विजयनगरराज्य की शक्ति क्षीण होनी शुरू हुई। बहमनी-राज्य के ध्वंसावशेषों पर स्थापित हुई शाहियों ने परस्पर मिलकर विजयनगर की शक्ति का मुकाबला किया, और १५६५ में तालीकोट के युद्ध में रामराय को परास्त किया। पर इससे विजयनगर-राज्य की स्वतन्त्र सत्ता का अन्त नहीं हो गया। तालीकोट के युद्ध में परास्त हो जाने के बाद इस राज्य के हिन्दू-राजाओं ने उत्तर के मुसलिम राज्यों पर आक्रमण करने का प्रयत्न नहीं किया, पर अपने क्षेत्र में वे स्वतन्त्रतापूर्वक शासन करते रहे। मुगल-बादशाह

श्रौरङ्गजब के समय [illegible] एक बार फिर [illegible] राजशक्ति ने सुदूर दक्षिण को श्रपने प्रभाव मे लाने का प्र[illegible] पर तब तक मुगलों की शक्ति में क्षीणता के चिह्न प्रगट होने लग गये थे, श्रौर श्रौरङ्गजेब के लिये श्रपने सुविस्तृत साम्राज्य को संभाल सकना भी कठिन हो गया था। यही कारण है, कि प्रतापी मुगल-बादशाह भी सुदूर दक्षिण के हिन्दू-शासन का कभी श्रविकल रूप से श्रन्त नहीं कर सके। सतरहवीं सदी में विजयनगर-राज्य की केन्द्रीय शक्ति निर्बल हो गई थी, श्रौर उसके श्रनेक प्रान्तीय शासकों ने श्रपने-श्रपने क्षेत्र में स्वतन्त्र रूप से शासन करना प्रारम्भ कर दिया था। विजयनगर के भग्नावशेषों पर स्थापित हुए ये विविध हिन्दू-राज्य ब्रिटिश युग तक कायम रहे।

(६) राजपूताना

भारत में मुसलिम शासन के विस्तार का प्रधान श्रेय श्रलाउद्दीन खिलजी (१२६५–१३१६) को प्राप्त है। राजपूताने के श्रनेक छोटे-बड़े राजपूत-राज्यों को उसने युद्ध में परास्त किया, श्रौर कुछ समय के लिये उनके दुर्गम दुर्गों को भी श्रपने श्रधिकार में कर लिया। छ: मास के घेरे के बाद १३०३ ई० में जब श्रला-उद्दीन की सेनाश्रों ने चित्तौड़ को भी जीत लिया, तो ऐसा प्रतीत होता था, कि राजपूताना की स्वतन्त्रता भी खतरे में पड़ गई है, श्रौर वीर राजपूतों की यह भूमि भी श्रब श्रफगान-साम्राज्य के श्रन्तर्गत हो जायगी। पर श्रपने श्रभेद्य दुर्गों पर श्रफगान सेनाश्रो का कब्जा हो जाने के बाद भी राजपूतों ने स्वतन्त्रता के लिये संघर्ष को जारी रखा, श्रौर सीसोदिया-वंश के राजपूतों ने इसमें विशेष कर्तृत्व प्रदर्शित किया। श्रलाउद्दीन खिलजी की मृत्यु के बाद जब दिल्ली की सल्तनत निर्बल होने लगी, तो मेवाड़ के महाराना हम्मीर के नेतृत्व मे राजपूतों ने श्रपनी स्वाधीनता के लिये घोर संघर्ष शुरू किया, श्रौर १३२५ में चित्तौड़ को भी श्रपने श्रधिकार में ले लिया। मुहम्मद तुगलक के शासनकाल में राजपूतों को श्रपने उत्कर्ष का सुवर्णावसर हाथ लगा, श्रौर विविध राजपूत-राजवंश राजपूताना के विविध प्रदेशों पर स्वतन्त्रता के साथ शासन करने लगे। ये विविध राजवंश मेवाड़ के महाराना को श्रपना नेता श्रौर श्रधिपति मानते थे। यद्यपि उनकी स्थिति सामन्तों की श्रपेक्षा श्रधिक ऊंची थी, पर इसमें सन्देह नहीं, कि वे मेवाड़ को श्रपने श्रग्रणी व संरक्षक श्रवश्य समझते थे। भारत में मुसलमान श्राक्रान्ताश्रों का श्राधि-पत्य स्थापित हो जाने के कारण जो बहुत से प्राचीन हिन्दू-राजवंश इस समय उच्छिन्न हो गये थे, उनके बहुत-से वीर पुरुष भी इस समय मेवाड़ के झंडे के नीचे

एकत्र होने लगे, और इसके कारण मेवाड़ की शक्ति और भी अधिक बढ़ गई। इस प्रकार मेवाड़ के नेतृत्व में भारत की पुरानी राजशक्तियों ने अपने को पुनः संगठित किया, और उत्तर में दिल्ली, दक्षिण में गुजरात और पश्चिम में मालवा के सुलतानों के साथ संघर्ष शुरू किया। इस संघर्ष का वृत्तान्त इस इतिहास में दे सकना सम्भव नहीं है। यहां केवल इतना लिखना पर्याप्त होगा, कि जब सोलहवीं सदी के शुरू में राणा सांगा मेवाड़ के राजसिंहासन पर आरूढ़ हुआ, तो यह संघर्ष बहुत कुछ सफल हो चुका था। सांगा की प्रतिभा और पराक्रम ने राजपूतों में नई स्फूर्ति का संचार किया, और उन्होंने दिल्ली के लोदी सुलतानों से बयाना, धौलपुर और ग्वालियर के प्रदेशों को जीतकर अपने आधिपत्य के क्षेत्र को आगरा के समीप पीलियाखाल तक विस्तृत कर दिया। इसी प्रकार मालवा और गुजरात की मुसलिम सल्तनतों की सम्मिलित शक्ति को रणक्षेत्र में परास्त कर राणा सांगा ने सम्पूर्ण उत्तरी मालवा और चन्देरी पर अधिकार कर लिया। इसके बाद सांगा ने गुजरात पर भी चढ़ाई की, और ईडर, अहमदनगर, बड़गांव तक का प्रदेश गुजरात के सुलतानों से छीन लिया। राणा सांगा की शक्ति इस समय (सोलहवीं सदी का प्रथम चरण) उत्तरी भारत में सर्वप्रधान थी, और शहाबुद्दीन गोरी व अलाउद्दीन खिलजी जैसे मुसलिम विजेताओं द्वारा स्थापित विशाल साम्राज्य उसके सम्मुख सर्वथा निष्प्रभ हो गया था।

अफगान-युग के राजनीतिक इतिहास का यह संक्षिप्त दिग्दर्शन यह समझने के लिये आवश्यक है, कि इस युग की सभ्यता और संस्कृति का भलीभांति परिचय प्राप्त करने के लिये हमें केवल मुसलिम शासकों की कृति पर ही ध्यान नहीं देना चाहिये, अपितु इस युग के हिन्दू-राजवंशों के कार्य को भी दृष्टि में रखना चाहिये, क्योंकि साम्राज्यविस्तार की प्रक्रिया में पर्याप्त रूप से सफल हो जाने पर भी अफगान व अन्य मुसलिम लोग इस काल की एकमात्र राजशक्ति नहीं बन गये थे।

सहायक ग्रन्थ

Panikkar : A Survey of Indian History.

Ishwari Prasad : A Short History of Muslim Rule in India.

Sewell : A Forgotten Empire.

गौरीशंकर हीराचन्द्र ओझा : राजपूताना का इतिहास

पृथ्वीसिंह मेहता : हमारा राजस्थान

पच्चीसवां अध्याय

अफ़गान-युग का भारत

(१) शासन-व्यवस्था

तुर्क-अफगान-युग—१२१० से १५२५ ई० तक के काल को हमने भारतीय इतिहास का 'अफगान युग' कहा है। पर इससे यह नहीं समझना चाहिये, कि शहाबुद्दीन गोरी की जिन सेनाओं ने भारत पर आक्रमण कर उसके अच्छे बड़े भाग को अपने अधीन किया था, उसके सब सैनिक अफगान-जाति के थे। शहाबुद्दीन गोरी के दिल्ली पर अधिकार कर लेने के बाद जिन विविध सुलतानों ने इस देश का शासन किया, वे सब भी जातीय दृष्टि से अफगान नहीं थे। अफगानिस्तान के क्षेत्र में तुर्कों का आधिपत्य स्थापित हो जाने के कारण वहां तुर्क अच्छी बड़ी संख्या में आबाद हो गये थे, और जिन मुसलिम सेनाओं ने बारहवीं सदी के प्रारम्भ में भारत में अपना शासन कायम किया था, उनम तुर्क सैनिक व सरदार भी अच्छी बड़ी संख्या में थे। इस दृष्टि से इस युग की मुसलिम राजशक्ति को 'तुर्क-अफगान' कहना अधिक उपयुक्त होगा। तुर्कों और अफगानों के अतिरिक्त बहुत-से भारतीय लोग भी इस युग की मुसलिम शासन-श्रेणि के अंग बन गये थे, क्योंकि उन्होंने इस्लाम को स्वीकार कर लिया था। प्रारम्भ से ही इस्लाम में विदेशी व विधर्मी लोगों को आत्मसात् करने की अनुपम क्षमता थी। भारत की पुरानी शासक व सैनिक श्रेणि के कुछ लोगों ने भी मुसलिम आक्रान्ताओं के सम्पर्क में आकर इस्लाम की दीक्षा ले ली थी। अलाउद्दीन खिलजी का प्रसिद्ध सेनापति मलिक काफूर तुर्क व अफगान न होकर विशुद्ध भारतीय था, जिसने इस्लाम को अंगीकार कर लिया था। गुजरात में स्वतन्त्र मुसलिम सल्तनत को स्थापित करनेवाला राजवंश प्राचीन तक्षक क्षत्रिय जाति का था, जिसके प्रधान पुरुषों ने फीरोज तुगलक के समय में इस्लाम को अपना लिया था। बहमनी राज्य का संस्थापक हसन गंगू भी भारतीय था, जो पहले एक ब्राह्मणकुल की सेवा में नियुक्त

था। यदि इस दृष्टि से देखा जाय, तो इस युग की मुसलिम-शासक-श्रेणि केवल तुर्कों और अफगानों तक ही सीमित नहीं थी, मुसलिम धर्म को अपनानेवाले बहुत-से भारतीय भी उसके अंग बन गये थे।

राजसत्ता का स्वरूप—इस युग के मुसलिम सुलतान पूर्णतया निरंकुश व स्वेच्छाचारी थे। उनकी शक्ति को मर्यादित करनेवाली कोई भी संस्थायें व सभायें इस युग में विद्यमान नहीं थीं। सुलतान की इच्छा ही कानून मानी जाती थी, और न्यायसम्बन्धी बातों में भी उसका निर्णय सर्वोपरि होता था। इस्लाम का प्रादुर्भाव अरब में हुआ था, और वहां की राजसत्ता को 'सम्प्रदायतन्त्र' (Theocracy) कहा जा सकता है। हजरत मुहम्मद के उत्तराधिकारी जहां अरब साम्राज्य के अधिपति थे, वहां साथ ही इस्लाम के प्रधान धर्माधिकारी भी थे। सम्राट् और पोप दोनों के पद अरब के खलीफाओं में मिलकर एक हो गये थे। अरब-साम्राज्य के पतन के बाद जब विभिन्न स्वतन्त्र मुसलिम राज्यों की स्थापना हुई, तो उनके शासक यद्यपि राजनीतिक दृष्टि से अपने राज्य में स्वतन्त्र थे, पर धार्मिक दृष्टि से वे खलीफा की सर्वोच्च सत्ता को स्वीकार करते थे। भारत में जब अरबों (आठवीं सदी में) और तुर्कों (दसवीं सदी) ने अपने राज्य कायम किये, तो उनके राजा खलीफा के धार्मिक प्रभुत्व को मानते थे। सम्पूर्ण मुसलिम संसार एक है, और उसका अधिपति खलीफा है, यह विचार मुसलिम जगत् में बहुत प्रबल था। पर अफगान-युग के मुसलिम सुलतानों ने इस विचार के विपरीत आचरण किया, और अपवादस्वरूप कतिपय सुलतानों के अतिरिक्त अन्य सबने अपने नाम से खुतबा पढ़वाया। मुसलिम लोग नमाज के समय जहां अल्लाह और रसूल का स्मरण करते थे, वहां साथ ही खलीफा के प्रति भी अपनी भक्ति प्रकट करते थे। खुतबा में खलीफा का स्मरण इस भक्ति का प्रमाण माना जाता था। खलीफा के स्थान पर अपने नाम से खुतबा पढ़वाकर दिल्ली के मुसलिम सुलतानों ने अपनी शक्ति व सत्ता का सर्वोच्च रूप प्रगट किया था। जिन सुलतानों ने खुतबे में खलीफा को स्थान दिया, उनमें अल्तमश, अलाउद्दीन खिलजी और मुहम्मद तुगलक के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। ये सुलतान बहुत शक्तिशाली थे, और भारत के बाहर के मुसलिम जगत् के साथ इनका घनिष्ठ सम्बन्ध था। अन्य देशों के मुसलमानों की दृष्टि में ऊंचा उठने के लिये ही शायद उन्होंने इस नीति को अपनाया था। पर इन सुलतानों में भी यह भाव विद्यमान था, कि राज्य में उनकी शक्ति सर्वोपरि है, और वे अल्लाह की इच्छा के अनुसार ही अपनी सल्तनत का शासन करने के लिये नियुक्त हुए हैं। मुहम्मद तुगलक की अनेक

उपाधियों में एक 'सुलतान-जिलाह्-उल्लाह' भी थी, जिसका अर्थ है, भगवान् की साया या प्रतिमूर्ति। निःसन्देह, इस युग के सुलतान अपने को पृथिवी पर ईश्वर का प्रतिनिधि मानते थे, और ईश्वर के समान ही अपनी शक्ति पर किसी अन्य का अंकुश स्वीकार करने के लिये उद्यत नहीं थे।

सुल्तानों पर अंकुश—पर अफगान-युग के मुसलिम सुलतान अविकल रूप से स्वेच्छाधारी व निरंकुश नहीं थे। उनकी शक्ति को मर्यादित करनेवाले तत्त्व निम्नलिखित थे—(१) उनकी शक्ति का मुख्य आधार सैनिक श्रेणि थी। अतः सैनिक नेताओं की इच्छा की वे पूर्णतया उपेक्षा नहीं कर सकते थे। भारत में अफगान-सुलतानों का शासन कभी व्यवस्थित नहीं हुआ, क्योंकि पुराने युग की हिन्दू-राजशक्ति सदा उनके विरुद्ध विद्रोह कर स्वतन्त्र होने के लिये उद्यत रहती थी। थोड़े-से मुसलिम विजेताओं को इस देश की ऐसी बहुसंख्यक जनता पर शासन करना था, जिसमें अभी वीरता और स्वातंत्र्य-भावना का सर्वथा लोप नहीं हो गया था। इस भारतीय जनता को सैनिक शक्ति द्वारा ही अपने वश में रखा जा सकता था। अतः दिल्ली की सल्तनत में सैनिकों और उनके नेताओं का बहुत महत्त्व था। सुलतान इनकी सम्मति की उपेक्षा करके अपनी सत्ता को कायम नहीं रख सकता था। (२) दिल्ली के सुलतान उलमा लोगों के प्रभाव में थे, और इस्लाम के कानून के अनुसार ही शासन करने का प्रयत्न करते थे। अफगान आक्रान्ताओं ने एक ऐसे देश को जीतकर अपने साम्राज्य की स्थापना की थी, जिसकी जनता इस्लाम की दृष्टि में काफिर या विधर्मी थी। थोड़े-से मुसलमान बहुसंख्यक हिन्दू लोगों पर शासन करते थे। अपने सैनिकों में उत्साह का संचार करने और उन्हें अफगान सल्तनत की रक्षा के लिये अपने जीवन की बलि दे देने की प्रेरणा का सर्वोत्तम उपाय यह था, कि उनमें यह विचार कूट-कूटकर भर दिया जाय, कि दिल्ली की सल्तनत इस्लामी राज्य है, जिसका नेतृत्व उलमाओं के हाथों में है, और जिसका उद्देश्य इस्लाम का उत्कर्ष है। यही कारण है, कि अफगान-युग के मुसलिम शासक उलमाओं का आदर करते थे, उनके आदेशों का पालन करते थे, और इस्लाम के कानून को सर्वोपरि मानते थे। उलमा लोग मुसलिम सैनिकों को बताते थे, कि काफिरों का विनाश उनका परम कर्तव्य है। यदि इस पुण्य कार्य में उनकी मृत्यु हो जाय, तो इससे उन्हें बहिश्त मिलेगा। उलेमाओं के प्रभाव में रहना अफगान सुलतानों के लिये एक अनिवार्य आवश्यकता थी। इसीलिये प्रायः सभी अफगान सुलतानों ने उलमाओं का अनुसरण किया, और उन द्वारा प्रतिपादित शरायत कानून के अनसार राज्य के शासन का प्रयत्न किया।

अलाउद्दीन खिलजी जैसे प्रतापी सुलतान ने राज्यविषयक मामलों में उलमाओं के हस्तक्षेप और प्रभाव को अनुचित समझा। उसका कथन था, कि राज्य में सुलतान की इच्छा ही सर्वोपरि होनी चाहिये। एक बार उसने काजी मुघिसुद्दीन से प्रश्न किया, कि देवगिरि की लूट में जो अपार सम्पत्ति मैंने अधिगत की थी, शरायत के अनुसार वह मेरी वैयक्तिक सम्पत्ति है या वह राजकोश में जानी चाहिये। काजी का उत्तर यह था, कि यह सम्पत्ति सुलतान ने सैनिकों की सहायता से प्राप्त की है, अकेले नहीं; अतः इसपर सुलतान का वैयक्तिक स्वत्व नहीं हो सकता। इस उत्तर से अलाउद्दीन बहुत क्रुद्ध हुआ, पर काजी मघिसुद्दीन ने बिना किसी भय के शरायत के कानून का प्रतिपादन किया। यद्यपि अलाउद्दीन काजी के विचार से सहमत नही हुआ, पर उसने उसकी उपेक्षा करने का साहस नहीं किया। अपने व्यवहार में वह पूर्णतया स्वेच्छाचारी था, और उसने अपनी समझ के अनुसार जो कुछ उचित समझा, वही किया। पर उलमा व काजी लोगों का प्रत्यक्ष विरोध करने की शक्ति अलाउद्दीन जैसे उद्दण्ड सुलतान में भी नहीं थी। उलमाओं का विरोध करने में मुहम्मद तुगलक ने अधिक साहस से काम लिया। उसने न्याय के सम्बन्ध में काजियों द्वारा दी गई व्यवस्थाओं की उपेक्षा की, और अनेक ऐसे आदेश दिये, जो उलमाओं की दृष्टि में शरायत के विरुद्ध थे। परिणाम यह हुआ, कि उलमाओं ने उसके खिलाफ साजिश की, और उसे अपनी योजनाओं में सफल नहीं होने दिया। सैनिक नेताओं की वशवर्तिता और उलमाओं का प्रभाव—ये दो ऐसी शक्तियां थीं, जो अफगान-सुलतानों की स्वेच्छाचारिता पर अंकुश का कार्य करती थीं।

उत्तराधिकार—अफगान-युग की राजसत्ता के स्वरूप को भलीभांति समझने के लिये यह भी ध्यान में रखना चाहिये, कि दिल्ली के सुलतानों में उत्तराधिकार का कोई स्पष्ट नियम नहीं था। सुलतान की मृत्यु के बाद कौन व्यक्ति दिल्ली की राजगद्दी पर आरूढ़ हो, इसका निश्चय निम्नलिखित बातों को सम्मुख रखकर किया जाता था—(क) मृत सुलतान ने किस व्यक्ति को अपना उत्तराधिकारी नियत किया था। (ख) उसका ज्येष्ठ पुत्र कौन है। (ग) उसके पुत्रों व कुटुम्ब के अन्य मनुष्यों में कौन सबसे अधिक योग्य है। पर इन दृष्टियों को सम्मुख रखकर नये सुलतान का निर्णय उन सैनिक नेताओं व अमीर-उमराओं के हाथों में होता था, जिनकी सत्ता सल्तनत में सर्वप्रधान थी। इसी कारण कोई ऐसा व्यक्ति सुलतान-पद को प्राप्त नहीं कर सकता था, जिसे शक्तिशाली सैनिक नेताओं व अमीर-उमराओं का सहयोग व समर्थन प्राप्त न हो। इसीलिये सल्तनत

के उत्तराधिकार के सम्बन्ध में प्रायः झगड़े होते रहते थे, और जो व्यक्ति इस संघर्ष में सफलता प्राप्त कर राजसिंहासन पर आरूढ़ होता था, वह अपने सहायक व पक्षपाती सैनिक नेताओं की उपेक्षा कर पूर्ण रूप से निरंकुश हो जाने में असमर्थ रहता था ।

राजकर्मचारी वर्ग—अपने सुविस्तृत साम्राज्य पर शासन करने के लिये दिल्ली के सुलतानों ने जिस कर्मचारी वर्ग का संगठन किया था, उसपर भी संक्षिप्त रूप से प्रकाश डालना उपयोगी है । राज्य के सर्वोच्च अधिकारी को 'वजीर' कहते थे । शासन के सब विभागों पर इस वजीर का नियन्त्रण होता था । शासन के मुख्य विभाग निम्नलिखित थे—(१) दीवाने-अर्ज या अपीलों का विभाग । (२) दीवाने-रिसालत या सैन्य विभाग । (३) दीवाने-इन्शा या पत्र-व्यवहार विभाग । (४) दीवाने-बन्दगान या गुलामों का विभाग । (५) दीवाने-कजाए-ममालिक या न्याय-विभाग । (६) दीवाने-अमीरकोही या कृषि-विभाग । (७) दीवाने-मुस्तख़राज या राजकीय आय को वसूल करनेवाला विभाग । (८) दीवाने-खैरात या धर्मार्थ व्यय करनेवाला विभाग । (९) दीवाने-इस्तिकाक या पैंशन विभाग । इन नौ विभागों के अतिरिक्त गुप्तचर, डाक और टकसाल के भी पृथक् विभाग थे, जिन सबकी व्यवस्था के लिये विविध राजकर्मचारियों की नियुक्ति की जाती थी । इन विविध विभागों के अधिकारी राज्य में बहुत ऊंचा स्थान रखते थे, और एक वजीर को छोड़कर अन्य सब राजकर्मचारियों के मुकाबले में उनकी स्थिति ऊंची मानी जाती थी । इनके अतिरिक्त राज्य के अन्य प्रमुख कर्मचारी व पदाधिकारी निम्नलिखित होतें थे—(१) मुस्तौफी-ए-ममालीक या आडिटर जनरल, जिसका कार्य राजकीय व्यय को नियन्त्रित रखना होता था । (२) मुश्रिफे-ममालीक, जिसका कार्य राजकीय आय का हिसाब रखना व उसे वसूल करने की सुव्यवस्था करना होता था । (३) खजाञ्ची । (४) अमीरे-बहर या जलशक्ति का अध्यक्ष । (५) बख्शी-ए-फौज या सेना को वेतन देने का प्रधान अधिकारी । (६) काजी-उल-कजात या प्रधान न्यायाधीश, जो मुफ्तियों की सहायता से शरायत के अनुसार न्याय की व्यवस्था करता था ।

प्रान्तीय व स्थानीय शासन—शासन की सुविधा के लिये अफगान-सल्तनत अनेक प्रान्तों में विभक्त थी, जिनकी संख्या सल्तनत के विस्तार के अनुसार घटती-बढ़ती रहती थी । अफगान-सल्तनत के अधिकतम विस्तार के समय उसके प्रान्तों की संख्या चौबीस थी । इनकें प्रान्तीय शासक को 'नायब सुलतान' कहते थे । अपने-

अपने क्षेत्र में इन नायब सुलतानों की स्थिति दिल्ली के सुलतान के ही सदृश होती थी, और इनकी शक्ति के कारण केन्द्रीय सुलतान का प्रत्यक्ष शासन दिल्ली व उसके समीपवर्ती प्रदेशों तक ही सीमित रहता था। सुदूरवर्ती प्रान्तों के नायब सुलतान अवसर पाते ही स्वतन्त्र होने का प्रयत्न करते रहते थे, और इसी कारण केन्द्रीय सुलतान को उन्हें वश में लाने के लिये निरन्तर संघर्ष करते रहना पड़ता था। प्रान्त के उपविभागों का शासन 'मुकता' या 'आमिल' नामक पदाधिकारियों के हाथों में रहता था। प्रान्तों के और छोटे उपविभाग के शासक 'शिकदार' कहाते थे। नायब सुलतान अपने प्रान्तीय शासन का खर्च अपने प्रान्त से ही कर आदि द्वारा प्राप्त करते थे, और खर्च चलाकर जो बचे, उसे केन्द्रीय राजकोश में भेज देते थे। नायब सुलतानों की अपनी पृथक् सेनायें होती थीं, जिन्हें दिल्ली का सुलतान अपनी विजययात्राओं व युद्धों के लिये प्रयुक्त कर सकता था।

अफगान सल्तनत में बहुत-से ऐसे प्रदेश भी थे, जिनपर पुराने समय के हिन्दू-राजवंशों का शासन था। ये हिन्दू-राजा सुलतान को अपना अधिपति मानते थे, और उसे वार्षिक कर, भेंट व उपहार आदि द्वारा संतुष्ट करते रहते थे। अफगान विजेताओं के लिये यह सम्भव नहीं था, कि सब हिन्दू राजवंशों का मूलोच्छेद कर उन द्वारा शासित प्रदेशों को सीधे अपने शासन मे ले आवें। इन हिन्दू-राजाओं की स्थिति अफगान साम्राज्य में सामन्तों के सदृश थी।

पिछले एक अध्याय में हम ग्राम-पंचायतों का उल्लेख कर चुके है, जिनके कारण मध्यकाल में जनता की स्वतन्त्रता सुरक्षित थी। वे ग्राम-पंचायतें इस युग में भी नष्ट नहीं हुई थीं। अफगान सुलतानों ने ग्रामों के स्थानीय स्वशासन में हस्तक्षेप का कोई प्रयत्न नहीं किया। इसीलिये सर्वसाधारण जनता पर उनके आधिपत्य का कोई विशेष असर नहीं हुआ। अफगान आक्रमण से पूर्व भी भारत के विविध राजवंश आपस में संघर्ष करते रहते थे, और दूर-दूर तक विजययात्रायें कर अपने उत्कर्ष का प्रयत्न करते थे। जन-साधारण की दृष्टि में ये विजययात्रायें एक आंधी व तूफान के समान होती थीं, जिनके कारण बहुत-से लोगों को अपनी जान व माल से हाथ धोना पड़ता था। युद्ध में विजयी होकर जो कोई राजवंश उनके प्रदेश पर आधिपत्य कर ले, उसे नियमित रूप से कर देना वे अपना स्वाभाविक कर्तव्य समझते थे। अब विजययात्रा करनेवाली राजशक्तियों में एक अन्य ऐसी शक्ति और आ गई थी, जो विदेशी व विधर्मी थी। उसको भी सर्वसाधारण जनता ने प्रायः उसी दृष्टि से देखा, जिससे कि वे परमार, चालुक्य, गहड़वाल, पाल आदि को देखती थी। ग्रामसंस्थाओं के कारण अभी तक भी सर्व-

साधारण लोग अपने साथ सम्बन्ध रखनेवाले मामलों की स्वयं व्यवस्था करते रहे, और इसलिये उनकी स्थिति में कोई अधिक अन्तर नहीं आया।

जो बहुत-से बड़े-बड़े नगर अफगान सल्तनत की अधीनता में थे, उनका शासन-प्रबन्ध कोतवाल और मुहतसिब नामक कर्मचारियों के हाथों में रहता था। कोतवाल नगर में शांति और व्यवस्था स्थापित रखने के लिये उत्तरदायी होता था, और मुहतसिब का काम नागरिक प्रबन्ध करना समझा जाता था।

परामर्श-सभा—यद्यपि अफगान सुलतान पूर्णरूप से स्वेच्छाचारी व निरंकुश थे, पर वे समय-समय पर अपने अमीर-उमराओं और सैनिक नेताओं से परामर्श करते रहते थे। इसलिये अनेक परामर्श-सभायें विद्यमान थीं, जिनमें 'मजलिसे-खलवत' प्रधान थी। इस सभा में सल्तनत के प्रधान राजकर्मचारी, सैनिक नेता व बड़े अमीर-उमरा उपस्थित होते थे, और महत्त्वपूर्ण मामलों पर सुलतान को परामर्श देते थे। पर मजलिस का सदस्य होने के लिये कोई निश्चित नियम नहीं था। सुलतान जिस किसी व्यक्ति को उचित समझे, परामर्श के लिये इस सभा में बुला लेता था। मजलिस के सदस्य जो परामर्श दें, उसे मानना न मानना सुलतान की इच्छा पर निर्भर करता था। इसके अतिरिक्त 'बारे-खास' और 'बारे-आम' नाम की दो अन्य सभायें भी इस युग में थीं, जो मुगल काल के दीवाने-खास और दीवाने-आम के समान स्थिति रखती थीं। बारे-खास में सल्तनत के प्रमुख खान, अमीर और मलिक सम्मिलित होते थे, और 'बारे-आम' में सर्वसाधारण जनता सुलतान की सेवा में अपने प्रार्थना-पत्र आदि उपस्थित कर सकती थी। न्याय-सम्बन्धी अर्जियां भी 'बारे आम' में ही पेश की जाती थीं, और सुलतान वहीं पर उनका निर्णय करता था।

राजकीय आय के साधन—अफगान सुलतानों की आय-व्यय-सम्बन्धी नीति मुसलिम विधान-शास्त्र के हनफी सम्प्रदाय के अनुसार निर्धारित की जाती थी। इस कारण उनकी राजकीय आय के प्रधान साधन निम्नलिखित थे–(१) खराज–हिन्दू सामन्तों व जागीरदारों द्वारा प्रदान किया जानेवाला भूमि-कर। (२) खालसा या राजकीय भूमि से प्राप्त होनेवाली आमदनी। (३) अपने सैनिक अफसरों और अन्य राजकर्मचारियों को दी गई उन जागीरों की आय का एक निश्चित भाग, जो कि इन राजपुरुषों को जन्मभर के लिये या कुछ निश्चित वर्षों के लिये प्रदान की जाती थीं। (४) जजिया कर, जो हिन्दुओं पर लगाया जाता था, और जिस कर को वसूल करने के बदले में मुसलिम शासक अपनी मुसलिम-भिन्न प्रजा की जान-माल की रक्षा करने को उद्यत होते थे। (५) युद्ध में प्राप्त

हुई लूट। (६) चरागाह, सिंचाई के साधन, इमारत आदि पर लगाये गये अनेक प्रकार के कर। जजिया के अतिरिक्त अन्य सब कर हिन्दुओं और मुसलमानों पर समान रूप से लगते थे। जजिया मुसलिम शासन की एक विशेषता थी। मुसलिम विधान-शास्त्र के अनुसार यह माना जाता था, कि मुसलिम राज्य में हिन्दू आदि अन्य धर्मों के लोग तभी सुरक्षित रूप से रह सकते हैं, जब वे अपने जान-माल की रक्षा के बदले में एक अतिरिक्त कर राजा को प्रदान करे। कोई भी गैरमुसलिम इस्लाम को स्वीकार कर अपने को जजिया कर से मुक्त कर सकता था।

सैनिक संगठन—अफगान सल्तनत की शक्ति का मुख्य आधार उसकी सेना थी। अतः सेना के संगठन का इस युग में बहुत अधिक महत्त्व था। दिल्ली के सुलतानों की सेना के प्रायः सभी सैनिक मुसलिम थे, जो या तो अफगान, तुर्क आदि उन जातियों के थे, जिनकी सहायता से शहाबुद्दीन गोरी ने इस देश पर अपना आधिपत्य स्थापित किया था, और या उन भारतीय क्षत्रियों में से थे, जिन्होंने इस्लाम को ग्रहण कर लिया था। कतिपय हिन्दू सामन्तों व जागीरदारों की सेनायें भी अफगान सेना में शामिल रहती थीं, पर ऐसे सैनिकों की संख्या बहुत कम थी। दिल्ली की केन्द्रीय सरकार की सेना के अतिरिक्त प्रान्तीय नायब सुलतानों की भी अपनी सेना होती थी, जो जहां प्रान्तीय क्षेत्र में शांति और व्यवस्था कायम रखने का काम करती थी, वहां साथ ही नये प्रदेशों की विजय में या किसी विद्रोही सामन्त के साथ संघर्ष में सुलतान की सहायता भी करती थी। सेना के मुख्य विभाग पदाति, अश्वारोही और गजारोही होते थे। बारूद का प्रयोग अभी तक शुरू नहीं हुआ था, इसलिये तोपखाने का सेना में कोई स्थान नहीं था। पर इस प्रकार के कुछ यान्त्रिक उपकरण इस युग तक आविष्कृत हो चुके थे, जिनसे शत्रु पर पत्थर आदि फेंके जा सकते थे।

अमीर-उमरा—अफगान सल्तनत के शासन में अमीर-उमरा लोगों का बहुत महत्त्व था। सैन्य-संचालन, शासन-प्रबन्ध और सुलतान को परामर्श देने का कार्य इन्हीं के हाथों में था। इतना ही नहीं, कोई नया सुलतान तभी दिल्ली के राजसिंहासन पर आरूढ़ हो सकता था, जब कि अमीर-उमराओं का सहयोग व समर्थन उसे प्राप्त हो। सुलतान बन जाने पर भी कोई व्यक्ति इनकी उपेक्षा नहीं कर सकता था, क्योंकि अमीर-उमरा विद्रोह कर उसके कार्य को कठिन बनाने की क्षमता रखते थे। ये अमीर-उमरा प्रधानतया तुर्क और अफगान जातियों के थे। पर मिस्र, ईरान, अरब, अबीसीनिया आदि अन्य मुसलिम देशों से भी बहुत

से साहसी व्यक्ति इस युग में भारत आ गये थे, और उन्होंने दिल्ली की सल्तनत में अच्छा महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त कर लिया था। भारत के पुराने राजवंशों के जिन कुलीन लोगों ने इस्लाम को स्वीकार कर लिया था, वे भी इस नई मुसलिम कुलीन श्रेणि के अंग बन गये थे। मलिक काफूर इसी प्रकार का व्यक्ति था। पर यह ध्यान में रखना चाहिये, कि अफगान-युग की कुलीन श्रेणि पूर्णतया वंशक्रमानुगत नहीं थी। नये साहसी व वीर मनुष्यों के लिये उसमें प्रवेश पाने की सदा गुञ्जाइश रहती थी। यह बात अफगान सल्तनत की शक्ति के लिये जहां सहायक होती थी, वहां साथ ही इससे अव्यवस्था और अराजकता के उत्पन्न होने में भी मदद मिलती थी। कोई भी प्रतापी व उद्दण्ड प्रकृति का व्यक्ति अफगान शासन में अकस्मात् महत्त्व प्राप्त कर सकता था, और सैनिक नेताओं व अमीर-उमराओं का सहयोग प्राप्त कर अपना उत्कर्ष कर सकता था।

अफगान-युग में दिल्ली की सल्तनत का न संगठन उत्कृष्ट था, और न सर्वसाधारण जनता का सहयोग व प्रेम ही उसे प्राप्त था। उसकी शक्ति का आधार केवल उसकी सेना थी। यही कारण है, कि जब दिल्ली के सुलतान निर्बल हो गये, तो उनका विशाल साम्राज्य खण्ड-खण्ड हो गया। बाबर की अधिक उत्कृष्ट शक्ति के सम्मुख दिल्ली के सुलतान सर्वथा असमर्थ और असहाय थे। इसी कारण सोलहवीं सदी के प्रारम्भिक भाग में उनकी सत्ता का भारत से अन्त हो गया।

(२) आर्थिक दशा

इस युग के मुसलिम लेखकों ने अफगान सुलतानों के शासन के जो वृत्तान्त लिखे हैं, उनमें अमीर-उमराओं के षड्यन्त्रों और राजदरबार के झगड़ों का विशदरूप में उल्लेख है। पर उनके अनुशीलन से इस युग की आर्थिक व सामाजिक दशा के विषय में कोई परिचय नहीं मिलता। फिर भी इस सम्बन्ध में जो निर्देश प्रसङ्गवश कहीं-कहीं आ गये हैं, उनके आधार पर इस युग के जीवन का धुधला सा चित्र उपस्थित किया जा सकना सम्भव है।

भारत का वैभव—प्राचीन काल में भारत के विविध राजवंशों ने जो अपार धन-सम्पत्ति एकत्र की थी, मुसलिम आक्रान्ताओं ने उसे दिल खोलकर लूटा था। महमूद गजनवी की लूट का वृत्तान्त फरिश्ता सदृश मुसलिम लेखकों ने विशदरूप से दिया है। कन्नौज, नगरकोट, सोमनाथ आदि की लूट से अनन्त सम्पत्ति महमूद गजनवी ने प्राप्त की थी, और उसी से उसने अपनी राजधानी

गजनी को समृद्ध व वैभवपूर्ण बनाया था। अफगान सुलतानों ने भी देवगिरि आदि प्राचीन राजधानियों को लूटकर अपार धन प्राप्त किया था, यद्यपि उसे वे भारत से बाहर कहीं विदेश में नहीं ले गये थे। अफगान सुलतानों के सम्मुख अपनी आर्थिक समस्या को हल करने का सबसे सीधा और सरल उपाय यही था, कि वे किसी स्वतन्त्र राज्य पर आक्रमण कर उसकी राजधानी को लूटें, और उससे प्राप्त धन का उपयोग अपनी सैन्यशक्ति को बढ़ाने के लिये करें। धन की लालच से सेना में भरती होनेवाले वीर सैनिकों की उस युग में कोई कमी नहीं थी, और यह धन अफगान सुलतान लूट द्वारा सुगमता से प्राप्त कर लेते थे। यही कारण है, कि इस युग के सुलतानों ने अपने साम्राज्य की आर्थिक उन्नति पर कोई विशेष ध्यान नहीं दिया। लूट और राजकीय करों से उन्हें अच्छी आमदनी प्राप्त हो जाती थी, और वह उनकी सेना व दरबार के खर्च के लिये पर्याप्त होती थी।

अफगान आधिपत्य की स्थापना के कारण भारत की सर्वसाधारण जनता के आर्थिक जीवन में विशेष अन्तर नहीं आया था। प्राचीन और मध्ययुगों में भारत के शिल्पी, व्यवसायी और व्यापारी अपने संगठनों में संगठित थे, और माल की उत्पत्ति व विक्रय अपने संगठनों द्वारा निर्धारित नियमों के अनुसार किया करते थे, यह पहले लिखा जा चुका है। अफगान-युग में भी ये संगठन (श्रेणि और निगम) कायम रहे। जिस प्रकार अफगान आधिपत्य के कारण ग्राम-संस्थाओं की स्थिति में कोई अन्तर नहीं आया, वैसे ही आर्थिक श्रेणियों और निगमों की स्वतन्त्र सत्ता भी उसके कारण नष्ट नहीं हो पाई। इसीलिये इस युग में भी भारत का व्यावसायिक और व्यापारिक जीवन पुराने समय के आर्थिक संगठनों में केन्द्रित रहा, और शिल्पी व कर्मकर लोग पूर्ववत् ही अपना कार्य करते रहे। दिल्ली व प्रान्तीय सुलतानों ने इन संगठनों में किसी प्रकार का हस्त-क्षेप नहीं किया। पर विशाल सल्तनत की स्थापना के कारण इस युग में दिल्ली का महत्त्व बहुत बढ़ गया था, और उसमें निवास करनेवाले अमीर-उमराओं व अन्य धनी-मानी पुरुषों की आवश्यकताओं को पूर्ण करने के लिये विशेष अध्यवसाय की आवश्यकता थी। साथ ही, सुलतानों को अपनी विशाल सेनाओं के लिये वस्त्र व अस्त्र-शस्त्र आदि की भी प्रचुर मात्रा में आवश्यकता रहती थी, जिसकी पूर्ति के लिये उन्होंने विशेषरूप से उद्योग किया। इसीलिये उन्होंने दिल्ली में बहुत से कारखाने खुलवाये, जिनमें अच्छी बड़ी संख्या में कारीगर लोग कार्य करते थे। राज्यद्वारा स्थापित हुए रेशमी कपड़ों के कारखानों में

४००० जुलाहे काम करते थे, जिनसे तैयार हुआ रेशमी वस्त्र राजदरबार व अमीर-उमराओं के काम आता था। सूती व ऊनी कपड़ों के लिये भी इसी प्रकार के राजकीय कारखाने थे। अन्य अनेक प्रकार की वस्तुएं भी सरकारी कारखानों में तैयार होती थीं। पर इनके कारण देश के आर्थिक जीवन में विशेष अन्तर नहीं आया था, क्योंकि सर्वसाधारण जनता की आवश्यकताओं को पूर्ण करना अब भी पुराने युग की शिल्पिश्रेणियों के ही हाथों में था।

भारतीय इतिहास का अफगान-युग अशान्ति, अव्यवस्था और अराजकता का काल था। युद्धों और विद्रोहों के कारण इस युग में शान्ति और व्यवस्था नष्ट हो गई थी। विद्रोहों को शान्त करने के लिये व नये प्रदेश की विजय करने के लिये अभियान करती हुई मुसलिम सेनाओं के कारण किसानों के लिये यह सम्भव नही रह गया था, कि वे शान्ति व निश्चिन्तता के साथ खेती में व्यापृत रह सकें। इसीलिये इस युग में भारत को अनेक दुर्भिक्षों का सामना करना पड़ा। जलालुद्दीन फीरोज खिलजी (१२९०—१२९६) के शासनकाल में अनाज की इतनी कमी हो गई थी, कि दिल्ली में अन्न का भाव ७½ जीतल प्रति मन से बढ़कर ४० जीतल प्रतिमन हो गया था। शिवालक की उपत्यका तक के लोग दुर्भिक्ष से पीड़ित होकर अन्न की खोज में दिल्ली आने लगे, और वहां भी भोजन प्राप्त करने में असमर्थ होकर आत्महत्या द्वारा अपने जीवन का अन्त करने लगे। मुहम्मद तुगलक के समय में भी इसी प्रकार का अकाल पड़ा, और बहुत से नरनारी भूख से तड़प-तड़पकर प्राण देने के लिये विवश हुए। अलाउद्दीन खिलजी और मुहम्मद तुगलक जैसे वैभवशाली सुलतानों ने जनता की दुर्भिक्ष से रक्षा करने के लिये अनेक प्रयत्न किये, पर उनके प्रयत्न केवल दिल्ली व उसके समीपवर्ती प्रदेश तक ही सीमित रहे। देश को अकाल से बचाने में उन्हें कोई विशेष सफलता नहीं हुई, क्योंकि अराजकता के कारण किसानों के लिये कृषि पर ध्यान दे सकना सम्भव नही रह गया था, और अनाज के अभाव में जनता की भूख को मिटा सकने का कोई उपाय उस युग में था ही नहीं। आवागमन के साधनों के अभाव में यह भी सम्भव नही था, कि दुर्भिक्षपीड़ित प्रदेशों में बाहर से अन्न को पहुंचाया जा सकता।

अकाल के समय में अन्न का मूल्य चाहे कितना ही बढ़ जाता हो, पर साधारण दशा में वस्तुओं की कीमतें बहुत सस्ती होती थी। जलालुद्दीन खिलजी के समय में जब अकाल पड़ा, तो अन्न की कीमत ४० जीतल प्रतिमन हो गई थी। फीरोज शाह तुगलक के समय के दुर्भिक्ष में तो अन्न और भी अधिक महंगा हो गया था,

और जनता के लिये ६४० जीतल प्रतिमन के भाव से भी अन्न को प्राप्त कर सकना सम्भव नहीं रहा था। पर ये ऊंची कीमतें दुर्भिक्ष के समय की थीं। साधारण समयों में जब अनाज प्रचुर परिमाण में उत्पन्न होता था, कीमतें बहुत गिर जाती थीं। प्रसिद्ध यात्री इब्नबतूता के अनुसार बंगाल में वस्तुओं की कीमतें जितनी कम थीं, उतनी संसार के किसी भी अन्य देश में नहीं थी। तीन प्राणियों का परिवार बंगाल में आठ दरहम में एक साल का खर्च मजे में चला सकता था। यदि हमें यह भी ज्ञात होता, इस युग में भारत के लोगों की औसत आमदनी क्या थी, तो यह भलीभांति अनुमान किया जा सकता, कि जनता किस प्रकार सुख से अपना जीवन निर्वाह करती थी। पर आमदनी के विषय में कोई निर्देश न मिलने के कारण इस विषय पर कुछ भी लिख सकना सम्भव नहीं है।

अलाउद्दीन खिलजी, मुहम्मद तुगलक और फीरोजशाह तुगलक के समय में भिन्न-भिन्न-वस्तुओं की क्या कीमतें (दुर्भिक्ष के समय को छोड़कर) थी, इनकी जानकारी के लिये निम्नलिखित तालिका बहुत उपयोगी है--

वस्तु का नाम	अलाउद्दीन	मुहम्मद तुगलक	फीरोजशाह तुगलक
	(प्रति मन भाव जीतल सिक्के में)		
गेहूं	७½	१२	८
जौ	४	८	४
धान	५	१४	—
दाल	५	—	—
चीनी	६०	६४	१२०
मांस (बकरा)	१०	६४	—
घी	१६	—	१००

इस युग के प्रधान सिक्के टंका और जीतल थे, जिनमें एक टका ६४ जीतल के बराबर होता था। मुगल-युग में भी जीतल का चलन था, यद्यपि उस समय इसकी कीमत बहुत कम हो गई थी। अकबर के समय में एक दाम (पैसा) में २५ जीतल होते थे। अफगान-युग का टंका सोने का बना होता था। जब मुहम्मद तुगलक ने तांबे के भी टके जारी किये, तो सोने के टंके की कीमत १०० ताम्र टंकों के बराबर हो गई। इस दृष्टि से देखने पर जीतल की स्थिति तांबे के एक छोटे सिक्के के बराबर रहती है, और ७½ जीतल में एक मन गेहूं क्रय कर सकना सूचित करता है, कि अलाउद्दीन खिलजी के समय में अनाज व अन्य खाद्य सामग्री के भाव निःसन्देह बहुत सस्ते थे।

इस युग के विदेशी व्यापार के सम्बन्ध में भी अनेक निर्देश उपलब्ध होते हैं। समुद्रमार्ग द्वारा इस काल में चीन, मलाया, ईरान, अरब और यूरोप के साथ भारत का व्यापारिक सम्बन्ध विद्यमान था। इब्नबतूता और मार्को पोलो ने भारत के अनेक बन्दरगाहों का उल्लेख किया है, जिनमें विदेशों के व्यापारी अपना माल बेचने व भारतीय माल का क्रय करने के लिये एकत्र हुआ करते थे। कालीकट और भड़ौच के बन्दरगाह इनमे प्रमुख थे। भारत से जो माल अन्य देशों में बिकने के लिये जाता था, इसमें वस्त्र, अफीम, अन्न, नील और मसाले प्रधान थे। विदेशी व्यापारी सुवर्ण के बदले में इस माल को खरीदते थे। विदेशों से बिकने के लिये आनेवाले पण्य मे घोड़े और खच्चर मुख्य थे, जिनका सैनिक दृष्टि से बहुत उपयोग था।

स्थलमार्ग द्वारा भारत का मध्य एशिया, ईरान, तिब्बत और भूटान के साथ व्यापारिक सम्बन्ध था, और घोड़ों, खच्चरों व ऊंटों के काफिलो से भारत व विदेशों के व्यापारी माल का आदान-प्रदान किया करते थे।

(३) समाजिक दशा

अफगान-युग में भारत की समाज के दो प्रधान वर्ग थे, मुसलिम और हिन्दू। मुसलिम वर्ग शासक था, और हिन्दू वर्ग शासित। दिल्ली के सुलतान सैनिक अफसरों व शासक वर्ग को नियत करते हुए यह ध्यान मे रखते थे, कि केवल मुसलमानों को ही उच्च पदो पर नियत किया जाय। मुसलिम लोग हिन्दुओं की नीची दृष्टि से देखते थे, और सुलतानो के राजदरबार में जानबूझकर उनकी हीन स्थिति का बोध कराया जाता था। इब्नबतूता ने लिखा है, कि जब कोई हिन्दू सुलतान के दरबार मे कोई प्रार्थना-पत्र लेकर उपस्थित होता था, तो हाजिब लोग चिल्लाकर कहते थे—'हदाक अल्लाह' या 'भगवान् तुम्हें सन्मार्ग पर ले आवे।' जजिया कर के कारण हिन्दुओं को सदा यह अनुभूति बनी रहती थी, कि सल्तनत मे उनकी स्थिति हीन है, और वे अपनी जान व माल के लिये मुसलिम शासको की कृपा पर निर्भर है। यदि कोई हिन्दू-धर्म का परित्याग कर इस्लाम को स्वीकार कर ले, तो मुसलिम लोगों की दृष्टि में यह बात बड़े गौरव व पुण्य की होती थी। मुसलिम लोग कुफ्र का अंत कर सद्धर्म का प्रचार करने में गर्व अनुभव करते थे। और क्योकि इस युग मे राजशक्ति उनके हाथों में थी, अतः वे धर्मप्रचार के लिये अनेक उचित-अनुचित उपायों का प्रयोग करते थे।

पर हिन्दू लोगों में स्वाभिमान और आत्मगौरव के भाव नष्ट नहीं हो गये

थे। संख्या की दृष्टि से वे मुसलमानों की अपेक्षा बहुत अधिक थे। इसी कारण वे समय-समय पर विद्रोह द्वारा अपने रोष को प्रगट करते रहते थे। अलाउद्दीन खिलजी जैसे प्रतापी सुलतानों ने इस बात का यत्न किया, कि हिन्दुओं की स्थिति को बिलकुल हीन कर दें। वे अनुभव करते थे, कि जब तक हिन्दू लोग सम्पन्न रहेंगे, उनमें हीनभावना का पूर्ण रूप से विकास नहीं होने पावेगा। गरीबी के कारण मनुष्य विवश हो जाता है, और उसमें गौरव की भावना कायम नहीं रहने पाती। इसी तथ्य को दृष्टि में रखकर अलाउद्दीन ने हिन्दुओं को सर्वथा निर्धन व अवश बना देने का प्रयत्न किया। भारत के प्रायः सभी किसान इस समय हिन्दू थे। मुसलिम लोगों को हल चलाने की कोई आवश्यकता नहीं थी, क्योंकि सेना और शासक वर्ग के पद उनके लिये खुले हुए थे। अलाउद्दीन ने व्यवस्था की, कि किसान लोग अपनी पैदावार का ५० प्रतिशत कर के रूप में प्रदान किया करें। उपज का आधा भाग राज्य को प्रदान कर देने के बाद किसानों के पास इतना अन्न नही बच जाता था, जिससे कि वे अपना व अपने परिवार का पेट भर सकते। भारत के प्राचीन राजा उपज का छठा भाग किसानों से बलि रूप में ग्रहण करते थे। छठे भाग के मुकाबले में उपज का आधा भाग कर के रूप में लेकर अलाउद्दीन ने हिन्दुओं की आर्थिक दशा को बहुत ही दयनीय बना दिया था। इतना ही नहीं, उसने यह व्यवस्था भी की थी, कि हिन्दुओं के चरागाहों और मकानों पर भी टैक्स लगाये जावें। केवल किसानों से ही नही, अपितु खुट और बलाहर संज्ञक भूमिपतियों से भी अलाउद्दीन ने इसी प्रकार सख्ती से कर वसूल करने शुरू किये, जिसका परिणाम यह हुआ, कि चौधरी, मुकद्दम आदि उच्च वर्ग के हिन्दू लोगों की स्थिति इतनी हीन हो गई कि अब वे न अच्छे वस्त्र पहन सकते थे, न शस्त्र धारण कर सकते थे और न सवारी के लिये घोड़े ही रख सकते थे। और तो और रहा, उनके लिये ताम्बूल तक का सेवन कर सकना सम्भव नही रह गया था। अफगान-सुलतानों की इस नीति के कारण उच्च वर्ग के हिन्दू भी इतने गरीब व असहाय हो गये, कि उनकी महिलाओं को मुसलिम घरों में नौकरी करने के लिये विवश होना पड़ा। इस युग के मुसलमान हिन्दुओं की इस दुर्दशा को देखकर सन्तोष अनुभव करते थे। बरानी जैसे लेखक ने अभिमान के साथ लिखा है कि हिन्दुओं की दशा इतनी हीन हो गई है, कि वे सिर उठाकर नहीं चल सकते और उनके घरों में सोने-चांदी या सिक्के का नाम भी शेष नहीं बचा है। यह बात ध्यान देने योग्य है, कि इस हीन दशा में भी हिन्दू लोग अपने धर्म पर दृढ़ रहे, और उन्होंने सांसारिक उत्कर्ष व सुख

के लिये अपने धर्म का परित्याग नहीं कर दिया। इब्नबतूता के अनुसार जब कोई हिन्दू इस्लाम को ग्रहण करने के लिये तैयार हो जाता था, तो उसे सुलतान के सम्मुख उपस्थित किया जाता था। सुलतान उसे उत्तम वस्त्र व सुवर्ण के आभूषण प्रदान करता था, और ऐहलौकिक सुख व उत्कर्ष का मार्ग उसके लिये खुल जाता था। पर ये सब प्रलोभन भी इस युग के हिन्दुओं को अपने धर्म से विचलित करने में असमर्थ रहे।

अफगान सल्तनत में दास-प्रथा का बहुत प्रचार था। सुलतान व उसके अमीर-उमरा बहुत बड़ी संख्या में दास रखा करते थे। अलाउद्दीन के दासों (बन्दगाने-खास) की संख्या ६०,००० थी। फीरोजशाह तुगलक के समय में उसके दासो की संख्या २,००,००० के लगभग पहुंच गई थी। इसी प्रकार इस युग के नायब सुलतान व अमीर-उमरा भी बहुत-से दासों को खरीदकर अपने पास रखते थे। इन दासो से अनेक प्रकार के काम लिये जाते थे। सैनिक सेवा, राज-सेवा व वैयक्तिक सेवा——सब प्रकार के कार्य दास लोग करते थे। बहुत से दास अच्छे योग्य व वीर होते थे, और अपनी योग्यता के बल पर वे अच्छी उन्नति भी कर लेते थे। योग्य दासों को दासता से मुक्त कर बड़े पदों पर नियुक्त कर देना इस युग मे बहुत साधारण बात थी। कुतुबुद्दीन ऐबक और मलिक काफूर जैसे लोग शुरू में दास ही थे, पर अपनी असाधारण प्रतिभा और योग्यता के बल पर वे सुलतान व प्रधान सेनापति के पदों पर पहुंच गये थे। सुलतान के दासों में भारतीयों की संख्या बहुत अधिक थी। युद्ध में परास्त सैनिकों को कैद कर या जीते हुए नगरों के नरनारियों को बन्दी बनाकर गुलाम के रूप में बेच देना इस युग में सर्वथा उचित माना जाता था। सुन्दरी स्त्रियो की दासी-रूप में अच्छी कीमत वसूल होती थी। बरानी के अनुसार रूपवती युवतिया ५०० से लेकर १००० टंका तक में खरीदी जा सकती थी, और किसी-किसी युवती दासी की कीमत तो २००० टंका तक भी पहुंच जाती थी। इस युग के दास-हट्टों में केवल भारतीय गुलाम ही नहीं बिकते थे, अपितु चीन, तुर्किस्तान, ईरान आदि दूरवर्ती देशों के गुलामों का भी उनमे क्रय-विक्रय हुआ करता था।

लूट द्वारा प्राप्त धन के कारण अफगान-युग के मुसलमानों में अनेक प्रकार की बुराइयां उत्पन्न हो गई थी। अल्तमश, बलवन और अलाउद्दीन सदृश सुलतानों के समय मे तुर्क, अफगान व अन्य मुसलमानों मे अपूर्व साहस व उत्साह था। उन्होंने युद्ध में विजय प्राप्त कर भारत में अपने राज्य की स्थापना की थी। बहुसंख्यक हिन्दुओं के विरोध में वे अपनी सत्ता को तभी कायम रख सकते

थे, जब वे अनुपम वीर हों। पर देवगिरि आदि समृद्ध नगरों की लूट द्वारा इतनी अपार सम्पत्ति दिल्ली की सल्तनत को प्राप्त हो गई थी, कि उसके उपभोग के कारण मुसलिम लोग भोग विलास में बुरी तरह से फस गये। बड़े-बड़े सैनिक नेता व शासक लोगों को धन की कोई कमी नही थी, और सर्वसाधारण मुसलमानों के लिये 'खानकाह' खुले हुए थे, जिनमें वे आवश्यक भोजन व अन्य वस्तुओं को बिना मूल्य के प्राप्त कर सकते थे। इस स्थिति में मुसलमानों को न खेती करने की आवश्यकता थी, और न किसी शिल्प के अनुसरण की। उनमे जो योग्य होते, वे सैनिक व राजकीय पद सुगमता से प्राप्त कर लेते थे। जो अयोग्य होते, वे 'खानकाहो' की कृपा से मजे मे अपना निर्वाह कर सकते थे। कमाई के लिये इन्हें किसी प्रकार के परिश्रम की आवश्यकता नही थी। इस दशा का परिणाम यह हुआ, कि मुसलमानो मे एक प्रकार का निकम्मापन विकसित होने लगा, और वे मदिरापान, द्यूत-क्रीड़ा आदि मे अपने समय व शक्ति को नष्ट करने लगे। इस्लाम की दृष्टि में मदिरा-सेवन अनुचित है, इसलिये अनेक सुलतानों ने इसके विरुद्ध अनेक प्रकार के उपायों का प्रयोग किया। पर भोग-विलास की प्रवृत्ति मुसलमानों में इतनी अधिक बढ़ गई थी, कि वे इस बुराई से बच सकने में असमर्थ रहे। नाच-गान व अन्य आमोद-प्रमोद में मस्त रहने के कारण धीरे-धीरे मुसलिम वर्ग निरन्तर क्षीण होता गया।

इस युग में स्त्रियो की क्या स्थिति थी, इस सम्बन्ध में भी कुछ बातें उल्लेखनीय हैं। परदे की प्रथा इस समय उत्तरी भारत में भलीभांति विकसित हो गई थी, और हिन्दू व मुसलिम स्त्रिया प्रायः परदे में रहती थी। अफगान युग से पहले भी भारत में यह प्रथा विद्यमान थी, पर उसकी सत्ता केवल उच्च वर्ग की स्त्रियों में ही थी। मुसलिम शासन में इस प्रथा का बहुत प्रचार हुआ। बाल-विवाह भी इस युग की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता है। उद्दण्ड मुसलिम सैनिकों व राजकर्मचारियो के भय से हिन्दू लोग बचपन में ही अपनी बालिकाओं का विवाह करने लगे, ताकि माता-पिता शीघ्र ही कन्यादान का पुण्य प्राप्त कर निश्चिन्त हो जावें। सती-प्रथा भारत में पहले भी विद्यमान थी। इस युग में भी उसकी सत्ता के अनेक प्रमाण मिलते हैं। स्त्रियां प्रायः अशिक्षित होती थीं, पर इस प्रकार के उदाहरण विद्यमान है, जिनमें स्त्रियां उच्च शिक्षाप्राप्त व सुसंस्कृत थीं। इब्नबतूता ने भारत-यात्रा का वर्णन करते हुए लिखा है, कि जब वह हनौर पहुंचा, तो उसने वहां १३ ऐसे विद्यालय देखे, जिनमें बालिकायें शिक्षा ग्रहण करती थीं। इसी नगर में बालकों के विद्यालयों की संख्या २३ थी।

(४) हिन्दू और मुसलिम संस्कृतियों का सम्पर्क

इसमें सन्देह नहीं, कि अफगान युग में हिन्दू और मुसलिम दो ऐसे वर्ग थे, जिनमें शासक और शासित का सम्बन्ध था। मुसलिम लोग हिन्दुओं को नीची निगाह से देखते थे, और उन्हें दबाकर रखना अपना कर्तव्य समझते थे। पर जब दो विभिन्न धर्मों व संस्कृतियों के लोग देर तक एक साथ निवास करते हैं, तो उनपर एक दूसरे का प्रभाव पड़ना अवश्यम्भावी हो जाता है। हिन्दू लोग सभ्यता और सस्कृति की दृष्टि से बहुत ऊंचे थे। यद्यपि उनकी राजशक्ति मुसलिम आक्रान्ताओं द्वारा पराभूत हो गई थी, पर इससे उनकी संस्कृति की उत्कृष्टता नष्ट नही हो गई थी। जब मुसलिम विजेता स्थायी रूप से भारत में आबाद हो गये, तो स्वाभाविक रूप से वे भारत के योगियों, सन्तों, धर्माचार्यों, विद्वानो और शिल्पियों के सम्पर्क मे आये, और वे उनसे प्रभावित हुए बिना नहीं रह सके। इसी प्रकार इस्लाम के रूप मे जो नया धार्मिक आन्दोलन इस देश में प्रविष्ट हुआ था, उसमें अपूर्व जीवनी शक्ति थी। वह भी इस देश के पुराने धर्म को प्रभावित किये बिना नही रहा। हिन्दू और मुसलिम संस्कृतियों के इस सम्पर्क ने जो परिणाम उत्पन्न किये, उनका भारत के इतिहास में बहुत अधिक महत्त्व है। इसी से भारत की वह आधुनिक सस्कृति प्रादुर्भूत हुई, जिसपर अनेक अंशों में मुसलिम धर्म का प्रभाव विद्यमान है। पर इस प्रसङ्ग में यह ध्यान में रखना चाहिये कि दिल्ली की अफगान सल्तनत के क्षेत्र में हिन्दू और मुसलिम संस्कृतियों को एक दूसरे के निकट मे आने का वैसा अवसर नही मिला, जैसा कि गुजरात, मालवा, जौनपुर, दौलताबाद और बंगाल के मुसलिम राज्यो में मिला। चौदहवी सदी के उत्तरार्ध में स्थापित इन विविध सल्तनतो मे तुर्क व अफगान मुसलमानों का वह महत्त्वपूर्ण स्थान नही था, जो कि दिल्ली की केन्द्रीय सल्तनत मे था। इन प्रान्तीय सल्तनतो के शासन मे हिन्दू कर्मचारियो का बड़ा भाग था, और इनके सुलतान व अन्य अमीर-उमरा हिन्दुओ के बहुत निकट सम्पर्क में थे। इसी कारण अहमदाबाद, माण्डू, लखनौती आदि में हिन्दू और मुसलिम संस्कृतियों को एक दूसरे को प्रभावित करने का सुवर्णावसर प्राप्त हुआ था।

जिन साधनों से हिन्दू और मुसलमान एक दूसरे के निकट सम्पर्क में आये, वे निम्नलिखित थे—(१) यद्यपि दिल्ली की सल्तनत में सब उच्च पदों पर मुसलमानो की नियुक्ति की जाती थी, पर भूमिकर व अन्य करों को वसूल करने के लिये जो कर्मचारी पुराने समय से परम्परागत रूप में चले आते थे, उनके

सहयोग के बिना सुलतानों का काम नहीं चल सकता था। जब भारत में अंग्रेजों का शासन स्थापित हुआ, तो गवर्नर, कमिश्नर, कलेक्टर, जज, सेनापति आदि सब उच्च राजकीय पदों पर अंग्रेज अफसरों की नियुक्ति की गई ; पर पटवारी, कानूनगो, पेशकार आदि छोटे राजकर्मचारी भारतीय ही रहे। कुछ इसी प्रकार की स्थिति दिल्ली की अफगान सल्तनत में थी। उच्च मुसलिम राजपदाधिकारी छोटे हिन्दू कर्मचारियों के सहयोग से ही भूमिकर आदि वसूल करते थे, और उनके निकट सम्पर्क में आने का अवसर प्राप्त करते थे। (२) चौदहवीं सदी के उत्तरार्ध में जौनपुर, लखनौती, माण्डू, अहमदाबाद और दौलताबाद को राजधानी बनाकर जो विविध मुसलिम सल्तनतें स्थापित हुई थी, उनमें हिन्दू और मुसलमानों का सम्पर्क और भी अधिक घनिष्ठ था। इन सल्तनतों में उच्च राजकीय पदों पर हिन्दुओं की नियुक्ति की गई, और शासनसूत्र का संचालन बहुत-कुछ उन्हीं के हाथो में रहा। मालवा (माण्डू) की सल्तनत में चन्देरी का राजा मेदिनीराय व उसके मित्र सर्वोच्च राजकीय पदों पर कार्य करते थे। बंगाल के सुलतान हुसेनशाह ने पुरन्दर, रूप व सनातन आदि कितने ही हिन्दुओं को उच्च राजकीय पद दिये। बहमनी सल्तनत में भी बहुत से हिन्दू उच्च पदों पर नियुक्त थे, और बीजापुर की आदिलशाही में तो सब राजकीय कार्य शुरू में मराठी भाषा में ही किया जाता था। इब्राहीम आदिलशाह को उसकी प्रजा 'जगत्-गुरु' कहती थी। काश्मीर के सुलतान जैनुल आब्दीन ने धर्म के विषय में उसी नीति को अपनाया था, बाद में अकबर ने अपने विशाल साम्राज्य में जिसका अनुसरण किया था। इस युग के विजयनगर राज्य के हिन्दू राजा भी मुसलिम सेनापति को अपनी सेना में नियुक्त करने में संकोच नहीं करते थे। इस प्रकार राजकीय क्षेत्र में हिन्दुओं और मुसलमानों को एक दूसरे के सम्पर्क में आने का अवसर प्राप्त होता था। (३) इसमें सन्देह नहीं, कि शुरू में मुसलमानों ने अपने धर्म का प्रचार करने के लिये शस्त्रशक्ति का प्रयोग किया था, पर भारत जैसे विशाल देश में जहां वीर लोगों की कमी नहीं थी, तलवार के जोर पर इस्लाम का प्रचार कर सकना सुगम नहीं था। जो काम मुसलिम आक्रान्ताओं की तलवार नहीं कर सकी, उसे सम्पन्न करने के लिये अनेक पीर, औलिया व धर्मप्रचारक तत्पर हुए। और इनकी धर्मनिष्ठा, उच्च जीवन व सदुपदेश जनता को अपने प्रभाव में लाने में बहुत अंश तक समर्थ हुए। यद्यपि बहुसंख्यक हिन्दुओं ने इस्लाम को नहीं अपनाया, पर वे मुसलिम सन्तों व पीरों के प्रभाव में आये बिना भी न रह सके। इसीलिये इस युग में अनेक ऐसे मुसलिम पीर हुए, जिनके प्रति हिन्दुओं

की भी श्रद्धा थी, और जिनके सदुपदेशों का श्रवण कर गैरमुसलिम भी आनन्द अनुभव करते थे। इसी प्रकार मुसलिम लोग भी भारत के योगियों, सन्त-महात्माओं व दार्शनिकों के प्रभाव में आये, और उनके प्रति श्रद्धा रखने लगे। वैष्णव भक्तों द्वारा भक्ति की जो मन्दाकिनी इस युग में प्रवाहित हो रही थी, अनेक मुसलमानों ने उसमें स्नान कर शान्ति लाभ की। (४) जिन हिन्दुओं ने मुसलिम-शासन के समय में इस्लाम को स्वीकार कर लिया था, धर्म-परिवर्तन के कारण उनमें आमूलचूल परिवर्तन नहीं आ गया था। सदियों के मज्जातन्तुगत संस्कारों को एकदम नष्ट कर देना किसी के लिये भी सम्भव नहीं होता। यही कारण है, जो इस युग में अनेक मुसलिम स्त्रियां भी सती-प्रथा का अनुसरण करती थीं, और नये मुसलिम बने हुए लोग पूर्ववत् ही हिन्दू योगियों व साधु-सन्तों का आदर करते थे। इन नव मुसलिमों के सम्पर्क में आने वाले तुर्क व अफगान लोगों को भी भारत की पुरानी परम्परा से परिचय प्राप्त करने का अवसर मिलता था।

इन सब कारणों से हिन्दू और मुसलमान जिन क्षेत्रों में एक दूसरे के निकट सम्पर्क में आये, वे निम्नलिखित थे—कला, भाषा, साहित्य और धर्म। हम इन चारों पर पृथक्-पृथक् रूप से विचार करेंगे। धर्म के क्षेत्र में हिन्दू-मुसलिम सम्पर्क का जो परिणाम हुआ, वह भारत के इतिहास में बहुत अधिक महत्त्व रखता है। अतः उस पर हम एक पृथक् अध्याय में प्रकाश डालेंगे।

(५) कला

हिन्दू और मुसलिम सम्पर्क का सबसे प्रत्यक्ष व स्थूल रूप वह वास्तुकला है, जिसका इस युग में विकास हुआ, और जिसे ऐतिहासिकों ने 'इण्डो-मुसलिम' या 'पठान' कला का नाम दिया है। मुसलिम शासन की स्थापना से पूर्व वास्तुकला भारत में अच्छी उन्नत दशा में थी, यह पहले प्रदर्शित किया जा चुका है। इसी प्रकार जिन तुर्क व अफगानों ने भारत पर आक्रमण कर वहां अपना आधिपत्य स्थापित किया था, वे भी अपनी विशिष्ट वास्तुकला का विकास कर चुके थे। दसवीं सदी तक अरब-साम्राज्य बहुत उन्नत दशा को प्राप्त हो चुका था, और अरब, मिस्र, ईरान आदि मुसलिम देशों की संस्कृतियों के सम्मिश्रण के कारण वहां एक ऐसी वास्तुकला का विकास हो गया था, जो भारत की वास्तुकला से बहुत भिन्न थी। महमूद गजनवी ने अपने विशाल साम्राज्य का निर्माण कर गजनी को बहुत-सी सुन्दर इमारतों व मसजिदों से सुशोभित किया था, जिनके निर्माण में भारतीय शिल्पियों का भी बड़ा हाथ था। भारत की लूट

में महमूद ने केवल अपार धन-सम्पत्ति ही प्राप्त नहीं की थी, अपितु हजारों शिल्पी भी वह अपने साथ गजनी ले गया था। इन शिल्पियों ने गजनी की इमारतों में जहां मुसलिम कला को दृष्टि में रखा, वहां साथ ही भवन-निर्माण के भारतीय आदर्शों व विधियों का भी प्रयोग किया। इसीलिये जब भारत में तुर्कों व अफगानों का शासन स्थापित हुआ, तो इस देश के ये नये शासक भारतीय वास्तुकला से सर्वथा अपरिचित नही थे। उन्होने दिल्ली आदि में जो नई इमारतें बनवाई, उनके निर्माण के लिये उन्होंने भारतीय शिल्पियो से ही काम लिया। इन शिल्पियों के लिये यह असम्भव था, कि वे अपने परम्परागत कला-सम्बन्धी आदर्शो को भुलाकर एक विदेशी कला का प्रयोग कर सकें। इसी कारण अफगान युग की इमारतें भारत की परम्परागत वास्तुकला के अनुरूप है, और इसीलिये हेवल जैसे कलाविज्ञ ने यह प्रतिपादित किया है, कि 'शरीर और आत्मा' दोनों दृष्टियो से इस युग की वास्तुकला विशुद्ध रूप से भारतीय व आर्य है। यद्यपि फर्ग्युसन सदृश अनेक ऐतिहासिको ने इस युग की वास्तुकला को 'पठान' नाम दिया है, पर इस तथ्य से इन्कार नही किया जा सकता, कि अफगान शासनकाल की बहुसंख्यक इमारतें प्राचीन भारतीय वास्तुकला से बहुत अधिक प्रभावित है, और सर जान मार्शल सदृश अनेक ऐतिहासिकों ने इस तथ्य को स्वीकार किया है। यदि दिल्ली की सल्तनत को दृष्टि से ओझल कर जौनपुर, माण्डू, अहमदाबाद आदि प्रान्तीय सल्तनतों की इमारतों को दृष्टि मे रखा जाय, तब तो हिन्दू-कला का प्रभाव और भी स्पष्ट हो जाता है।

भारत का प्रथम मुसलिम सुलतान कुतुबुद्दीन ऐबक था। उसके समय में जो इमारतें बनी, उनमें कुतुबमीनार और कुतुबमसजिद सर्वप्रधान है। ये दोनों दिल्ली के समीप महरौली में स्थित है। इस स्थान पर प्राचीन समय में एक विशाल हिन्दू-मन्दिर था, जिसके मध्यभाग में सम्राट् चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य द्वारा एक विष्णुध्वज स्थापित किया गया था। चन्द्रगुप्त का यह विष्णुध्वज (लोहे का विशाल स्तम्भ) अब तक वहां विद्यमान है, और इस प्राचीन विष्णु-मन्दिर का स्मारक है। कुतुब मसजिद का निर्माण इसी मन्दिर को आधार बनाकर किया गया था, और इसकी दीवारों पर अब तक भी हिन्दू-मूर्तियां सुरक्षित हैं। कुतुबमीनार के निर्माता के सम्बन्ध में ऐतिहासिकों में मतभेद रहा है। अनेक ऐतिहासिकों ने प्रतिपादित किया है, कि यह मीनार चौहानराजा पृथिवीराज या उसके किसी पूर्वज ने अपनी विजयों की स्मृति को स्थिर रखने के लिये 'विजय-स्तम्भ' के रूप में बनवाई थी। बाद में कुतुबुद्दीन ऐबक ने इसके अनुकरण में

एक नई मीनार का निर्माण शुरू कराया, पर वह उसे पूर्ण नहीं कर सका। यह दूसरी मीनार अब तक भी अपूर्ण दशा में विद्यमान है। जिन युक्तियों के आधार पर कुतुबमीनार को मध्य हिन्दू-युग की कृति बताया गया है, उनका उल्लेख करना यहां सम्भव नही है। पर बहुसंख्यक ऐतिहासिक यही मानते है, कि २८२ फीट ऊँची यह विशाल मीनार कुतुबुद्दीन ऐबक के समय मे बननी शुरू हुई थी, और सुलतान अल्तमश के शासन-काल में बनकर तैयार हुई थी। बिजली के आघात से फीरोजशाह तुगलक के समय में इसकी उपरली मंजिल टूट गई थी, जिसके स्थान पर इस सुलतान ने दो छोटी मंजिलों का निर्माण करा दिया था। कुतुबुद्दीन ऐबक के समय की अन्य इमारतो में अजमेर की 'अढाई दिन का झोपड़ा' नामक मसजिद भी बड़े महत्त्व की है। यह भी अल्तमश के समय मे बनकर तैयार हुई थी। महरौली की कुतुबमसजिद के समान इसका निर्माण भी एक पुराने हिन्दू-मन्दिर के आधार पर किया गया था। कुतुबुद्दीन के शासन-काल में अल्तमश बदायू का सूबेदार था। वहा उसने 'हौजे शम्शी' और 'शम्शी ईदगाह' का निर्माण कराया। दिल्ली का सुलतान बनने के बाद भी अल्तमश ने बदायू का ध्यान रखा, और १२२३ ईस्वी में वही की प्रसिद्ध 'जामामसजिद' का निर्माण कराया। अफगान युग की येही इमारते सबसे प्राचीन है।

अलाउद्दीन खिलजी के समय में दिल्ली की सल्तनत का बहुत उत्कर्ष हुआ। विविध हिन्दू-राजवंशो का अन्त कर उनकी राजधानियों से जो अपार सम्पत्ति अलाउद्दीन ने प्राप्त की, उसके कुछ अश का उपयोग उसने इमारतों के निर्माण के लिये भी किया। इनमें सीरी का किला, हजार सितून महल, अलाई दरवाजा, हौज अलाई और हौजे खास विशेषरूप से उल्लेखनीय है। यद्यपि इस समय ये सुरक्षित दशा मे नही है, पर इनके भग्नावशेषो से अलाउद्दीन की वास्तुकृतियों का आभास लिया जा सकता है। अलाउद्दीन खिलजी के समय मे ही अजमेर में 'निजामुद्दीन औलिया की दरगाह' का निर्माण हुआ। ये सब 'इण्डो-मुसलिम' वास्तुकला के उत्कृष्ट उदाहरण है। विशेषतया, महरौली की कुतुबमसजिद में अलाउद्दीन द्वारा निर्मित अलाई दरवाजा कला की दृष्टि से अनुपम है।

तुगलक-वंश के शासन-काल में जो इमारतें बनी, वे सौन्दर्य और कला की दृष्टि से उतनी उत्कृष्ट नही है, जितनी कि इससे पूर्वकाल की हैं। उनमें अलंकरण की अपेक्षा सादगी व गम्भीरता अधिक है। दिल्ली के समीप तुगलकाबाद नगरी इसी युग में स्थापित हुई थी, और उसके पास में विद्यमान गयासुद्दीन तुगलक का मकबरा बहुत सुन्दर माना जाता है। तुगलक-वंश के सुलतान

फीरोजशाह को वास्तुकला से बहुत प्रेम था। उसने अपने नाम से फीरोजाबाद की स्थापना की, जिसके भग्नावशेष अब तक भी दिल्ली के चौगिर्द के प्रदेश में विद्यमान हैं। फतहाबाद और हिसार फीरोजा नाम के दो अन्य नगर भी उसने बसाये, और गोमती नदी के तट पर जौनपुर नामक नगर की नींव डाली, जो आगे चलकर एक स्वतन्त्र सल्तनत की राजधानी बना। फीरोजशाह तुगलक को प्राचीन काल के पुरातत्त्व-सम्बन्धी अवशेषों में भी बहुत दिलचस्पी थी। इसीलिये सम्राट् अशोक के दो प्रस्तर-स्तम्भों को अम्बाला और मेरठ जिलों से वह दिल्ली ले आया था, जो अब तक भी वहां विद्यमान है।

लोदी और सैयद-वंश के शासनकाल में भी अनेक मकबरों और मसजिदों का निर्माण हुआ, जिनमें सुलतान सिकन्दरशाह लोदी का मकबरा और 'मोठ की मसजिद' सबसे प्रसिद्ध हैं।

पर दिल्ली के सुलतानों के मुकाबले में जौनपुर, अहमदाबाद, लखनौती, माण्डू और दौलताबाद के सुलतानों ने नये राजप्रासादों, मकबरों और मसजिदों के निर्माण में अधिक कर्तृत्व प्रदर्शित किया। यद्यपि राज्यविस्तार की दृष्टि से ये प्रान्तीय सुलतान दिल्ली के सुलतानों की अपेक्षा कम थे, पर सभ्यता और संस्कृति के क्षेत्र में ये उनसे बहुत बढ़े-चढ़े थे। जौनपुर के शरकी सुलतान जहां साहित्य और ज्ञान के प्रेमी थे, वहा उन्होंने अपनी राजधानी को सुन्दर इमारतों से विभूषित करने पर भी बहुत ध्यान दिया। शरकी सुलतानों की बहुत सी कृतियां अब तक भी जौनपुर में विद्यमान हैं, जिनमें सुलतान इब्राहीम (चौदहवीं सदी का अन्तिम चरण) द्वारा निर्मित अताला मसजिद और सुलतान हुसैनशाह की जामा मसजिद बहुत प्रसिद्ध है। अताला मसजिद को इस युग की सर्वश्रेष्ठ वास्तुकृतियो में गिना जाता है, और इसमें सन्देह नहीं, कि इसके निर्माण में पुरानी हिन्दू-वास्तुकला का उत्कृष्ट रूप से प्रदर्शन किया गया है। इस मसजिद पर हिन्दू-प्रभाव इतना अधिक है, कि सामान्य मसजिदों के समान इसमें ऊंची मीनारों तक को स्थान नही दिया गया। जौनपुर की ये मसजिदें पुराने समय के हिन्दू-मन्दिरों का ही रूपान्तर हैं, यद्यपि इनके निर्माण का प्रयोजन किसी देवप्रतिमा का प्रतिष्ठापन नहीं था। जौनपुर का लाल दरवाजा मसजिद का स्वरूप तो हिन्दू-शैली से बहुत अधिक समता रखता है।

बंगाल के मुसलिम सुलतानों ने भी अपने मकबरों, मसजिदों व प्रासादों का निर्माण कराते हुए भारत की पुरानी वास्तुकला का अनुसरण किया था। इसीलिये इनपर हिन्दू-शैली का प्रभाव बहत स्पष्टरूप से विद्यमान है। बंगाल में

इस युग की जो कृतियां अबतक विद्यमान हैं, उनमें १३६८ में निर्मित अदीना मसजिद, १४९३ ईस्वी के लगभग बनी छोटा सोना मसजिद और १५२६ में बनी बड़ा सोना मसजिद सर्वप्रधान हैं। प्रसिद्ध कलाविज्ञ फर्ग्युसन के अनुसार बड़ा सोना मसजिद बंगाल की सर्वश्रेष्ठ वास्तुकृति है।

गुजरात के सुलतानों ने मसजिदों और मकबरों के निर्माण पर बहुत अधिक श्रम किया था। इस्लाम के प्रवेश से पूर्व गुजरात में जैन-धर्म का विशेषरूप से प्रचार था। इसीलिये जब वहां के मुसलिम सुलतान नई इमारतों के निर्माण में प्रवृत्त हुए, तो उन्होने जिन शिल्पियों को इमारतें बनाने का कार्य सुपुर्द किया, वे जैन-मन्दिरों के निर्माण का अनुभव रखते थे। इसीलिये जब उन्होंने मुसलिम सुलतानों के आदेश के अनुसार मसजिदों का निर्माण किया, तो वे अपने परम्परागत अभ्यास को भुला नही सके। अहमदाबाद नगर की स्थापना सुलतान अहमदशाह (१४११–१४४१) द्वारा की गई थी। उसने अपनी राजधानी को अनेक प्रासादों और मसजिदों से विभूषित किया, जिनके निर्माण के लिये न केवल पुराने हिन्दू और जैन-मन्दिरों के भग्नावशेषों का प्रयोग किया गया, अपितु उनकी वास्तुकला का भी अनुसरण किया गया। गुजरात के सुलतान तक्षक क्षत्रिय थे, जिन्होंने इस्लाम को स्वीकार कर लिया था। धर्म-परिवर्त्तन के बाद भी वे अपनी भारतीयता को नही छोड़ सके थे। इसी कारण उनकी कृतियों पर हिन्दू-कला का प्रभाव और भी अधिक है। अहमदाबाद की इमारतों में तीन दरवाजा और जामा मसजिद सर्वश्रेष्ठ हैं, जो इस युग की इण्डो-मुसलिम वास्तुकला के उत्कृष्ट उदाहरण है।

मालवा के सुलतानों ने भी अपनी राजधानी माण्डू को अनेक इमारतों से विभूषित किया। उनकी कृतियों में जामा मसजिद, हिंडोला महल, जहाज महल, हुशङ्गशाह का मकबरा और बाजबहादुर व रूपमती के राजप्रासाद बहुत प्रसिद्ध हैं।

दक्षिणी भारत में बहमनी राज्य और उसके भग्नावशेषों पर स्थापित हुई शाहियों के सुलतानों ने भी अनेक प्रकार की इमारतों के लिये उत्साह दिखाया। इनकी वास्तुकला में भारतीय तत्त्व के अतिरिक्त ईरानी, तुर्क और मिस्री तत्त्व भी पर्याप्त मात्रा में विद्यमान है। इसका कारण यह है, कि इन देशों के अनेक साहसी व सुयोग्य व्यक्ति समय-समय पर बहमनी सुलतानों के राजदरबार में आते रहे, और वहां उनको समुचित आदर प्राप्त हुआ। इनमें अनेक व्यक्ति ऐसे भी थे, जो वास्तुकला के विशेषज्ञ थे। पर इसमें सन्देह

नहीं, कि बहमनी राज्य की वास्तुकला पर भी भारतीय हिन्दू-कला की अमिट छाप है, और वहां की अनेक मसजिदें तो प्राचीन हिन्दू-मन्दिरों के रूपान्तर मात्र हैं ।

वास्तुकला के अतिरिक्त संगीत के क्षेत्र में भी हिन्दू और मुसलमानों के सम्पर्क ने अनेक महत्त्वपूर्ण परिणाम उत्पन्न किये । इस्लाम के प्रादुर्भाव के बाद प्रारम्भिक काल में अरब लोगों ने संगीत पर विशेष ध्यान नहीं दिया था, क्योंकि इस्लाम में भावना का बहुत स्थान नहीं था। पर आगे चलकर जब ईरान आदि देशों में इस्लाम का प्रसार हुआ, तो उस धर्म में अनेक ऐसे सम्प्रदाय विकसित हुए, जो भक्ति और भावना को महत्त्व देते थे, और भगवान् की पूजा के लिये संगीत का भी उपयोग करते थे । भारत के मुसलमानों ने भी कव्वाली और खयाल के रूप में अपने मकबरों में संगीत का प्रारम्भ किया । संगीत के ये प्रकार भारत के लिये नये थे, पर बाद में भारतीय संगीताचार्यो ने इन्हें पूरी तरह से अपना लिया, और ये भारतीय संगीत के महत्त्वपूर्ण अंग बन गये ।

(६) भाषा और साहित्य

शुरू में जब तुर्को और अफगानों ने भारत में अपना शासन स्थापित किया, तो उन्होंने सस्कृत और प्राकृत भाषाओं का अपने सिक्कों पर उपयोग किया । यदि बाद के मुसलिम शासक भी यही करते, तो मुसलमानों के लिये भारत के जनसमाज का अंग बन जाना अधिक कठिन न होता । पर अफगान युग के मुसलमान अपने को हिन्दुओं से पृथक् समझते थे, और अपने को उनमें मिला देने के लिये तैयार नही थे । इसी कारण उन्होंने पर्शियन को अपनी राजभाषा बनाया । अंग्रेजी शासन के युग में जो स्थिति अंग्रेजी भाषा की थी, वही अफगान सल्तनत के काल में पर्शियन भाषा की थी । अफगान सुलतान अपने राजकीय आदेशों में पर्शियन भाषा का प्रयोग करते थे और अपने सिक्के भी इसी भाषा में अंकित कराते थे । पर यह होते हुए भी यह सम्भव नहीं था, कि वे इस देश की भाषा की सर्वथा उपेक्षा कर सकते, क्योंकि वे स्थायी रूप से भारत में बस गये थे । इस युग में भारत के जनसाधारण की भाषा हिन्दी थी, जिसमें साहित्य का निर्माण भी प्रारम्भ हो चुका था । अनेक तुर्क व अफगान मुसलमानों ने हिन्दी को अपनाया, और उनमें कविता की रचना भी की । इस प्रकार के लोगों में अमीर खुसरो का नाम विशेषरूप से उल्लेखनीय है । अमीर खुसरो ने तेरहवीं सदी के उत्तरार्ध में अपनी रचना प्रारम्भ की थी, और बलवन, अलाउद्दीन

खिलजी और कुतुबुद्दीन मुबारकशाह का वह समकालीन था । वह पर्शियन का प्रकाण्ड पण्डित था, और इस भाषा में उसने बहुत से ग्रन्थ व काव्य लिखे थे । पर अमीर खुसरो ने अपने भावों को प्रयुक्त करने के लिये केवल पर्शियन भाषा का ही उपयोग नहीं किया । उसने हिन्दी (खड़ी बोली और व्रजभाषा) में भी कवितायें लिखीं, और उनके कुछ उदाहरण अब तक भी उपलब्ध होते हैं । इस्लाम के सूफी सम्प्रदाय के अनेक सन्तों ने भी अपने विचारों का जनसाधारण में प्रचार करने के लिये हिन्दी-भाषा का आश्रय लिया । इनमें कुतबन (पन्द्रहवीं सदी का उत्तरार्ध), मंझन (सोलहवी सदी का पूर्वार्ध) और मलिक मुहम्मद जायसी (सोलहवी सदी) के नाम विशेषरूप से उल्लेखनीय हैं । जायसी हिन्दी के बहुत प्रसिद्ध कवि हुए हैं, और उन्होने 'पदमावत' नाम के एक विशाल महा काव्य की रचना की थी । इसी प्रकार के अन्य भी अनेक मुसलिम सन्त व कवि हुए, जिन्होंने अपनी रचनाओं के लिये हिन्दी-भाषा को अपनाया, और उसमें सुन्दर कविता का सृजन किया । इन कवियों और विद्वानों के कारण हिन्दू और मुसलमान एक दूसरे के बहुत समीप आ गये थे ।

हिन्दी-भाषा की जो शैली 'उर्दू' नाम से प्रसिद्ध है, उसका सूत्रपात भी अफगान युग में ही हो गया था । तुर्क और अफगान शासक राजकीय कार्य में पर्शियन का उपयोग करते थे । भारत के जनसाधारण की भाषा में पर्शियन व अरबी शब्दों का सम्मिश्रण होने से जो नई भाषा विकसित हुई, उसी का नाम उर्दू है । इसे समझ सकना भारतीयों के लिये अधिक कठिन नही था, क्योंकि इसका व्याकरण पूर्ण रूप से भारतीय था । मुसलिम शासकों के सम्पर्क से उन्होंने बहुत से पर्शियन व अरबी शब्दों को अपना लिया था, और इस नई भाषा को लिखने के लिये पर्शियन लिपि का ही उपयोग किया था । पर उर्दू भारत के लिये विदेशी भाषा नहीं थी, क्योंकि उसके ८० प्रतिशत से भी अधिक शब्द भारत के जनसाधारण की भाषा से लिये गये थे । उर्दू भाषा का विकास इस युग के इतिहास की एक महत्त्वपूर्ण घटना है, क्योंकि इसके कारण हिन्दू और मुसलमान एक दूसरे के बहुत समीप आ गये थे, और उनका अन्तर बहुत कुछ दूर हो गया था ।

इसी प्रसंग में हमें हिन्दी-भाषा के विकास और साहित्य के विषय में भी कुछ प्रकाश डालना चाहिये, क्योंकि यह इस युग के जनसाधारण की भाषा थी । प्राचीन समय में भारत की भाषा संस्कृत थी, और राजा व विद्वान् उसी का प्रयोग करते थे । यद्यपि छठी सदी ई० पू० में सर्वसाधारण जनता प्राकृत व

पालि भाषा बोलती थी, पर विद्वान् कवि व राजा संस्कृत को ही प्रयुक्त करते थे। महात्मा बुद्ध ने अपनी शिक्षा का जनता में प्रचार करने के लिये पालि भाषा को अपनाया, और इसीलिये बौद्ध त्रिपिटक का निर्माण पालि में ही हुआ। अशोक जैसे बौद्ध-सम्राट् ने अपनी राजाज्ञाओं के लिये पालि भाषा का आश्रय लिया, क्योंकि वह अपने आदेशों के जनसाधारण तक पहुंचाने के लिये उत्सुक था। मौर्य-युग के बाद जब वैदिक धर्म का पुनरुत्थान हुआ, तो साथ ही संस्कृत भाषा का भी एक वार फिर उत्कर्ष हुआ। पर क्योंकि उस समय सर्वसाधारण लोगों की भाषा प्राकृत थी, अतः अनेक कवियों ने उसमें भी अपने काव्य लिखे, और सातवाहन आदि अनेक राजवंशों द्वारा प्राकृत को संरक्षण भी प्राप्त हुआ। भाषा कभी एक रूप मे स्थिर नही रहती, उसमें निरन्तर विकास होता रहता है। भारत की भाषा में भी निरन्तर विकास हो रहा था, और इसी से अनेक अपभ्रंश भाषाओं का निर्माण हुआ। इन अपभ्रंश भाषाओं में अन्यतम भाषा हिन्दी थी, जिसका विकास सातवी सदी ईस्वी में ही हो गया था। यद्यपि इस युग के पण्डित, विद्वान्, कवि व राजा अपने कार्यों के लिये इस अपभ्रंश भाषा का प्रयोग नही करते थे, पर अनेक बौद्ध सन्तों ने अपने विचारों का प्रचार करने के लिये इसे अपनाया। इनमें आचार्य सरह या सरोजवज्र का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। ऐतिहासिको के अनुसार इनका समय सातवीं सदी ईस्वी में था, और ये वज्रयान (बौद्ध-धर्म का अन्यतम सम्प्रदाय) के सुप्रसिद्ध 'सिद्ध' थे। 'जहि मन पवन न संचरइ, रवि ससि नाहि पवेस। तहि बट चित्त विसाम करु, सरेहे कहिअ उवेस ॥' यह एक दोहा इनके हिन्दी-काव्य का निदर्शन करने के लिये पर्याप्त है। इसे पढ़कर यह भलीभांति अनुभव किया जा सकता है, कि सातवीं सदी मे ही हिन्दी ने अपने उस रूप को अनेक अंशों में प्राप्त कर लिया था, जिसमें आगे चलकर बहुत-से कवियों ने अपने काव्यों की रचना की। सरह के समान अन्य भी कितने ही वज्रयानी सिद्धों ने हिन्दी में अपने उपदेश किये, और जनसाधारण की इस भाषा को अपने मन्तव्यों के प्रतिपादन के लिये प्रयुक्त किया। वज्रयानी सिद्धों के समान नाथपन्थ के सन्तों ने भी हिन्दी-भाषा को अपनाया, और गोरखनाथ जैसे आचार्यो ने इसी भाषा में अपनी 'साखियां' या 'बानियां' लिखीं। गोरखनाथ के समय के विषय में ऐतिहासिकों में बहुत मतभेद है। कुछ विद्वान् उन्हें नवीं सदी में हुआ मानते हैं, और कुछ चौदहवीं सदी में। वज्रयान और नाथपन्थ की परम्परा का भारत के अन्य सम्प्रदायों ने भी अनुसरण किया, और मुसलिम सूफी सन्त भी इस परम्परा को अपनाये

बिना नहीं रह सके। परिणाम यह हुआ, कि जिस समय भारत में मुसलिम शासन स्थापित हुआ, हिन्दी इस देश में न केवल जनसाधारण की भाषा थी, अपितु विविध धर्म-प्रचारक भी अपने उपदेशों व काव्यों में इसी का उपयोग करते थे।

बारहवीं सदी के अन्त में जब भारत पर मुसलमानों के आक्रमण प्रबल रूप से प्रारम्भ हुए, तो इस देश के राजवंशों व सैनिकों के सम्मुख एक नई समस्या उत्पन्न हुई। उन्हें अब एक विदेशी व विधर्मी शक्ति का मुकाबला करना था, और इसके लिये उनमें अनुपम शौर्य व साहस का संचार करने की आवश्यकता थी। इसी कारण इस समय उस काव्य-परम्परा का प्रादुर्भाव हुआ, जिसे 'वीर-गाथा काव्य' कहा जाता है। दसवीं सदी के अन्त में तुर्कों के आक्रमणों के समय में ही इन वीर काव्यों का निर्माण प्रारम्भ हो गया था, और खुमान रासो व बीसल देव रासो जैसे काव्यों की रचना हुई थी। पर अफगान युग में इस प्रवृत्ति ने बहुत जोर पकड़ा, और चन्द बरदाई, भट्ट केदार, मधुकर कवि, जगनिक और श्रीधर जैसे कवियों ने अनेक उत्कृष्ट वीर काव्यों की रचना की। इन कवियों के काव्य इस युग की हिन्दी में थे, और इनके कारण जनता में वीर भावना के प्रादुर्भाव में बहुत सहायता मिली थी। पर इन वीर काव्यों के कारण वह ऐतिहासिक प्रक्रिया रुकी नहीं, जिसका प्रारम्भ शहाबुद्दीन गोरी के आक्रमणों से हुआ था। शीघ्र ही भारत के बड़े भाग पर मुसलिम आक्रान्ताओं का आधिपत्य स्थापित हो गया, और इस देश की क्षात्रशक्ति के क्षय के साथ ही वीर काव्यों का भी अन्त हो गया। राजपूताने के वीर राजवंशों के आश्रय में रहनेवाले भाट और चारण लोग बाद में भी वीरता के गीतों का सृजन करते रहे, पर हिन्दी की मुख्य काव्य-धारा का रुख अब परिवर्तित हो गया था, और उसमें उस भक्ति-रस का प्रवाह शुरू हुआ था, जो एक संतप्त व पीड़ित जनसमाज को शान्ति व सन्तोष का सन्देश देती है।

पर यह स्पष्ट है, कि अफगान युग में भारत की मुख्य साहित्यिक भाषा हिन्दी थी। इसीलिये मुसलमान लोग भी उसके प्रभाव में आये बिना नहीं रह सके। उन्होंने भी अपनी साहित्यिक प्रतिभा को अभिव्यक्त करने के लिये उसे अपनाया, और सर्वसाधारण लोगों के सम्पर्क में आने के उद्देश्य से पर्शियन शब्दों से मिश्रित एक ऐसी हिन्दी-भाषा का उपयोग शुरू किया, जो आगे चलकर उर्दू नाम से हिन्दी की ही एक पृथक् व स्वतन्त्र शैली बन गई।

पर इससे यह नहीं समझना चाहिये, कि भारत के मुसलिम शासकों ने अपनी

प्रिय पर्शियन भाषा को प्रोत्साहित करने व उसमें साहित्य का निर्माण कराने की ओर कोई ध्यान नहीं दिया। दिल्ली के अफगान व तुर्क सुलतान पर्शियन भाषा और साहित्य के बड़े प्रेमी थे, और उनके संरक्षण में अनेक विद्वान् पर्शियन भाषा मे साहित्य का निर्माण करने के लिये तत्पर रहते थे। अमीर खुसरो ने बड़े गर्व के साथ लिखा है, कि दिल्ली पर्शियन साहित्य का बड़ा केन्द्र था, और इस क्षेत्र में बुखारा (मध्य एशिया में) का मुख्य प्रतिस्पर्धी था। इस युग में मध्य एशिया व ईरान आदि मुसलिम देशों पर मगोल लोगों के आक्रमण बड़ी तेजी के साथ हो रहे थे। मुसलिम शासक मंगोलों का मुकाबला करने में असमर्थ थे। परिणाम यह हुआ, कि मध्य एशिया, ईरान, ईराक आदि से पर्शियन भाषा के बहुत से विद्वान् दिल्ली आकर आश्रय लेने के लिये विवश हुए, और भारत के मुसलिम सुलतानों ने उत्साहपूर्वक उनका स्वागत किया। मुसलिम देशों के इतने अधिक विद्वान् इस समय दिल्ली के सुलतानों के दरबार मे एकत्र हो गये थे, कि अलाउद्दीन के सम्बन्ध में निम्नलिखित वाक्य बरानी द्वारा लिखे गये थे—"सबसे अधिक आश्चर्य की बात, जो अलाउद्दीन खिलजी के विषय में कही जा सकती है, वह यह है कि उसके आश्रय में विविध देशों और जातियों के कितने ही ऐसे विद्वान् एकत्र हो गये हैं, जो प्रत्येक विज्ञान के प्रकाण्ड पण्डित और प्रत्येक कला के विशेषज्ञ है। इन प्रतिभाशाली विद्वानों की उपस्थिति के कारण दिल्ली नगर बगदाद के लिये ईर्ष्या का पात्र, कैरो का प्रतिस्पर्धी और कुस्तुन्तुनिया का समकक्ष बन गया है।" मुहम्मद तुगलक जहां स्वयं कवि, दार्शनिक और विज्ञान-वेत्ता था, वहां साथ ही विद्वानों का आश्रय दाता भी था।

अफगान-युग के उन विद्वानों में जिन्होने पर्शियन भाषा के साहित्य को समृद्ध किया, कतिपय के नाम उल्लेखनीय है। अमीर खुसरो का जिक्र इसी प्रकरण में ऊपर किया जा चुका है। उसने यद्यपि हिन्दी में भी कवितायें लिखीं, पर उसका मुख्य कार्य पर्शियन भाषा के गद्य और पद्य साहित्य को समृद्ध करना था। अलाउद्दीन खिलजी के समकालीन महाकवि शेख निजामुद्दीन हसन ने न केवल भारत में अपितु विदेशों में भी ख्याति प्राप्त की थी। मुहम्मद तुगलक के समय मे मौलाना मोयाउद्दीन उमरानी ने मुसलिम धर्मशास्त्र और विधान-शास्त्र की अनेक प्रामाणिक पुस्तकों पर टीकायें लिखीं। फीरोजशाह तुगलक के शासनकाल में काजी अब्दुल मुक्तदिन शानिही, मौलाना ख्वाजमि और मौलाना अहमद थानेश्वरी आदि कितने ही विद्वान् और कवि हुए, जिन्होंने अपनी रचनाओं द्वारा पर्शियन साहित्य को समृद्ध किया। केवल दिल्ली के

सुलतान ही नही, अपितु जौनपुर, माण्डू, अहमदाबाद और दौलताबाद आदि के सुलतान भी पर्शियन भाषा के विद्वानों के आश्रयदाता थे, और उन्होंने पर्शियन भाषा और साहित्य को बहुत प्रोत्साहित किया।

सुलतानों का आश्रय प्राप्त करनेवाले लेखकों ने केवल कविता व धार्मिक ग्रन्थ ही नही लिखे, अपितु ऐतिहासिक ग्रन्थों की भी रचना की। पर्शियन भाषा में इतिहास लिखनेवाले इन विद्वानों में मिन्हाजुद्दीन, अमीर खुसरो, जियाउद्दीन बरानी और याहिया बिन अहमद सरहिन्दी के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इनमें भी जियाउद्दीन बरानी सबसे महत्त्वपूर्ण है, और उसके लिये इतिहास द्वारा हमें अफगान युग के सुलतानो के राजनीतिक इतिहास से परिचय प्राप्त करने मे बहुत सहायता मिलती है।

अफगान सुलतानों के आश्रय में केवल पर्शियन भाषा के साहित्य का ही विकास नही हुआ, अपितु भारत की प्रान्तीय भाषाओं को भी प्रोत्साहन मिला। बंगाल के सुलतान नसरतशाह (१५१८ ईस्वी) ने महाभारत का बंगाली भाषा में अनुवाद कराया। प्रसिद्ध कवि विद्यापति ने सुलतान नसरतशाह और घियासुद्दीन महमूद शाह (१५३३ ई०) की बहुत प्रशंसा की है, और उन्हें बंगाली भाषा का संरक्षक कहा है। इसी युग में कृत्तिवास ने बंगाली भाषा में रामायण की रचना की, जिसका बंगाल में प्रायः वही स्थान है, जो उत्तरी भारत में तुलसी-कृत रामायण का है। कृत्तिवास को बंगाल के सुलतानों का आश्रय प्राप्त था। सुलतान हुसैनशाह (१४६३ ई०) के संरक्षण में मालाधर बसु ने भागवत का बंगाली भाषा में अनुवाद किया, और इस उपलक्ष्य में सुलतान ने उसे 'गुणराज खां' की उपाधि से विभूषित किया। हुसैनशाह के सेनापति परागल खां ने महाभारत का एक अन्य अनुवाद बंगाली भाषा मे कराया, जो कार्य कवीन्द्र परमेश्वर ने सम्पन्न किया। परागल खां के पुत्र चूती खां ने, जो कि बंगाल के सुलतान के अधीन चटगांव का सूबेदार था, महाभारत के अश्वमेघ पर्व का श्रीकर नन्दी द्वारा बंगाली अनुवाद कराया। इस प्रकार यह स्पष्ट है, कि इस युग के सुलतान, विशेषतया बंगाल, गुजरात आदि के प्रान्तीय सुलतान, भारत की प्रान्तीय भाषाओं के भी संरक्षक थे।

इस युग में संस्कृत भाषा में भी अनेक पुस्तकें लिखी गई। पर यह कार्य प्रायः उन प्रदेशों में हुआ, जहां अभी मुसलमान शासन स्थापित नहीं हुआ था। इन प्रदेशों की सभ्यता और संस्कृति पर हम एक पृथक् अध्याय में प्रकाश डालेंगे।

सहायक ग्रंथ

Tripathi : Aspects of Muslim Administration.

Muhammad Ashraf : Life and Conditions of the People of Hindustan.

Havell : Ancient and Medieval Architecture in India.

" : History of Aryan Rule in India.

Mazumdar etc. : An Advanced History of India.

छब्बीसवां अध्याय

हिन्दू-धर्म की नवीन जागृति

(१) मध्ययुग के भारतीय धर्म

मुसलिम धर्म से सम्पर्क होने पर भारत के पुराने हिन्दू-धर्म में नवजीवन का संचार हुआ। एक विदेशी व विधर्मी जाति से परास्त हो जाना भारत के लिये एक असाधारण घटना थी। मुसलिम आक्रमण से पूर्व भी भारत पर विदेशी लोगों के आक्रमण हुए थे, पर या तो ये आक्रान्ता इस देश में स्थायी रूप से अपना शासन स्थापित करने में असमर्थ रहे थे, और या इस देश में बसकर यहां की सभ्यता और संस्कृति के रंग में ही रंग गये थे। दारयवहु और सिकन्दर के आक्रमण विजययात्रा मात्र थे। इस देश में अपने स्थायी आधिपत्य को स्थापित करने में वे असमर्थ रहे थे। यवन, शक, पार्थियन, कुशाण और हूण आक्रान्ता भारत में अपनी राजशक्ति को कायम करने में आंशिक रूप से सफल हुए, पर भारतीयों के सम्पर्क से वे पूर्णतया भारतीय बन गये। उन्होंने इस देश की भाषा, सभ्यता, धर्म और संस्कृति को अपना लिया। पर तुर्कों और अफगानों के रूप में जिन नवीन हूणों ने भारत में अपने राज्य स्थापित किये थे, वे एक ऐसे धर्म के अनुयायी थे, जिसमें अपूर्व जीवनीशक्ति थी, और जो सम्पूर्ण मानव-समाज को आत्मसात् करने की महत्त्वाकांक्षा रखता था। मनुष्यमात्र की समता और ईश्वर व रसूल पर दृढ़ विश्वास ऐसे तत्त्व थे, जो इस नये धर्म को अनुपम शक्ति प्रदान करते थे। इन्हीं के कारण मिस्र, सीरिया, ईरान आदि पुराने धर्म इस्लाम के सम्मुख नहीं टिक सके। मुसलमान कहते थे, जो कोई मनुष्य अल्लाह और रसूल पर ईमान ले आयगा, उसमें ऊंच-नीच का भेद नहीं रहेगा। अल्लाह और रसूल पर विश्वास मनुष्य को न केवल इस लोक में सुख प्रदान करेगा, पर बहिश्त का द्वार भी उसके लिये खुल जायगा। परम पद को प्राप्त करने का यह कितना सीधा और सरल उपाय था। इहलोक में अभ्युदय और मृत्यु के बाद निःश्रेयस् की प्राप्ति के लिये इससे सुगम अन्य उपाय

क्या हो सकता था ? भारत में इस्लाम का प्रवेश होने पर इस देश के धार्मिक नेताओं के सम्मुख एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न उपस्थित हुआ । क्या वज्रयान और शाक्त सम्प्रदायों की गुह्य साधनाओं, मीमांसकों के कर्मकाण्ड और अद्वैतवादी स्मार्तों के ज्ञानमार्ग की अपेक्षा इस्लाम का यह मार्ग (अल्लाह और रसूल में विश्वास) अधिक क्रियात्मक नही है ? यह तो स्पष्ट ही था, कि इस्लाम को स्वीकृत करके मनुष्य इहलोक में अपना अभ्युदय कर सकता था । उसे न जजिया कर देने की आवश्यकता रहती थी, और राजकीय सेवा का मार्ग उसके लिये खुल जाता था । केवल धर्म-परिवर्तन करके कोई भी हिन्दू भारत के शासक वर्ग का अंग बन सकता था । यदि वह नीच जाति का या अछूत हो, तो इस्लाम की दीक्षा लेकर वह 'पापयोनि' न रहकर 'पाक' हो जाता था । और मृत्यु के बाद ? इस्लाम कहता था—अल्लाह और रसूल में ईमान लाकर मनुष्य बहिश्त को प्राप्त कर सकता है । सर्वसाधारण लोगो की दृष्टि में निःश्रेयस्, स्वर्ग या बहिश्त का यह उपाय वाममार्गियों की गुह्य साधनाओं व मीमांसकों के कर्मकाण्ड की अपेक्षा किसी भी प्रकार हीन नहीं था ।

यदि इस युग के हिन्दू-धर्म में जीवनी शक्ति, कल्पना व चिन्तन का अभाव होता, तो इस्लाम के सम्पर्क के कारण उसकी भी वही गति होती, जो ईरान, मिस्र आदि के पुराने धर्मो की हुई थी । बिजली की लहर निर्बल मनुष्य के जीवन का अन्त कर देती है, पर उन मनुष्यों में वह जीवन का संचार करती है, जिनमें अभी शक्ति का बहुत अधिक क्षय नहीं हो चुका होता । इस्लाम के सम्पर्क से हिन्दू-धर्म में नवजीवन का सचार हुआ । इस्लाम उसे नष्ट नहीं कर सका, क्योंकि उसकी शक्ति का सर्वथा ह्रास नहीं हो गया था । उसके सम्पर्क से हिन्दू-धर्म में नवीन जागृति उत्पन्न हुई, जिसके कारण हिन्दू-धर्म पहले की अपेक्षा भी बहुत अधिक सबल हो गया ।

इससे पूर्व कि हम हिन्दू-धर्म की इस नवीन जागृति पर प्रकाश डालें, यह उपयोगी होगा कि इस्लाम के प्रवेश के समय भारत के विविध धर्मों की जो दशा थी, उसका अत्यन्त संक्षिप्त रूप से उल्लेख कर दें । इस सम्बन्ध में पिछले एक अध्याय में विशद रूप से विचार किया भी जा चुका है ।

बारहवीं सदी में बौद्ध-धर्म भारत से प्रायः नष्ट हो चुका था । पूर्वी भारत (मगध और बंगाल) में अभी इस धर्म की सत्ता थी, पर वह प्रधानतया बड़े-बड़े विहारों में ही केंद्रित था, जिनमें हजारों भिक्षु निवास करते थे । इस युग के प्रायः सभी बौद्ध वज्रयान सम्प्रदाय के अनुयायी थे, जो रहस्यमयी क्रियाओं

और गुह्य साधनाओं में विश्वास रखते थे। जनसमाज के हित व प्राणिमात्र के कल्याण की इन्हें जरा भी चिन्ता नहीं थी। वज्रयानी बौद्धों के अनुकरण में पौराणिक हिन्दू-धर्म में भी वाममार्ग का विकास हो गया था, जो वज्रयान के समान ही गुह्य साधनाओं में विश्वास रखता था। कुमारिल भट्ट द्वारा यज्ञों के कर्मकाण्ड के प्रति एक बार फिर विश्वास उत्पन्न करने का प्रयत्न किया गया था, और अनेक मीमांसाशास्त्री तर्क द्वारा याज्ञिक अनुष्ठानों के वैज्ञानिक व उपयोगी रूप का प्रतिपादन करते थे। पर मीमांसकों का कर्मकाण्डप्रधान धर्म सर्वसाधारण जनता में बहुत लोकप्रिय नहीं हो सकता था, क्योंकि याज्ञिक अनुष्ठान व्ययसाध्य थे, और केवल सम्पन्न लोग ही उनका अनुसरण कर सकते थे। शंकराचार्य ने भारत में एक नये धार्मिक आन्दोलन का प्रारम्भ किया, जिसके दार्शनिक अंश को 'वेदान्त' व साधना अंश को 'स्मार्तमार्ग' कहते थे। वेदान्त के अनुसार संसार में केवल ब्रह्म ही सत्य है, अन्य सब मिथ्या है। ब्रह्म नित्य शुद्ध सत् चित् और आनन्दरूप है। जीव ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं है, और इद्रियों से प्रतीयमान यह संसार मिथ्या है—यह यथार्थ ज्ञान प्राप्त कर लेना ही वस्तुतः मोक्षप्राप्ति है। किन्तु इस ज्ञान-साधना के लिये यह आवश्यक है, कि मनुष्य वेदशास्त्र द्वारा विहित वर्णाश्रम-धर्म का भलीभांति पालन कर अपने अन्तःकरण को शुद्ध करे। यह आवश्यक नहीं, कि यह शुद्धि एक ही जन्म में की जा सकती है। इसके लिये अनेक जन्मों व निरन्तर अभ्यास की आवश्यकता होगी। बौद्ध (वज्रयान), शाक्त (वाममार्ग) और पौराणिक (स्मार्त) धर्मों के अतिरिक्त जैन-धर्म भी इस युग में भारत के कुछ प्रदेशों में विद्यमान था, और उसके धर्माचार्य भी समय के प्रवाह से अछूते नहीं रह सके थे। जैनों में भी देवसेन (दसवी सदी) और मुनि राम-सिंह (ग्यारहवीं सदी) आदि कितने ही ऐसे धर्माचार्य उत्पन्न हुए, जिन्होंने कि शंकराचार्य के सिद्धान्तों से प्रभावित होकर 'ज्ञान' की उपयोगिता पर जोर दिया। उन्होंने कहा, कि मनुष्य को चाहिये कि वह ज्ञान के उस एक अग्निकण को अपना ले, जो प्रज्वलित होकर पाप व पुण्य को क्षण भर में भस्म कर देता है। विषय-सुखों का उपभोग करता हुआ भी मनुष्य अपने मन को इस ढंग से ढाल सकता है, कि इन विषय-सुखों का कोई प्रभाव उसके मन पर न पड़े। इस युग में अन्य धर्माचार्यों के समान जैन लोग भी सत्य ज्ञान और मन की साधना पर बल देते थे। हिन्दू-धर्म का शैव सम्प्रदाय भी इस युग में साधना पर जोर देता था, और वज्रयानी बौद्धों के समान अनेक गुह्य उपायों द्वारा सिद्धि प्राप्त करने का प्रति-पादन करता था। पुराने शैवों और वज्रयानी बौद्धों के सम्मिलित प्रभाव द्वारा

यह आवश्यक हो गया था, कि इस देश के धार्मिक नेता हिंदू धर्म को एक ऐसा रूप प्रदान करें, जो मुसलिम शासकों और धर्मप्रचारकों से हिन्दू-धर्म की रक्षा कर सके। यही कारण है, कि इस युग में अनेक ऐसे सन्त-महात्मा उत्पन्न हुए, जिन्होंने जाति भेद का विरोध करते हुए यह प्रतिपादित किया, कि भगवान् की दृष्टि में न कोई मनुष्य नीच है, और न कोई उच्च। अपने गुण, कर्म, सदाचार व भक्ति द्वारा ही कोई मनुष्य ऊंचा पद प्राप्त करता है। साथ ही, इन सन्त-महात्माओं ने यह भी प्रतिपादित किया, कि ईश्वर पतितपावन है, भक्ति-द्वारा प्रसन्न होता है, भक्त का उद्धार करने के लिये उसकी सहायता करता है, और भगवान् तक पहुंचने के लिये गुरु का बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान होता है। इस्लाम के समान इस युग के भारतीय धार्मिक आंदोलन भी ईश्वर पर दृढ़ विश्वास, उसकी भक्ति और गुरु (रसूल) के महत्त्व पर बल देने लगे, और उन्होंने भगवान् के एक ऐसे रूप को जनता के सम्मुख उपस्थित किया, जो दुष्टों का दलन करने और साधु लोगों का परित्राण करने के लिये मानव तन धारण करने में भी संकोच नही करता। इस अध्याय में हम भारत के इन्ही नये धार्मिक आन्दोलनों पर प्रकाश डालेंगे, क्योंकि इनके कारण हिन्दू-धर्म इस्लाम के आक्रमण से अपनी रक्षा करने में समर्थ हुआ था, और उसमें एक ऐसी नई जागृति उत्पन्न हो गई थी, जो अनेक अशो में इस्लाम को भी अपने प्रभाव में ले आई थी।

(२) नये धार्मिक आन्दोलन

नामदेव—भक्ति के आन्दोलन की जो धारा दक्षिणी भारत में प्रवाहित हो रही थी, वह धीरे-धीरे उत्तर की ओर आगे बढ़ने लगी, और इस्लाम के आक्रमणों द्वारा उत्पन्न परिस्थितियों में उसने बहुत उपयोगी कार्य किया। इस भक्तिमार्ग को सर्वसाधारण जनता में लोकप्रिय बनाने में जिन सन्तों ने विशेषरूप से कार्य किया, उनमें नामदेव का स्थान बहुत महत्त्वपूर्ण है। ये महाराष्ट्र के निवासी थे, पर इन्होंने दक्षिणी व उत्तरी भारत में दूर-दूर तक यात्रायें कीं, और जनता को अपने मार्ग का उपदेश किया। मराठी भाषा में विरचित अभंगों के अतिरिक्त इनकी हिन्दी रचनायें भी प्रचुर परिमाण में मिलती है। इनके काल के सम्बन्ध में ऐतिहासिकों में मतभेद है। डा० भण्डारकर ने इनका समय तेरहवी सदी में प्रतिपादित किया है, यद्यपि अनेक दन्तकथाओं के अनुसार ये मुहम्मद तुगलक (चौदहवी सदी) के समकालीन थे। नामदेव के समय में ही महाराष्ट्र के प्रसिद्ध सन्त ज्ञानदेव भी हुए, जिन्होंने अपने को गुरु गोरखनाथ की शिष्य-परम्परा के अन्तर्गत किया है। नामदेव

सगुण भक्तिमार्ग के अनुयायी थे, यद्यपि बाद में वे ज्ञानदेव के संग के कारण नाथ-पन्थ के प्रभाव में भी आ गये थे। इस समय भारत के बहुत से प्रदेशों में नाथपन्थी योगियों के मत का प्रचार था, जो अन्तर्मुख साधना द्वारा सर्वव्यापक निर्गुण ब्रह्म को ही मोक्ष का साधन मानते थे। ज्ञानदेव के सम्पर्क में आकर सन्त नामदेव का झुकाव भी योगियो के मार्ग की ओर हो गया। यही कारण है, कि उनकी रचना में भक्तिमार्ग द्वारा सगुण ब्रह्म की उपासना और ज्ञान व साधना द्वारा निर्गुण ब्रह्म का साक्षात्कार—दोनो ही प्रकार के विचार पाये जाते हैं।

महाराष्ट्र में सन्त नामदेव ने भगवान् की भक्ति व प्रेम की जो धारा प्रवाहित की, अनेक मुसलमान भी उससे प्रभावित हुए, और वे उसके शिष्य बन गये। यह सर्वथा उचित भी था, क्योकि नामदेव के भक्तिमार्ग के लिये न मन्दिरों की आवश्यकता थी, और न मसजिदों की। उनकी दृष्टि में हिन्दू और मुसलमान सब एक समान थे। जिसे सत्य ज्ञान हो, वही उनकी दृष्टि में उत्कृष्ट था। नामदेव की निम्नलिखित वाणियां उनकी विचारसरणी को स्पष्ट करने के लिये पर्याप्त हैं:—

हिन्दू अन्धा, तुरकौ काना। दुवौ ते ज्ञानी सयाना ॥

हिन्दू पूजै देहरा, मुसलमान मसीद। नामा सोई सेविया जंह देहरा न मसीद ॥

जिस प्रकार के विचार आगे चलकर उत्तरी भारत में सन्त कबीर ने प्रगट किये, प्राय. वैसे ही उनसे कुछ समय पूर्व महाराष्ट्र में सन्त नामदेव ने अभिव्यक्त किये। धीरे-धीरे ये ही विचार सम्पूर्ण भारत में व्याप्त हो गये, और इनके कारण भारत के विविध धर्मों के स्वरूप में बहुत कुछ परिवर्तन आ गया।

स्वामी रामानन्द—भारत में इस्लाम के प्रवेश के बाद हिन्दू-धर्म में जो नवीन जागृति हुई, उसका श्रेय अनेक अंशों में स्वामी रामानन्द को है। ये रामानुजाचार्य की शिष्य-परम्परा में थे, और पन्द्रहवी सदी के अन्तिम भाग में हुए थे। इनके समय में दिल्ली का सुल्तान सिकन्दर लोदी था, जिसका शासनकाल १४८९ से १५१७ ईस्वी तक था। श्रीरामार्चन-पद्धति नामक पुस्तक में रामानन्द ने अपनी पूरी गुरु-परम्परा दी है। उसके अनुसार वे रामानुजाचार्य के बाद १४ वीं शिष्य-पीढ़ी में हुए थे। उनके गुरु राघवानन्द काशी में निवास करते थे, और उन्हीं से इन्होंने दीक्षा ग्रहण की थी। रामानुजाचार्य व उनकी शिष्य-परम्परा के लोग वैकुण्ठवासी भगवान् विष्णु के उपासक थे, और उन्हीं की भक्ति को मोक्ष का साधन मानते थे। रामानन्द ने भक्ति के इस मार्ग में एक नये तत्त्व का समावेश किया। उन्होंने भगवान् की भक्ति के लिये वैकुण्ठवासी अगोचर विष्णु

के स्थान पर मानव-शरीर धारण कर राक्षसों का संहार करनेवाले विष्णु के अवतार राम का आश्रय लिया, और उन्हीं के प्रेम व भक्ति को मोक्ष का साधन माना। राम और कृष्ण को विष्णु का अवतार मानने का विचार इस युग से पूर्व भी भारत में विद्यमान था। पर राम के रूप में ही विष्णु की भक्ति करने के विचार के प्रवर्तक स्वामी रामानन्द ही थे। सम्भवतः, विष्णु के अवतारों की पूजा पहले भी भारत में प्रचलित थी, पर रामानन्द ने राम की भक्ति को इतना व्यापक रूप प्रदान किया, कि वह हिन्दू-धर्म का प्रधान तत्त्व बन गई।

रामानन्द से पूर्व रामानुज-सम्प्रदाय में केवल द्विजातियों को ही दीक्षा दी जाती थी, पर रामानन्द ने रामभक्ति का द्वार सब जातियों के लिये खोल दिया। भक्तमाल के अनुसार उनके प्रधान शिष्य निम्नलिखित थे---अनन्तानन्द, सुखानन्द, सुरसुरानन्द, नरहर्यानन्द, भवानन्द, पीपा, कबीर, सेन, धन्ना, रैदास, पद्मावती और सुरसुरी। इन बारह शिष्यों में से कबीर जाति के जुलाहे थे, और सेन नाई। रैदास जाति के चमार थे। नीची समझे जानेवाली जातियों के लोगों को अपनी शिष्यमण्डली में सम्मिलित करना वैष्णव आचार्यो के लिये एक नई बात थी। इस्लाम के प्रवेश के कारण हिन्दू-धर्म को जो एक जबर्दस्त धक्का लगा था, और उसमें जो एक नई स्फूर्ति उत्पन्न हुई थी, यह उसी का परिणाम था। अपने मन्तव्यों का प्रचार करने के लिये स्वामी रामानन्द ने बौद्धों के भिक्षुओं के समान साधुओं के एक नये दल का संगठन किया, जो वैरागी कहाते हैं। वैरागी साधुओं का सम्प्रदाय अब तक भी विद्यमान है, और अयोध्या व चित्रकूट उनके प्रधान केन्द्र हैं।

चैतन्य---स्वामी रामानन्द के समय में ही बंगाल में एक प्रसिद्ध वैष्णव सन्त हुए, जिनका नाम चैतन्य था। उनका समय १४८५ से १५३३ तक था। वे नदिया के एक ब्राह्मणकुल में उत्पन्न हुए थे, और चौबीस वर्ष की आयु में सांसारिक जीवन का परित्याग कर उन्होंने अपना सब ध्यान हरि की भक्ति में लगा दिया था। वे हरि या विष्णु के कृष्णावतार रूप के उपासक थे, और कृष्ण-भक्ति को ही मोक्ष-प्राप्ति का साधन मानते थे। कृष्णदास कविराज ने चैतन्यचरितामृत ग्रन्थ में उनकी जीवनी को विशद रूप से लिखा है। उनके अनुसार कृष्ण के प्रति प्रेम ही मानव-जीवन की परम साधना है। कृष्ण की भक्ति में वे ऊंच-नीच के भेदभाव को कोई स्थान नहीं देते थे। उनका एक शिष्य हरिदास जाति से अछूत था। हरिदास ने एक बार चैतन्य से कहा, कि वे उसे स्पर्श न करें, क्योंकि वह अछूत है। इस पर चैतन्य आवेश में आ गये। प्रेम के आवेश में उन्होंने हरिदास को छाती से

लगा लिया, और उससे कहा—तुम्हारा यह शरीर मेरा अपना है, इसमें एक ऐसी आत्मा का निवास है, जो प्रेम और समर्पण की भावना से परिपूर्ण है, तुम्हारा यह शरीर एक मन्दिर के समान पवित्र है। चैतन्य अपने शिष्यों को उपदेश करते थे, कि वे प्रेम की वेदी पर अपने सर्वस्व को अर्पण कर दें। इसीलिये ब्राह्मण और शूद्र, हिन्दू और मुसलमान—सब उनके सन्देश को भवित के साथ सुनते थे, और उनके अनुकरण में अपनी जाति व धर्म के भेद को भूल जाते थे।

कबीर—रामानन्द के शिष्यों में कबीर सर्वप्रधान थे। उनकी जाति, जन्म, कुल आदि के सम्बन्ध में कोई निश्चित मत स्थिर नहीं किया जा सकता। हिन्दू लोग उन्हें हिन्दू मानते है, और मुसलमान उन्हें मुसलिम समझते हैं। इस युग की धार्मिक प्रवृत्तियों ने हिन्दुओं और मुसलमानों को किस अंश तक एक-दूसरे के समीप ला दिया था, कबीर इसके सर्वोत्तम उदाहरण है। इस सम्बन्ध में सब एकमत है, कि उनका जन्म जुलाहा-कुल में हुआ था, और काशी में उन्होंने अपने जीवन का अच्छा बड़ा भाग व्यतीत किया था। कबीर का मुख्य कार्य यह था, कि उन्होने हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच की गहरी खाई को पाटने तथा इन दोनों धर्मो में समन्वय और सहयोग की भावना को विकसित करने का प्रयत्न किया। हिन्दू और मुसलिम धर्मों के बाह्य भेदों, रूढ़ियों और आडम्बरों की उपेक्षा करके उन्होंने धर्म की आन्तरिक एकता को प्रतिपादित किया।

कबीर रामानन्द के शिष्य थे, जो राम की भक्ति पर बल देते थे। पर इस युग की बहुसंख्यक भारतीय जनता नाथपन्थियों के प्रभाव के कारण भक्तिमार्ग से विमुख थी, और ऐसी अन्तःसाधना पर जोर देती थी, जिसमें प्रेमतत्त्व का अभाव था। ये नाथपन्थी लोग भगवान् को निर्गुण रूप में देखते थे, और निर्गुण व निराकार ब्रह्म के लिये भक्ति का विषय बन सकना सम्भव नही था। रामानन्द के शिष्य होते हुए भी सन्त कबीर पर नाथपन्थी सम्प्रदाय का प्रभाव था। इसीलिये उन्होंने राम या कृष्ण के रूप में भगवान् की उपासना न करके निर्गुण व निराकार रूप में ही उसकी पूजा की। पर यह करते हुए उन्होंने प्रेम के मार्ग को अपनाया, और वैष्णव भक्तों के समान निर्गुण भगवान् को प्रेम करने व उसकी भक्ति करने का उपदेश दिया। इस प्रकार कबीर द्वारा प्रतिपादित मत नाथपन्थी योगियों और रामानन्द के भक्तिमार्ग का सुन्दर समन्वय था। अपने गुरु रामानन्द के समान कबीर भी राम के उपासक थे, पर उनके राम धनुर्धारी सीतापति राम न होकर ब्रह्म के पर्याय मात्र थे। जिस प्रकार कबीर ने नाथ-पन्थी सम्प्रदाय के निर्गुण भगवान् की प्रेमद्वारा उपासना करने का उपदेश दिया,

वैसे ही इस युग के अन्य सन्तों का अनुसरण कर ऊंच-नीच और हिन्दू-मुसलिम के भेदभाव को भी दूर करने का प्रयत्न किया। उनकी दृष्टि में अल्लाह और राम में, करीम और केशव में या हरि और हजरत में कोई भेद नहीं था। अपने इस विचार को उन्होंने कितने सुन्दर शब्दों में प्रगट किया है :—

भाई रे दुई जगदीश कहां ते आया, कहु कौने बौराया।
अल्लाह राम करीमा केशव, हरि हजरत नाम धराया॥
गहना एक कनक ते गहना, यामे भाव न दूजा।
कहन सुनन को दुई कर धाये, एक नमाज एक पूजा॥
वही महादेव वही मुहम्मद, ब्रह्मा आदम कहिये।
को हिन्दू को तुरक कहावे, एक जिमी परिहरिये॥
वेद कितेब पढ़े वै कुतबा, वै मुलना वै पाण्डे।
बेभर बेभर नाम धराये, एक मिट्टी के भाण्डे॥

इस्लाम और हिन्दू-धर्मों की मौलिक एकता का इससे अधिक सुन्दर प्रतिपादन सम्भव नही है। हिन्दुओं और मुसलमानों में एकता की स्थापना करते हुए कबीर दोनों धर्मों के बाहय आडम्बरों और पूजा-पाठ की विधि पर समानरूप से आक्षेप करते थे। वे हिन्दुओं से कहते थे—

'पाहन पूजै हरि मिलै, तो मैं पूजौं पहार।
ताते या चाकी भली, पीस खाय संसार।

इसी प्रकार मुसलमानों से उनका कहना था—

'कांकर पत्थर जोरि कै, मसजिद लई चुनाय।
ता चढ़ि मुल्ला बांग दै, बहरा हुआ खुदाय।

दो सदी से अधिक समय तक हिन्दू और मुसलमान एक साथ एक देश में निवास कर रहे थे। धीरे-धीरे वे एक-दूसरे के बहुत निकट आ गये थे। इसीलिये कबीरदास जैसे सन्त दोनों धर्मों को खरी-खरी बात सुना सकते थे, और उन्हें एक ऐसे धर्म का मार्ग दिखा सकते थे, जो दोनों को समान रूप से स्वीकार्य था। इस्लाम का सूफी सम्प्रदाय प्रेम के जिस मार्ग का उपदेश करता था, वह कबीर की निर्गुण भक्ति के मार्ग से बहुत भिन्न नहीं था। मुसलमानों का 'अल्लाह' वैष्णवों के विष्णु के समान राम व कृष्ण के रूप में मानव-शरीर को धारण नहीं करता। उसका स्वरूप नाथपन्थियों के निर्गुण ब्रह्म से बहुत भिन्न नहीं है। यदि सूफी लोग इस निर्गुण अल्लाह के प्रति प्रेम कर सकते थे, तो हिन्दू लोग अपने निर्गुण निराकार भगवान् के प्रति प्रेम या भक्ति क्यों नहीं कर सकते? कबीर

के उपदेशों से हिन्दू और मुसलमान एक-दूसरे के बहुत समीप आ गये थे, और इसीलिये उनकी शिष्य-मण्डली में अब तक भी हिन्दू और मुसलमान दोनों विद्यमान हैं, और उनकी मृत्यु होने पर दोनों ने उनके शव पर दावा किया।

गुरु नानक--जिस समय वर्तमान समय के उत्तर-प्रदेश में स्वामी रामानन्द हिन्दू-धर्म में नवीन जीवन का संचार करने में प्रवृत्त थे, प्रायः उसी समय पंजाब में एक महान् सन्त व सुधारक अपना कार्य कर रहे थे, जिनका नाम गुरु नानक था। नानक का जन्म लाहौर से ३० मील दूर तलवंडी नामक ग्राम में १४६९ ईस्वी में हुआ था। इनके जीवन के सम्बन्ध में बहुत-सी बातें ज्ञात हैं, पर उनका यहां उल्लेख करने की आवश्यकता नहीं। गृहस्थ-जीवन को व्यतीत करते हुए उनका ध्यान भगवान् की ओर आकृष्ट हुआ, और वे सांसारिक सुख को लात मार कर भगवान् का साक्षात्कार करने के लिये प्रवृत्त हुए। इस उद्देश्य से उन्होंने प्रायः सम्पूर्ण भारत की यात्रा की, और भारत से बाहर मक्का भी गये। उनकी दृष्टि में हिन्दुओं और मुसलमानों में कोई भेद न था। यात्रा करते हुए जब वे हरिद्वार आये, तो उनके सिर पर मुसलमान कलन्दरों की पगड़ी थी, और मस्तक पर हिन्दुओं की भांति टीका लगा हुआ था। उनकी वेश-भूषा को देखकर यह कोई नहीं समझ सकता था, कि वे हिन्दू है या मुसलमान। उनके दो शिष्य सदा उनके साथ रहा करते थे, जिनमें एक मुसलमान था। वे न हिन्दुओं और मुसलमानों में कोई भेद करते थे, और न ऊंची और नीची समझे जानेवाली जातियों में। हिन्दुओं और मुसलमानों में अभेद की स्थापना करते हुए उन्होंने कहा था--

बन्दे इक्क खुदाय के हिन्दू मुसलमान।
दावा राम रसूल कर, लड़दे बेईमान॥

गुरु नानक ने जो नया पन्थ शुरू किया था, वह हिन्दू-धर्म और इस्लाम का समन्वयात्मक पन्थ था। इस युग की प्रवृत्ति का यह मूर्तिमान् रूप था। आगे चलकर यही सिक्ख-धर्म के रूप में परिवर्तित हो गया, और दस गुरुओं के नेतृत्व में इसने बहुत अधिक उन्नति की। पंजाब के क्षेत्र में इस धर्म का बहुत अधिक प्रभाव है।

रैदास--स्वामी रामानन्द के शिष्यों में रैदास भी एक थे, जो जाति के चमार थे। इन्हीं से उस सम्प्रदाय का प्रारम्भ हुआ, जिसे 'रैदासी' कहते हैं। चमार जाति के लोग प्रायः इस मत के अनुयायी हैं। यद्यपि ये अछूत जाति में उत्पन्न हुए थे, पर इनकी भक्ति से आकृष्ट होकर बहुत-से ब्राह्मण और द्विज भी इनको दण्डवत् करते थे। भारत की सन्त-परम्परा में इनका नाम बड़े आदर के

साथ लिया जाता है। यह हिन्दू-धर्म का दुर्भाग्य था, कि वैष्णव धर्म में जात-पांत की उपेक्षा करने की जो प्रवृत्ति इस युग में शुरू हुई थी, वह पूर्णतया सफल नहीं हो सकी, और रैदास के अनुयायी व सजातीय लोग एक पृथक् पन्थ के रूप में परिवर्तित हो गये। पर रैदास जैसे अछूत कुलों में उत्पन्न सन्तों का ब्राह्मणों तक से पूजा जाना इस युग की धार्मिक जागृति का परिचायक है।

इस युग में अन्य भी बहुत-से ऐसे सन्त-महात्मा हुए, जिन्होंने जात-पांत के भेद-भाव की उपेक्षा कर सब मनुष्यों की एकता और भक्तिमार्ग का उपदेश किया। महाराष्ट्र के सन्त नामदेव के शिष्य चोखमेला जाति के महार थे। महार लोग अछूत माने जाते हैं। जब सन्त चोखमेला पंढरपुर के प्रसिद्ध मन्दिर का दर्शन करने के लिये गये, तो उसके ब्राह्मण पुरोहितों ने उन्हें मन्दिर में प्रविष्ट होने से रोका। इसपर उन्होंने कहा—ईश्वर अपने बच्चों से भक्ति और प्रेम चाहता है, वह उनकी जाति को नहीं देखता। रैदास, चोखमेला, नानक, कबीर आदि सन्त जो नई प्रवृत्ति हिन्दू-धर्म में उत्पन्न कर रहे थे, उसने इस धर्म में नवजीवन का संचार करने में बड़ा महत्त्वपूर्ण कार्य किया। आगे चलकर तुलसीदास, मीराबाई आदि ने सन्तों की इस परम्परा को और आगे बढ़ाया। इनपर हम यथास्थान प्रकाश डालेंगे।

(३) इस्लाम पर हिन्दू-धर्म का प्रभाव

यह असम्भव था, कि भारत में प्रवेश करने के बाद इस्लाम पर इस देश की धार्मिक परम्परा का कोई असर न पड़ता। तुर्क और अफगान आक्रान्ताओं ने भारत में बसकर इस देश की स्त्रियों से विवाह किये थे। यद्यपि उन्होंने अपनी पत्नियों को मुसलिम धर्म में दीक्षित कर लिया था, पर वे अपने परम्परागत संस्कारों व मज्जातन्तुगत धारणाओं को एकदम छोड़ नहीं सकती थीं। मुसलिम शासकों के प्रभाव से जिन बहुत से हिन्दुओं ने इस्लाम को स्वीकार कर लिया था, वे भी अपनी रूढ़ियों व धार्मिक विश्वासों को तिलाञ्जलि नही दे सके थे। इसी कारण भारत के मुसलमान अरब आदि अन्य देशों के मुसलमानों से बहुत भिन्न थे, और उनपर भारतीय धर्मों का प्रभाव बहुत प्रत्यक्ष था।

भारत में आकर इस्लाम ने जिन नये तत्त्वों को ग्रहण किया, उनका संक्षेप के साथ उल्लेख करना आवश्यक है। मूर्ति-पूजा के कट्टर विरोधी होते हुए भारत में मुसलमानों ने शीतला आदि देवियों की पूजा करने में संकोच नहीं किया। शीतला (चेचक) एक ऐसा रोग है, जिससे बचने के लिये भारत में शीतला माता

की पूजा की प्रथा देर से प्रचलित थी। भारत की स्त्रियों में इस देवी के प्रति विश्वास का संस्कार बद्धमूल था। जब उन्होंने तुर्क व अफगान लोगों से विवाह कर इस्लाम को ग्रहण कर लिया, तब भी वे अपने इस विश्वास का निराकरण नहीं कर सकीं। मुसलिम होकर भी उन्होंने शीतला की पूजा को जारी रखा, और उनके विदेशी पति अपनी पत्नियों के रुख को बदल सकने में असमर्थ रहे। बंगाल के मुसलमान काली, धर्मराज, वैद्यनाथ आदि अनेक देवताओं की पूजा करते थे। भारत के लोगों में प्रकृति की विविध शक्तियों को देवी-देवता के रूप में देखने की परम्परा थी। वे नदी, पर्वत आदि के आधिष्ठातृ देवताओं की कल्पना कर उनकी पूजा किया करते थे। इस्लाम पर भी भारत की इस परम्परा का प्रभाव पड़ा, और मुसलमानों ने ख्वाजा खिज्र के रूप में नदियों के अधिष्ठातृ देवता की और जिन्दा गाजी के रूप में सिंहवाहिनी देवी के प्रेमी देवता की कल्पना कर डाली। भारत के मुसलमान पीरों के मजारों की पूजा करने के लिये भी प्रवृत्त हुए। अपने पीरों व सन्तों के मजार बनाकर उन्होंने वहां उर्स करने शुरू किये, जिनमें हिन्दुओं के देवमन्दिरों के समान नृत्य और गान होता था, और पुष्प आदि द्वारा मजार की पूजा की जाती थी। यह परम्परा अब तक भी भारत के मुसलमानों में विद्यमान है, और इसके कारण भारत का इस्लाम अरब के असली इस्लाम से अनेक अशों में भिन्न हो गया है।

इस्लाम के सूफी सम्प्रदाय पर भी भारत के वेदान्त और भक्तिमार्ग का पर्याप्त प्रभाव पड़ा। सूफी सम्प्रदाय बहुत पुराना है, और इसके पीरों और फकीरों ने इस्लाम के प्रचार के लिये बहुत महत्त्वपूर्ण कार्य किया। भारत में सूफी सम्प्रदाय का प्रवेश ग्यारहवी सदी के अन्तिम भाग में हुआ था, जब कि अबुल हसन हुज हुज्विरी नामक सूफी पीर ने गजनी से भारत आकर अपना कार्य शुरू किया। भारत के सूफी पीरों में सबसे प्रसिद्ध मुइनुद्दीन चिश्ती (तेरहवीं सदी) थे, जिनकी दरगाह अजमेर में विद्यमान है, और जो मुसलमानों का बहुत बड़ा तीर्थ है। इस दरगाह पर प्रतिवर्ष मेला लगता है, जिसमें मुसलमानों के अतिरिक्त बहुत से हिन्दू भी शामिल होते हैं। यहां हमें अन्य प्रसिद्ध सूफी पीरों का परिचय देने की आवश्यकता नही। पर उल्लेखनीय बात यह है, कि इन लोगों ने हिन्दू परम्परा की अनेक बातों को अपनाया। भारत में आने से पूर्व ही सूफी लोग प्रेम साधना में विश्वास करते थे। पर भारत आकर वे नाथयोगी सम्प्रदाय के सम्पर्क में आये, और उससे प्रभावित होकर उन्होंने अनेक यौगिक क्रियाओं को अपनी साधना में समाविष्ट किया। रामानुजाचार्य के विशिष्टाद्वैत को अपना-

कर उन्होंने जीव को ईश्वर के प्रति भक्ति करने का मार्ग दिखाया, और इस प्रकार सूफी सम्प्रदाय ने एक ऐसा रूप धारण कर लिया, जो भारत के 'निर्गुणमार्ग' के अनुयायियों के लिये कोई अपरिचित बात नहीं थी। कबीर सदृश सन्त जिस ढंग की भक्ति और उपासना का प्रतिपादन करते थे, उसको 'निर्गुण मार्ग' कहते हैं। मुसलिम सूफियों के प्रेम-मार्ग में और कबीर के निर्गुण-पन्थ में बहुत समता थी। सूफी पीरों ने अपने मन्तव्यों को सर्वसाधारण जनता को समझाने के लिये जिन प्रेम-कथाओं का आश्रय लिया, वे भारत की अपनी कथायें थीं, और इस देश में चिरकाल से प्रचलित थीं। मनुष्यों के साथ पशु, पक्षी और वनस्पति को भी सहानुभूति-सूत्र में बद्ध दिखाकर एक सर्वव्यापी जीवनी शक्ति का आभास देना भारत की प्राचीन प्रेम-कथाओं की अनुपम विशेषता है। मनुष्य के दुःख से पशु-पक्षी भी प्रभावित होते है, और पुष्प-पत्र भी उनका साथ देते हैं—यह कल्पना इस देश के कथा-लेखकों ने कभी अपनी आंखों से ओझल नहीं की है। सूफी लोग जब इस देश में अपने सम्प्रदाय का प्रचार करने में प्रवृत्त हुए, तो उन्होंने भारत की इसी प्रकार की प्रेम-कथाओं का प्रयोग किया, और उनके आधार पर ईश्वर-प्रेम का संदेश दिया। यही कारण है, कि, भारत की सर्वसाधारण जनता को मुसलिम पीर व फकीर बहुत बेगाने प्रतीत नहीं होते थे, और वे उन्हें श्रद्धा और आदर की दृष्टि से देखते थे। हिन्दू लोगों में जो मुसलिम पीरों की मजारों की पूजा प्रारम्भ हुई, उसका यही मूल कारण था।

हिन्दू-धर्म और इस्लाम के मेल और एक दूसरे के समीप आने का एक महत्त्वपूर्ण परिणाम यह हुआ, कि अनेक ऐसे सम्प्रदायों का प्रारम्भ हुआ, जिनके अनुयायी हिन्दू और मुसलमान दोनों थे। इन सम्प्रदायों में 'सत्यपीर' के उपासक सर्वप्रथम थे। बंगाल का सुलतान हुसैनशाह (१४९३–१५१८) इस सम्प्रदाय का प्रवर्त्तक था। आगे चलकर मुगलकाल में सतनामी और नारायणी नामक दो अन्य ऐसे सम्प्रदाय प्रारम्भ हुए, जिनके हिन्दू और मुसलमान समान रूप से अनुयायी थे। पर पन्द्रहवीं सदी के अन्त में 'सत्यपीर' के रूप में हिन्दू और मुसलमानों के एक उभयनिष्ट देवता का प्रादुर्भाव इस युग की हिन्दू-मुसलिम समन्वय की प्रवृत्ति का उत्तम उदाहरण है।

हिन्दुओं और मुसलमानों के ऐक्य की यह प्रवृत्ति निरन्तर जोर पकड़ती गई। तेहरवीं सदी में अफगान-युग के प्रारम्भिक काल में हिन्दुओं और मुसलमानों के दो सर्वथा पृथक् वर्ग थे। पन्द्रहवीं सदी के अन्त तक इस स्थिति में बहुत परिवर्तन आ गया था। मुगल काल में इन दोनों सम्प्रदायों में समन्वय की भावना

को और अधिक बल मिला। अकबर जैसे बादशाह के प्रयत्न से हिन्दू और मुसलमान एक दूसरे के और अधिक समीप आ गये। पर औरङ्गजेब की कट्टर मुसलिम नीति ने इस प्रवृत्ति को आघात पहुंचाया। इसी कारण अनेक हिन्दू शक्तियां दिल्ली की मुगल बादशाहत के विरुद्ध उठ खड़ी हुईं, और उन्होंने मुसलिम शासन को निर्बल कर विविध हिन्दू-राज्यों की स्थापना की।

सहायक ग्रंथ

Carpenter : Theism in Medieval India.
Macauliffe : Sikh Religion.
Farquhar : Outline of the Religious Literature of India.
Grierson : Modern Vernacular Literature of Hindustan.
Mazumdar etc. : An Advanced History of India.
चतुर्वेदी—उत्तरी भारत की सन्त-परम्परा
रामचन्द्र शुक्ल—हिन्दी-साहित्य का इतिहास
Panikkar : A Survey of Indian History.

सत्ताईसवां अध्याय

अफगान-युग के हिन्दू-राज्य

(१) विजयनगर-साम्राज्य

भारतीय इतिहास के ग्रन्थों में प्रायः बारहवीं सदी के साथ हिन्दू-काल का अन्त कर दिया जाता है, और आगे का इतिहास जिस ढंग से लिखा जाता है, उससे पाठकों के मन पर यह प्रभाव पड़ता है, कि बारहवी सदी के बाद भारत में अफगान व तुर्क जातियों के मुसलमानों का आधिपत्य स्थापित हो गया था। इसीलिये अनेक ऐतिहासिक इस काल को 'मुसलिम युग' नाम से सूचित करते हैं। यह सत्य है, कि बारहवीं सदी के अन्त में उत्तरी भारत में मुसलिम शासन का सूत्रपात हो गया था, और कुतुबुद्दीन ऐबक, बलवन व अलाउद्दीन खिलजी जैसे प्रतापी व महत्त्वाकांक्षी सुलतानों ने दूर-दूर तक विजययात्रायें कर अपनी शक्ति का विस्तार किया था। पर साथ ही यह भी असन्दिग्ध है, कि अफगान युग में भारत के अनेक प्रदेश मुसलिम-शासन से मुक्त थे, और इनपर विविध हिन्दू-राजवंशों का आधिपत्य विद्यमान था। यदि क्षेत्रफल की दृष्टि से देखा जाय, तो यह स्वीकार करना होगा, कि दिल्ली के अफगान सुलतान व जौनपुर, माण्डू, अहमदाबाद आदि के प्रान्तीय सुलतान सब मिलकर भी भारत के आधे से अधिक प्रदेश पर शासन नहीं कर सके थे। भारतीय इतिहास का अनुशीलन करते हुए इस तथ्य को स्पष्टरूप से अपने सम्मुख रखना चाहिये। इस युग के इन हिन्दू राज्यों में भारतीय इतिहास की वही धारा निर्बाध रूप से प्रवाहित हो रही थी, जो हमें मध्यकाल (सातवी से बारहवीं सदी तक) में दृष्टिगोचर होती है। सभ्यता, भाषा, संस्कृति व धर्म के क्षेत्र में इस युग के ये हिन्दू-राज्य भारत की प्राचीन परम्परा को कायम किये हुए थे। भारतीय संस्कृति के इतिहास में इन राज्यों का महत्त्व बहुत अधिक है। इसी कारण इनपर पृथक रूप से विचार करना उपयोगी होगा। ये राज्य निम्नलिखित थे—(१) विजयनगर, (२) उड़ीसा,

(३) कामरूप व आसाम, और (४) मेवाड़ या राजपूताना। क्योंकि नेपाल भी सांस्कृतिक दृष्टि से भारत का ही अङ्ग है, अतः उसे भी इस युग के हिन्दू-राज्यों के अन्तर्गत किया जा सकता है।

विजयनगर—अफगान-युग के हिन्दू-राज्यों में विजयनगर सबसे प्रधान था। इसकी स्थापना किन परिस्थितियों में और किस प्रकार हुई, इस विषय पर यहां प्रकाश डालने की आवश्यकता नहीं। १३३६ ईस्वी में स्थापित यह राज्य चार सदी से भी अधिक समय तक कायम रहा, और इसके कारण कृष्णा नदी के दक्षिण का भारत मुसलिम आधिपत्य से बचा रहा। यह राज्य कितना वैभवशाली था, इसका अनुमान कतिपय विदेशी यात्रियों के विवरणों द्वारा किया जा सकता है। इटालियन यात्री निकोलो कोन्ति १४२० ई० में विजयनगर आया था। उसने इस नगरी के सम्बन्ध में लिखा है—"इस नगरी की परिधि ६० मील है। इसकी प्राचीर पर्वतश्रृंखला के साथ लगी हुई है, इस कारण इसका विस्तार और भी अधिक हो गया है। नगर में नब्बे हजार ऐसे पुरुष हैं, जो शस्त्र धारण करने योग्य हैं। इसका राजा भारत के अन्य सब राजाओं की अपेक्षा अधिक शक्तिशाली है।" अब्दुल रज्जाक नाम का एक पर्शियन यात्री १४४२ ईस्वी में विजयनगर आया था। उसने इसके सम्बन्ध में लिखा है—"यह देश इतना समृद्ध और आबाद है, कि संक्षेप में उसका वर्णन कर सकना असम्भव है। राजा के कोश में कितने ही ऐसे कमरे हैं, जो सुवर्ण से भरे हुए हैं। सोने को पिघलाकर एक बड़ा-सा ढेर बना दिया गया है। राज्य के सब निवासी चाहे उच्च श्रेणी के हों या नीच वर्ग के, यहां तक कि बाजार के शिल्पी तक भी अपने कानों, भुजाओं, गले और उंगलियों में आभूषण धारण करते हैं।" डोमिन्गो पाएस नाम के पोर्तुगीज यात्री ने विजयनगर का वर्णन करते हुए लिखा है—"इस राज्य के राजा के पास बहुत अधिक कोश है। उसके सैनिक व हाथी भी संख्या में बहुत अधिक हैं....। विजयनगर में प्रत्येक देश और जाति के लोग प्रचुर संख्या में हैं, क्योंकि यह व्यापार का बहुत बड़ा केन्द्र है। विविध प्रकार के रत्नों और विशेषतया हीरों का यहां बहुत लेन-देन होता है।.... व्यापार की अधिकता के कारण इसके बाजार लदे हुए बैलों से सदा परिपूर्ण रहते हैं।" एदोर्दो बार्बोसा नामक यात्री ने सोलहवीं सदी के शुरू में विजयनगर के विषय में लिखा था—"यह नगर व्यापार का बड़ा महत्त्वपूर्ण केन्द्र है। भारत में उपलब्ध हुए हीरे, पेगू के रूबी, चीन और एलेग्जेन्ड्रिया के रेशमी वस्त्र, और मलाबार के चन्दन, मिर्च, मसाले, काफूर और मुश्क यहां के व्यापार की प्रधान वस्तुएँ हैं।" विदेशी

यात्रियों के इन उद्धरणों द्वारा यह स्पष्ट हो जाता है, कि विजयनगर बहुत ही समृद्ध व उन्नत राज्य था, और विदेशी आक्रमणों के भय से मुक्त होकर इसके राजा अपने देश की समृद्धि के लिये विशेष रूप से प्रयत्नशील थे।

शासन-व्यवस्था—विजयनगर-राज्य का शासन प्राचीन चोल-राज्य की परम्परा के अनुरूप था। राज्य में कूटस्थानीय व मूर्धन्य राजा होता था, जो ब्राह्मणों व अन्य जाति के मन्त्रियों के परामर्श के अनुसार देश का शासन करता था। राज्य की मन्त्रिपरिषद् के सदस्यों की नियुक्ति राजा द्वारा की जाती थी। मन्त्री किसी एक जाति के नही होते थे। ब्राह्मण, क्षत्रिय व वैश्य तीनों ही द्विजातियों के योग्य पुरुषों को राजा मन्त्री-पद पर नियुक्त करता था। पर राज्य की समृद्धि व शक्ति राजा की अपनी योग्यता पर ही निर्भर करती थी। इसीलिये राजा कृष्णदेव राय (मृत्युकाल १५३० ईस्वी) ने अपनी पुस्तक 'आमुक्तमाल्यदा' में राजा के सम्बन्ध में निम्नलिखित आदर्श का प्रतिपादन किया था—"मूर्धाभिषिक्त राजा को सदा धर्म को दृष्टि में रखकर शासन करना चाहिये। राजा को इस प्रकार के व्यक्तियों को अपना सहायक बनाना चाहिये, जो दण्डनीति में प्रवीण हों। उसे इस बात का पता लगाने मे सदा सतर्क रहना चाहिये, कि राज्य में कहां ऐसी खानें हैं, जिनसे बहुमूल्य धातुएँ उपलब्ध हो सकती हैं। उसे जनता से कर वसूल करते हुए मृदु नीति का अनुसरण करना चाहिये। उसमें अपने शत्रुओ को शक्ति द्वारा कुचल देने की क्षमता होनी चाहिये। उसे अपनी प्रजा की रक्षा व पालन करने में समर्थ होना चाहिये, और जनता को वर्णसकरता से बचाना चाहिये।" नि.सन्देह, राजा कृष्णदेव राय के ये विचार भारत के प्राचीन राजशास्त्र के अनुकूल थे, और विजयनगर के अनेक राजा इन्हीं के अनुसार शासन करने का प्रयत्न करते थे।

शासन की सुविधा के लिये विजयनगर-राज्य को छः प्रान्तों (राज्य, मण्डल या चावड़ी) में विभक्त किया गया था। इनके प्रान्तीय शासकों को 'नायक' कहा जाता था। नायक-पद पर प्रायः राजकुल के पुरुषों को ही नियुक्त किया जाता था। प्रान्तों (मण्डलों) के अनेक उपविभाग थे। तामिल क्षेत्र में इन उपविभागों को कोट्टम्, नाडू, पररू और ग्राम कहते थे। कर्णाटक क्षेत्र में इनके नाम वेण्थे, नाडू, सीम और ग्राम थे। प्राचीन काल की ग्राम-सस्थायें इस युग में भी विद्यमान थीं, और ग्रामसभाओं द्वारा सर्वसाधारण जनता अपने साथ सम्बन्ध रखनेवाले मामलों की स्वयं व्यवस्था करती थी। ग्रामों और नगरों में शिल्पियों की 'श्रेणियां' और व्यापारियों के 'निगम' इस युग में भी संगठित थे, और स्थानीय

स्वशासन की इन विविध संस्थाओं के साथ सम्पर्क रखने के लिये राजा की ओर से एक पृथक् कर्मचारी की नियुक्ति की जाती थी, जिसे 'महानायकाचार्य' कहते थे।

विजयनगर-राज्य में भूमिकर को 'षिस्ट' कहते थे, जो सम्भवतः संस्कृत के षड्भाग का अपभ्रंश है। भारत की प्राचीन परम्परा के अनुसार उपज का छठा भाग भूमिकर के रूप में वसूल किया जाता था। सम्भवतः, इसी प्रथा का अनुसरण विजयनगर में भी किया जाता था। भूमिकर की वसूली के लिये भूमि को तीन वर्गों में बांटा गया था, सिंचाईवाली भूमि, सूखी भूमि और उद्यान व जंगल। इन तीन प्रकार की भूमियों के लिये भूमिकर की दर अलग-अलग थी, और किस खेत से कितना कर वसूल किया जाय, यह स्पष्ट-रूप से निश्चित कर दिया जाता था।

विजयनगर के सैनिक-विभाग को 'कंदाचार' कहते थे। इसके अध्यक्ष को 'दण्ड-नायक' कहा जाता था। पदाति, अश्वारोही, गजारोही और उष्ट्रारोही—ये चार प्रकार के सैनिक दंडनायक की अधीनता में होते थे। बहुसख्यक सेना 'भृत' होती थी, जिसके सैनिक भृति या वेतन से आकृष्ट होकर सेना में भरती होते थे। यही कारण है, कि विजयनगर की सेना में बहुत से मुसलिम सैनिकों ने भी प्रवेश कर लिया था।

राजा के अधीन विविध प्रान्तों के जो 'नायक' थे, उनको बहुत अधिकार प्राप्त थे। उनकी स्थिति अर्धस्वतन्त्र राजाओं के समान थी। उनकी अपनी पृथक् सेनाएं होती थी, और अपने क्षेत्रसे राज्य-कर को वसूल करना व न्याय-व्यवस्था का संचालन करना उन्हीं का कार्य होता था। यही कारण है, कि सोलहवीं सदी के उत्तरार्ध में विजयनगर-राज्य में प्रान्तीय स्वतन्त्रता की प्रवृत्ति ने जोर पकड़ा, और अनेक प्रान्तीय नायकों ने अपने पृथक् राज्यवंश स्थापित करने का उद्योग शुरू किया। विजयनगर-राज्य के पतन में प्रान्तीय नायकों की यह प्रवृत्ति एक महत्त्वपूर्ण कारण थी।

साहित्य और कला—भारत के सांस्कृतिक इतिहास में विजयनगर-राज्य का बहुत महत्त्व है, क्योंकि साहित्य और कला के क्षेत्र में यहां प्राचीन हिन्दू-परम्परा अक्षुण्ण रूप से कायम रही। विजयनगर के राजाओं से संरक्षण पाकर संस्कृत, तेलगू, तामिल और कन्नड़ भाषाओं ने बहुत उन्नति की, और उनमें उत्कृष्ट साहित्य का निर्माण हुआ। वेदों का प्रसिद्ध भाष्यकार सायण चौदहवीं सदी में हुआ था, और विजयनगर-राज्य की स्थापना में उसने बहुत सहायता दी

थी। संस्कृत वाङमय में सायणाचार्य का बहुत महत्त्वपूण स्थान है। चारों वेदों का भाष्य कर उसने वैदिक संहिताओं को भलीभांति समझ सकना बहुत सुगम बना दिया है। वर्तमान समय के विद्वान् वेदों का अध्ययन करते हुए सायण-भाष्य का ही आश्रय लेते है। सायण के भाई माधव का भी संस्कृत-साहित्य में बहुत उच्च स्थान है। वे विजयनगर राज्य के संस्थापक बुक्क के मन्त्री थे, और उन्होंने 'पाराशर माधवीय' नामक ग्रन्थ की रचना की थी, जो हिन्दू-विधानशास्त्र-विषयक पुस्तकों में बहुत आदर की दृष्टि से देखा जाता है। विजयनगर की अनेक रानियां साहित्य के क्षेत्र में बहुत ऊंचा स्थान रखती थीं। इनमें 'मधराविजयम्' की लेखिका गंगादेवी और 'वरदम्बिकापरिणयम्' की लेखिका तिरुमलम्बादेवी के नाम विशेषरूप से उल्लेखनीय है। विजयनगर के प्रसिद्ध राजा कृष्णदेव राय का काल न केवल राजशक्ति के उत्कर्ष की दृष्टि से बहुत महत्व का है, अपितु साहित्य और ज्ञान के विकास के लिये भी वह सुवर्णीय युग के सदृश है। कृष्णदेव राय स्वयं भी एक उत्कृष्ट विद्वान् कवि व संगीतज्ञ था, और उसकी राजसभा में बहुत से विद्वान व कवि आश्रय प्राप्त किये हुए थे। जिस प्रकार सम्राट् चन्द्र-गुप्त द्वितीय विक्रमादित्य की राजसभा के 'नवरत्न' प्रसिद्ध है, वैसे ही कृष्णदेव राय की राजसभा के 'अष्ट दिग्गज' प्रसिद्ध है। तेलगू-साहित्य में इन अष्ट-दिग्गजों का बहुत ऊँचा स्थान है। इनमें सर्वप्रधान पेद्दन नाम का कवि था, जिसकी कृतियां तेलगू साहित्य में बहुत आदर की दृष्टि से देखी जाती हैं। कृष्णदेव राय की रचनाओं में सबसे प्रसिद्ध 'आमुक्त माल्यदा' है, जो उसने तेलगू भाषा में लिखी थीं। इसमें सन्देह नहीं, कि विजयनगर के राजाओं की संरक्षा में दक्षिणी भारत ने साहित्य और ज्ञान के क्षेत्र में बहुत उन्नति की। इस युग में उत्तरी भारत में मुसलिम शासन स्थापित हो चुका था, और सुलतानों की संरक्षा में पर्शियन साहित्य की उन्नति हो रही थी। पर दक्षिणी भारत में विजयनगर के राजा संस्कृत व दक्षिणी भाषाओं के संरक्षक थे, और उनके समय की शान्ति व समृद्धि से लाभ उठाकर भारत के अनेक विद्वान् व कवि नवीन साहित्य के सृजन में तत्पर थे।

साहित्य के समान कला के क्षेत्र में भी विजयनगर-राज्य ने बहुत उन्नति की थी। विजयनगर इस समय नष्ट हो चुका है, पर उसके भग्नावशेष उसके प्राचीन गौरव का आभास देने के लिये अब तक भी विद्यमान है। कृष्णदेवराय के समय में निर्मित 'हजारमन्दिर' इनमें सर्वप्रधान है। प्रसिद्ध कलाविज्ञ लौङ्गहर्स्ट के अनुसार, इस समय जितने भी हिन्दू-मन्दिर विद्यमान हैं, उनमें कला की दृष्टि

से यह मन्दिर सबसे अधिक पूर्ण व निर्दोष है। इसी प्रकार विजयनगर का बिठ्ठल स्वामी मन्दिर वास्तुकला का एक अत्यन्त उत्कृष्ट उदाहरण है।

धार्मिक सहिष्णुता—प्राचीन भारतीय परम्परा का अनुसरण करते हुए विजयनगर के हिन्दू राजा सब धर्मो व सम्प्रदायों को समान दृष्टि से देखते थे। न केवल शैव, बौद्ध, वैष्णव और जैन आदि प्राचीन भारतीय धर्मों के प्रति, अपितु ईसाई, यहूदी व मुसलिम सदृश विदेशी धर्मों के प्रति भी ये राजा सहिष्णुता व उदारता की नीति का अनुसरण करते थे। एदोर्दो बार्बोसा ने लिखा है, कि विजय-नगर के राजा ने सब लोगों को इतनी अधिक स्वतन्त्रता दी हुई है, कि किसी भी धर्म को माननेवाला कोई भी आदमी उसके राज्य में स्वतन्त्रतापूर्वक आ-जा सकता है, वहां बस सकता है, और अपने धर्म का अनुसरण कर सकता है। वहां यह नहीं पूछा जाता, कि तुम हिन्दू हो या ईसाई, यहूदी हो या मुसलमान। विजय-नगर के राजाओं की धार्मिक सहिष्णुता की नीति की यदि इस युग के ईसाई व मुसलमान राजाओं की धार्मिक नीति से तुलना की जाय, तो उनका भेद स्वयं स्पष्ट हो जायगा। धार्मिक सहिष्णुता की नीति के कारण ही विजयनगर के राजाओं ने पोर्तुगीज लोगों को अपने राज्य के समुद्रतट पर बसने व व्यापार को विकसित करने की अनुमति दी, यद्यपि इन यूरोपियन लोगों ने उसका दुरुपयोग करने में संकोच नहीं किया।

सामाजिक दशा—विदेशी यात्रियों के वृत्तान्तों से सूचित होता है, कि विजय-नगर-राज्य में स्त्रियों की दशा बहुत उन्नत थी। राजनीतिक, सामाजिक और साहित्यिक जीवन मे उनका स्थान बहुत ऊँचा था। विजयनगर की जिन अनेक रानियों ने उत्कृष्ट साहित्य की रचना की, उनका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। पर यह बात ध्यान देने योग्य है, कि इस राज्य में स्त्रियां मल्लविद्या, शस्त्र-संचालन आदि में भी कुशल होती थीं। नूनिज नामक विदेशी यात्री ने लिखा है, कि विजयनगर के राजा की सेवा में ऐसी भी स्त्रिया है, जो कुश्ती करती हैं, और जो फलित ज्योतिष व भविष्य-ज्ञान में भी प्रवीण है। राजा की सेवा में बहुत-सी ऐसी स्त्रियां नियुक्त है, जो सब हिसाब-किताब रखती है, और राज्य की घटनाओं को लेखबद्ध करती हैं। उसकी सेवा में ऐसी स्त्रियां भी हैं, जो संगीत व वाद्य में अत्यन्त कुशल है। उसकी अपनी रानियां भी संगीत मे प्रवीण हैं। इतना ही नहीं, राजा के अन्तःपुर में न्याय प्रतीहार आदि के पदों पर भी स्त्रियां नियुक्त है, जो अपने कार्य को अच्छी योग्यता के साथ करती है। स्त्रियों की इस प्रकार की उच्च स्थिति होने पर भी विजयनगर-राज्य में सती की प्रथा विद्यमान

थी, और विधवा होने पर बहुत-सी स्त्रियां पति के साथ चिता पर बैठकर अपने को भस्म कर देती थीं।

विजयनगर-राज्य में मांसभक्षण का बहुत प्रचार था। गाय व बैल को वहां अवध्य माना जाता था, और उनके मांस को खाने का निषेध था। नूनिज ने विजय-नगर के राजाओं के भोजन के सम्बन्ध में लिखा है, कि वे सब प्रकार की चीजों का भक्षण करते हैं। केवल गाय और बैल वे नहीं खाते, क्योंकि इन्हें वे अवध्य समझते हैं, और इनकी पूजा करते हैं। भेड़, बकरा, सुअर, खरगोश, मुर्गा, बत्तख, कबूतर आदि तो उनके लिये खाद्य हैं ही, पर साथ ही वे चूहे, बिल्ली और छिप-कली को खाने में भी एतराज नहीं करते। बाजार में पशु-पक्षी जीवित रूप में बिकते है, ताकि उन्हें खाने के लिये खरीदनेवाले लोगों को अपनी खाद्य-वस्तु के सम्बन्ध में किसी भी भ्रम की गुञ्जाइश न रहे। यद्यपि विजयनगर के राजा कट्टर हिन्दू थे और वैष्णव-धर्म के प्रति भी श्रद्धा रखते थे, पर मांसभक्षण के वे विरोधी नहीं थे। यज्ञों में पशुहिंसा भी इस समय दक्षिणी भारत में प्रचलित थी। विजयनगर में 'नौ दिन' का एक उत्सव मनाया जाता था, जिसमें बहुत बड़ी संख्या में पशुओं की बलि दी जाती थी। इस उत्सव के अन्तिम दिन २५० भैंसों और ४५०० बकरों की बलि दी जाती थी। इन पशुओं की बलि चढ़ाते हुए यह ध्यान में रखा जाता था, कि एक ही आघात से उनका सिर धड़ से अलग हो जाय।

आर्थिक दशा—विजयनगर-राज्य के शिल्पी और व्यापारी 'श्रेणियों' और 'निगमों' में संगठित थे, और अपने आर्थिक संगठनों के नियमों का पालन करते हुए ही आर्थिक उत्पत्ति किया करते थे। पर इस राज्य की आर्थिक दशा के सम्बन्ध में सबसे अधिक उल्लेखनीय बात इसका विदेशी व्यापार है। अब्दुल रज्जाक नामक लेखक ने लिखा है, कि विजयनगर-राज्य में ३०० बन्दरगाह थे, जिनमें सर्वप्रधान कालीकट था। अपने विविध बन्दरगाहों से विजयनगर के व्यापारी बरमा, मलाया, चीन, अरब, ईरान, दक्षिणी अफ्रीका, अबीसीनिया और पोर्तुगाल तक व्यापार के लिये आया-जाया करते थे, और इन देशों के व्यापारी भी अच्छी बड़ी संख्या में दक्षिणी भारत आते थे। सामुद्रिक व्यापार के क्षेत्र में विजयनगर राज्य ने अच्छी उन्नति की थी। भारत से बाहर जानेवाले पण्य में वस्त्र, चावल, लोहा, शोरा, खांड और मसालों की प्रधानता थी; और जो पण्य विदेशों से इस राज्य में बिकने के लिये आता था, उसमें घोड़े, मोती, तांबा, पारा, चीनी रेशम और मूगों की मुख्यता थी। विजयनगर-राज्य की नौसेना-शक्ति भी कम नहीं थी, और विविध प्रकार के जहाजों का निर्माण भी वहां होता था।

विजयनगर की मुद्रापद्धति में सुवर्ण-रजत और ताम्र का उपयोग किया जाता था, और उसके सिक्कों पर विविध देवताओं की प्रतिमा अंकित रहती थी। वस्तुओं का मूल्य बहुत कम था, इस कारण लोगों को अपने निर्वाह के लिये विशेष कठिनाई नहीं होती थी। सामान्यतया, लोग समृद्ध और सुखी थे।

(२) अन्य हिन्दू-राज्य

उड़ीसा—स्वतन्त्र उड़ीसा-राज्य का संस्थापक अनन्तवर्मा चोड़ गंग (१०७६-११४८) था। जिस समय भारत पर अफगान आक्रान्ताओं के आक्रमण शुरू हुए, उड़ीसा का राज्य अच्छा शक्तिशाली बन चुका था, और उसका विस्तार उत्तर में गङ्गा के मुहाने से शुरू कर दक्षिण में गोदावरी नदी के मुहाने तक था। कुतुबुद्दीन ऐबक के समय मे ही अफगानों की सत्ता मगध और बंगाल में स्थापित हो गई थी। अतः यह स्वाभाविक था, कि बंगाल के मुसलिम शासक उड़ीसा पर भी आक्रमण करें, और उसे जीतकर अपनी अधीनता में लाने के लिये प्रयत्नशील हों। पर उड़ीसा के स्वतन्त्र हिन्दू-राजाओं ने उनका मुकाबला करने में अद्भुत वीरता प्रदर्शित की, और अनेक बार आक्रमण करके भी मुसलिम आक्रान्ता उड़ीसा को जीत सकने में असमर्थ रहे। मुसलमानों को परास्त करनेवाले इन हिन्दू-राजाओं में नरसिंह प्रथम (१२३८–१२६४) का नाम विशेषरूप से उल्लेखनीय है। १४३४ ईस्वी तक नरसिंह प्रथम के उत्तराधिकारी स्वतन्त्र रूप से उड़ीसा का शासन करते रहे। ये राजा गंगवंश के थे, और चौदहवीं सदी के उत्तरार्ध में इनकी शक्ति क्षीण होनी प्रारम्भ हो गई थी।

१४३४ ई० में गंगवंश के अन्त के साथ उड़ीसा से हिन्दू-शासन का अन्त नहीं हो गया। गंगवंश का अन्त कर उड़ीसा के नये राजवंश की स्थापना करनेवाला कपिलेन्द्र (१४३४–१४७०) था, जिसने एक बार फिर अपने राज्य को उत्कर्ष की चरम सीमा तक पहुंचा दिया। कपिलेन्द्र ने बंगाल और बहमनी राज्य के मुसलिम सुलतानों को अनेक युद्धों में परास्त किया। एक बार तो उसकी सेनायें बहमनी सल्तनत की सेनाओं का पीछा करती हुई बीदर तक भी आ पहुंचीं। बहमनी सुलतानों की शक्ति का क्षय करने में कपिलेन्द्र की सेनाओं ने बड़ा कर्तृत्व प्रदर्शित किया। कपिलेन्द्र ने विजयनगर-राज्य के साथ भी अनेक युद्ध किये, और अपने राज्य की दक्षिणी सीमा को गोदावरी के दक्षिण में कावेरी नदी तक विस्तृत कर दिया। कपिलेन्द्र के उत्तराधिकारी भी अच्छे शक्तिशाली थे, और बहमनी सल्तनत व विजयनगर-राज्य के साथ निरन्तर युद्ध करते या अपने राज्य की रक्षा करने में

समर्थ रहे थे। उड़ीसा का यह स्वतन्त्र हिन्दू-राज्य १५६८ तक कायम रहा।

उड़ीसा के हिन्दू राजा संस्कृत और तेलगू भाषा के प्रेमी थे, और उनके संरक्षण में इन भाषाओं के साहित्य ने बहुत उन्नति की। जगन्नाथपुरी के प्रसिद्ध मन्दिर का निर्माण अनन्तवर्मा चोड़गंग के शासनकाल में शुरू हुआ था, और राजा नरसिंह प्रथम ने उसे पूर्ण कराया था। कोणार्क का प्रसिद्ध सूर्य-मन्दिर भी इसी राजा की कृति थी। उड़ीसा के इन हिन्दू राजवंशों के उल्लेख का प्रयोजन यह प्रदर्शित करना है, कि अफगान युग में उड़ीसा सदृश एक ऐसा स्वतन्त्र हिन्दू-राज्य पूर्वी भारत में विद्यमान था, जिसके राजा अत्यन्त शक्तिशाली थे, और जो प्राचीन हिन्दू-परम्परा का अनुसरण करते हुए विशाल मन्दिरों के निर्माण कराने और सस्कृत साहित्य को प्रोत्साहित करने में तत्पर थे।

मेवाड़—अलाउद्दीन खिलजी के समय (चौदहवीं सदी के प्रथम चरण) में अफगान आक्रान्ताओं ने राजपूताना को अपने अधीन करने का किस प्रकार प्रयत्न किया इसका उल्लेख पहले किया जा चुका है। पर उन्हें अपने उद्देश्य में सफलता प्राप्त नही हुई। कुछ समय के लिये प्रसिद्ध राजपूत दुर्गों को अपने अधिकार में रखकर भी मुसलिम आक्रान्ता इस प्रदेश को अपने आधिपत्य में लाने में असमर्थ रहे। मेवाड़ के राणाओं के नेतृत्व में विविध राजपूत-राजवंश संगठित हुए, और उन्होंने न केवल अपने-अपने क्षेत्र में स्वतन्त्रता पूर्वक शासन किया, अपितु गुजरात, मालवा और दिल्ली के सुलतानों के साथ सघर्ष कर अपने आधिपत्य का विस्तार भी किया। मेवाड़ के इन राणाओं में हम्मीर का उल्लेख पहले किया जा चुका है। उसके उत्तराधिकारियों में कुम्भा (१४३६ ई०) बड़ा प्रतापी हुआ। गुजरात और मालवा के मुसलिम सुलतान इस समय अपनी शक्ति के विस्तार में तत्पर थे। कुम्भा ने उनके साथ बहुत से युद्ध किये, और एक बार तो मालवा की सल्तनत की राजधानी माण्डू पर भी उसने कब्जा कर लिया। मेवाड़ की रक्षा के लिये उसने बत्तीस दुर्गों का निर्माण कराया, जिनमें कुम्भलगढ़ का किला सबसे प्रसिद्ध है। मुसलिम सुलतानों को परास्त करने के उपलक्ष्य में उसने एक विशाल जयस्तम्भ या कीर्तिस्तम्भ का निर्माण कराया, जो उस युग की राजपूत वास्तुकला का उत्कृष्ट उदाहरण है। यह स्तम्भ चित्तौड़गढ़ में अब तक विद्यमान है, और संसार के सर्वोत्तम कीर्तिस्तम्भों में इसकी गणना की जा सकती है। राणा कुम्भा केवल अनुपम विजेता और योद्धा ही नहीं था, अपितु कवि और संगीतप्रेमी भी था।

राणा कुम्भा के उत्तराधिकारियों के सम्बन्ध में यहां कुछ भी परिचय दे सकना सम्भव नही है। उसके वंश में राणा सांगा (संग्रामसिंह) ने मेवाड़ की शक्ति का और अधिक उत्कर्ष किया, और सोलहवीं सदी के प्रारम्भिक भाग में जब मुगल विजेता बाबर ने भारत पर आक्रमण किया, तो वही उत्तरी भारत की प्रधान राजशक्ति था।

कामरूप व आसाम—अफगान-युग के प्रारम्भ में आसाम व पूर्वी बंगाल में अनेक छोटे-छोटे हिन्दू-राज्य थे, जो आपस में संघर्ष करने रहते थे। मगध और बंगाल को अपनी अधीनता में ले आनेवाले अफगान आक्रान्ता पूर्व दिशा में और आगे बढ़कर इन हिन्दू-राज्यों को अपनी अधीनता में ला सकने में असमर्थ रहे। इन हिन्दू-राज्यों की स्वतन्त्र सत्ता कायम रही। पन्द्रहवीं सदी के प्रारम्भिक भाग में इन राज्यों में अन्यतम कामत-राज्य अपने उत्कर्ष में समर्थ हुआ, और वर्तमान कूचबिहार के दक्षिण में स्थित कामतापुर को राजधानी बनाकर कामत राजाओं ने अपनी शक्ति को बहुत बढ़ा लिया। १४९८ मे इस राज्य का स्वामी नीलाम्बर था। बंगाल के सुलतान अलाउद्दीन हुसैनशाह ने उसपर आक्रमण किया और नीलाम्बर उससे अपने राज्य की रक्षा करने में असमर्थ रहा। पर मुसलिम लोग आसाम पर देर तक शासन नहीं कर सके। विश्वसिह नाम के एक वीर पुरुष ने शीघ्र ही उसे मुसलिम आधिपत्य से मुक्त किया, और १५१५ के लगभग कूचबिहार को राजधानी बनाकर अपने स्वतन्त्र राज्य की स्थापना की। विश्वसिह द्वारा स्थापित यह हिन्दू-राज्य १६३६ ईस्वी तक कायम रहा। इस समय भारत मे शक्तिशाली मुगल-साम्राज्य की स्थापना हो चुकी थी, और मुगल बादशाह सुदूर पूर्व के इस प्रदेश को भी अपने आधिपत्य में लाने में समर्थ हुए थे। पर सम्पूर्ण आसाम मुगलों की अधीनता में नही आ गया था। तेरहवी सदी में अहोम नाम की एक मंगोल जाति ने उत्तर की तरफ से आसाम पर आक्रमण किया था, और उसके उत्तर-पूर्वी प्रदेश पर अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया था। जिस समय आसाम के पश्चिमी प्रदेश पर कामतापुर के राजाओं और विश्वसिंह के उत्तराधिकारियों का शासन था, उसके पूर्वी प्रदेश पर अहोम लोगों के स्वतन्त्र राज्य की सत्ता थी। भारत में आकर अहोम लोगों ने हिन्दू-धर्म और भारतीय संस्कृति को अपना लिया था, और उनके राज्य को सब दृष्टियों से हिन्दू-राज्य समझा जा सकता है। मुसलिम आक्रान्ताओं ने उत्तर-पूर्वी आसाम के अहोम-राज्य को भी अपनी अधीनता में लाने का प्रयत्न किया, पर उन्हें सफलता नहीं मिली। मुगल सम्राटों

के शासनकाल में भी इस राज्य की स्वतन्त्र सत्ता कायम रही। भारत के जो कतिपय प्रदेश मुगलों के शासन में आने से बच रहे थे, उनमें अहोम-राज्य भी एक था।

सहायक ग्रन्थ

Sewell : A Forgotten Empire.
Venkata Ramanayya : Vijayanagar.
Ray : Dynastic History of Northern India.
Banarjee : History of Orissa.
Gait : History of Assam.
Mazumdar etc. : An Advanced History of India.

अठाईसवां अध्याय

भारतीय इतिहास का मुगल-युग

(१) मुगल-साम्राज्य

मंगोल आक्रमण—बारहवीं सदी के अन्तिम वर्षों में शहाबुद्दीन गोरी की अफगान सेनाओं ने भारत पर आक्रमण किया था। सोलहवीं सदी के प्रारम्भिक भाग में मुगल आक्रान्ता बाबर ने भारत की विजय की। शहाबुद्दीन गोरी और बाबर के बीच में सवा तीन सौ वर्षों का अन्तर था। इस सुदीर्घ काल में भारत विदेशी आक्रमणों से प्रायः मुक्त रहा। चंगेज खां के नेतृत्व में जब चीन में मंगोल लोगों का उत्कर्ष हुआ, तो उन्होंने अपने विशाल साम्राज्य का निर्माण किया, जो पूर्व प्रशान्त महासागर से शुरू कर पश्चिम में काला सागर तक विस्तृत था। चंगेज खां की मंगोल सेनाओं ने भारत के उत्तर-पश्चिमी प्रदेशों पर भी हमले किये थे, और लाहौर तक के प्रदेश को अपने अधीन कर लिया था। इस समय दिल्ली की अफगान सल्तनत का अधिपति अल्तमश (१२११-१२३६ ई०) था। पर उत्तर-पश्चिमी भारत पर मंगोलों का शासन देर तक कायम नहीं रहा। चंगेज खां के वंशज मंगू खां की मृत्यु (१२५९ ई०) के बाद विशाल मंगोल साम्राज्य खण्ड-खण्ड हो गया, और उसके भग्नावशेषों पर चार राज्य स्थापित हुए। ये राज्य चीन, पर्शिया, रूस और साइबीरिया के थे। इनमें से पर्शिया के मंगोल राज्य का भारतीय इतिहास के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है। चौदहवीं सदी में इस राज्य में एक महत्त्वाकांक्षी पुरुष का प्रादुर्भाव हुआ, जो चंगेज खां के विशाल साम्राज्य का पुनरुद्धार करने के लिये उत्सुक था। इस वीर पुरुष का नाम तैमूरलंग था। इसी प्रयत्न में उसने भारत पर भी आक्रमण किया, और १३९८ ई० में दिल्ली पर कब्जा कर लिया। दिल्ली के निर्बल अफगान सुलतान उसका मुकाबला करने में असमर्थ रहे। पर तैमूर ने भारत में स्थिर रूप से शासन करने का प्रयत्न नहीं किया। वह आंधी के समान आया,

और अफगान सल्तनत को तहस-नहस कर पर्शिया को लौट गया। इसी कारण यह समझा जा सकता है, कि बारहवीं सदी के शुरू से सोलहवीं सदी के प्रारम्भ तक किसी ऐसी विदेशी शक्ति ने भारत पर आक्रमण नहीं किया, जिसका विचार इस देश को जीतकर स्थिर रूप से अपने अधीन करने का हो।

१४०५ ईस्वी में तैमूर की मृत्यु हुई। तैमूर द्वारा स्थापित विशाल साम्राज्य उसकी मृत्यु के बाद स्थिर नहीं रह सका। पर्शिया के बाहर के जो प्रदेश उसने जीतकर अपने अधीन किये थे, वे सब स्वतन्त्र हो गये। खास पर्शिया और उसके समीपवर्ती प्रदेशों पर भी तैमूर के उत्तराधिकारी निश्चिन्तता के साथ शासन करने में असमर्थ रहे।

बाबर—तैमूर के साम्राज्य के खण्ड-खण्ड हो जाने पर जो अनेक छोटे-छोटे राज्य कायम हुए थे, उनमें फरगाना का राज्य भी एक था। इस राज्य का स्वामी बाबर था, जो तैमूर का ही वंशज था। उसके अन्य सम्बन्धी बाबर को राज्यच्युत कर स्वयं राजा बनने के लिये उत्सुक थे। अपने बन्धु-बान्धवों से निरन्तर लड़ाई में व्यग्र रहने के कारण बाबर निराश हो गया। अपने अनुयायी सैनिकों को साथ लेकर उसने दक्षिण की ओर प्रस्थान किया, और हिन्दूकुश पर्वतमाला को पार कर काबुल को जीत लिया। उस समय भारत में कोई शक्तिशाली राजा नही था। दिल्ली के अफगान सुलतान बहुत निर्बल थे। उनकी निर्बलता से लाभ उठाकर बंगाल, गुजरात, मालवा आदि में अनेक स्वतन्त्र मुसलिम सल्तनतें स्थापित हो गई थीं, और राजपूताना में मेवाड़ के नेतृत्व में एक अत्यन्त शक्तिशाली हिन्दू-राज्य-संघ कायम हो गया था। बाबर ने इस स्थिति से लाभ उठाया, और १५२५ ई० में दिल्ली के सुल्तान इब्राहीम लोदी को परास्त कर उसके राज्य को अपने अधीन कर लिया। इस प्रकार भारत में मंगोल शासन का सूत्रपात हुआ। बाबर मंगोल जाति का था, उसके वंशज मुगल कहाते है, क्योंकि मुगल मंगोल का ही रूपान्तर है।

इब्राहीम लोदी को परास्त कर बाबर ने दिल्ली और उसके समीपवर्ती प्रदेशों पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया था। पर भारत की प्रधान राजशक्ति इस समय अफगान सल्तनत नहीं थी। मेवाड़ का राणा सांगा इस समय उत्तरी भारत का सबसे शक्तिशाली राजा था। बाबर तब तक अपने को भारत का विजेता नहीं समझ सकता था, जब तक कि वह राणा सांगा को परास्त न कर दे। सांगा भी बाबर को हराकर भारत से बाहर निकाल देने के लिये उत्सुक था, क्योंकि वह स्वयं दिल्ली पर अधिकार करना चाहता था। उसने

बाबर के साथ युद्ध करने के लिये बड़ी भारी तैयारी की। सब राजपूत राजाओं को सहायता के लिये निमन्त्रण दिया गया। राजपूत राजाओं ने भी बड़े उत्साह से अपने अधिपति सांगा का साथ दिया। अनेक अफगान सरदार भी बाबर को परास्त करने के लिये सांगा के साथ आ मिले, क्योंकि मुगलों की विजय से राजशक्ति उनके हाथों से भी निकल गई थी। सीकरी के समीप १५२७ ई० मे घनघोर युद्ध हुआ, जिसमें अन्त में बाबर की विजय हुई। भारत की विजय में बाबर को जो असाधारण सफलता मिली, उसका प्रधान कारण यह था, कि वह युद्ध में तोपों का प्रयोग करता था। बारूद और तोप का प्रयोग सबसे पहले मंगोल लोगों ने ही शुरू किया था। चंगेज खां की विश्वविजय में बारूद ही प्रधान रूप से मंगोलों का सहायक हुआ था। सांगा को रणक्षेत्र में परास्त कर बाबर ने राजपूताने के अनेक दुर्गों पर आक्रमण किये। उन्हें विजय करने में भी वह सफल हुआ।

दिल्ली के अफगान सुलतान और राजपूत राजाओं को परास्त कर बाबर ने बिहार और बंगाल पर भी आक्रमण किये। जोनपुर और बंगाल की मुसलिम सल्तनतों को परास्त कर प्रायः संपूर्ण उत्तरी भारत को अपने अधीनता में लाने में बाबर को असाधारण सफलता प्राप्त हुई। बाबर का सम्पूर्ण जीवन युद्धों में ही व्यतीत हुआ था। इसी कारण अपने विजित प्रदेशों के शासन को सुव्यवस्थित करने के लिये वह विशेष प्रयत्न नहीं कर सका था। १५३० ई० में उसकी मृत्यु हुई। मृत्यु के समय बाबर द्वारा स्थापित साम्राज्य पश्चिम में आमू नदी से लेकर पूर्व में बंगाल की खाड़ी तक, और उत्तर में हिमालय से लेकर दक्षिण में मालवा तक विस्तृत हो गया था।

हुमायूं—बाबर की मृत्यु के बाद उसका पुत्र हुमायू विशाल मुगल-साम्राज्य का स्वामी बना; पर अभी भारत में मुगलों की शक्ति भलीभांति सुदृढ़ नहीं हुई थी। इसीलिये बिहार में शेर खां नामक वीर पुरुष के नेतृत्व में अफगानों ने मुगलों के विरुद्ध विद्रोह कर दिया। अभी हुमायूं इस विद्रोह को पूर्णरूप से शान्त नहीं कर पाया था, कि गुजरात के स्वतन्त्र मुसलिम सुलतान बहादुरशाह ने उत्तरी भारत के मुगल-साम्राज्य पर आक्रमण कर दिया। उसे परास्त करने के लिये हुमायूं को बहुत यत्न करना पड़ा। मुगल बादशाह को बहादुरशाह के साथ युद्ध में व्यस्त देखकर बिहार में शेर खां ने अपनी शक्ति बहुत बढ़ा ली, और अन्त में हुमायू को परास्त कर दिल्ली पर अधिकार कर लिया (१५४० ई०)। बाबर द्वारा स्थापित मगल-साम्राज्य भारत में देर तक कायम नहीं रह सका,

और एक बार फिर दिल्ली अफगानों के आधिपत्य में आ गया। शेर खां द्वारा दिल्ली में एक नये अफगान राजवंश का सूत्रपात हुआ, जिसे 'सूरी' कहते हैं। शेर खां या शेरशाह अत्यन्त योग्य शासक था। उसने पंजाब, सिन्ध और मालवा की विजय कर अपने साम्राज्य का विस्तार किया, और उसके कर्तृत्व के कारण अफगान सल्तनत ने एक बार फिर अपने पुराने गौरव को प्राप्त कर लिया।

जिस समय शेरशाह भारत में अफगान शासन को पुनः स्थापित करने के लिये प्रयत्न कर रहा था, हुमायूं भी शान्त नहीं बैठा था। शेरशाह की मृत्यु (१५४५ ई०) के बाद उसने पर्शिया के शाह तहमास्प की सहायता से एक बार फिर अपने भाग्य को आजमाया। काबुल और कन्धार को जीतकर १५५५ ई० में उसने भारत पर आक्रमण किया, और शेरशाह के वंशज सुलतान सिकन्दरशाह को परास्त कर दिल्ली पर अधिकार कर लिया।

अकबर—१५५६ ई० में हुमायू की मृत्यु के बाद अकबर मुगल साम्राज्य का स्वामी बना। पर राजगद्दी पर आरूढ़ होने के समय मुगलों का शासन उत्तर-पश्चिमी भारत, पंजाब, दिल्ली और आगरा तक ही सीमित था। सूरवंशी अफगान सुलतानों को युद्ध में परास्त कर दिल्ली की राजगद्दी पर तो मुगलों का अधिकार हो गया था, पर इस समय दिल्ली की यह सल्तनत बहुत विस्तृत नहीं थी। शेरशाह के उत्तराधिकारी सूर सुलतानों की निर्बलता से लाभ उठाकर बंगाल, जौनपुर, मालवा, सिन्ध, गुजरात आदि में फिर से स्वतन्त्र मुसलिम सुलतानों का शासन स्थापित हो गया था, और मेवाड़, जोधपुर, जैसलमेर, जयपुर आदि में राजपूतों के स्वतन्त्र राज्य पुनः स्थापित हो गये थे। दक्षिणी भारत तो इस समय में दिल्ली के आधिपत्य से मुक्त था ही। अपने पिता से जो राज्य अकबर ने उत्तराधिकार में प्राप्त किया था, उसका क्षेत्रफल सुदूर दक्षिण के विजयनगर राज्य के मुकाबले में भी कम था। अतः भारत में मुगल शासन को स्थापित करने का वास्तविक श्रेय अकबर को ही प्राप्त है।

इतना ही नहीं, युद्ध में परास्त होने के बाद भी सूरवंशी अफगानों का मूलोच्छेद नहीं हो गया था। आदिलशाह सूर के नेतृत्व में अफगान राजशक्ति ने एक बार फिर सिर उठाने का प्रयत्न किया, और हेमू नामक भार्गववंशी हिन्दू के सेनापतित्व में अफगानों ने आगरा और दिल्ली को मुगलों से जीत लिया। दिल्ली को जीतकर हेमू ने अपने को सम्राट् उद्घोषित कर दिया, और 'विक्रमादित्य' की प्राचीन व गौरवशाली उपाधि धारण कर स्वतन्त्र रूप से शासन प्रारम्भ किया। पर हेमू विक्रमादित्य का शासन देर तक

कायम नहीं रह सका। १५५६ ई० में पानीपत के रणक्षेत्र में अकबर की मुगल-सेनाओं ने हेमू को परास्त कर दिल्ली और आगरा को एक बार फिर अपने अधिकार में ले लिया।

पर अभी तक भी भारत का बड़ा भाग मुगलों की अधीनता में नहीं आया था। भारत में अपने आधिपत्य का विस्तार करने के लिये अकबर ने बहुत-से युद्ध किये। उनका संक्षेप के साथ निर्देश कर सकना भी इस इतिहास में सम्भव नहीं है। अपने शासन-काल में अकबर प्रायः सम्पूर्ण उत्तरी भारत को अपनी अधीनता में लाने में समर्थ हुआ, और दक्षिणापथ के अफगान राज्यों के साथ भी उसने संघर्ष किया। भारत में अकबर को दो राजशक्तियों के विरुद्ध युद्ध करना था, मुसलिम और हिन्दू राजपूत। जिन मुसलिम अफगानों के अनेक राज्य इस समय भारत के विविध प्रदेशों में स्थापित थे, उन्हें परास्त किये बिना अकबर भारत में अपने आधिपत्य का विस्तार नहीं कर सकता था। पर साथ ही उसके लिये यह भी सुगम नही था, कि वह अफगान और राजपूत दोनों राजशक्तियों का एक साथ मुकाबला कर सके। अफगानों और मुगलों का धर्म एक था, पर धर्म की एकता उन्हें मित्र बना सकने में असमर्थ रही। इस स्थिति में अकबर का ध्यान राजपूतों की ओर गया, जो वीरता साहस आदि गुणों में संसार की किसी भी जाति से कम नहीं थे। अकबर ने भारत में मुगल-शासन की स्थापना करते हुए राजपूतों का सहयोग प्राप्त करने का यत्न किया, और इसमें वह सफल हुआ। इसीलिये उसने राजपूतों के साथ वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित कर उनके साथ मैत्री की। सबसे पूर्व जयपुर के राजा भारमल ने अपनी कन्या का विवाह अकबर के साथ कर दिया। इसके बाद अन्य भी अनेक राजपूत राजाओं ने अकबर के साथ वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित किये। अकबर ने राजपूतों को मुगल-साम्राज्य में ऊंचे से ऊंचे पद प्रदान किये, और उनकी सेना की सहायता से ही भारत के बड़े भाग की विजय की। निःसन्देह, अकबर की यह नीति बहुत बुद्धिमत्तापूर्ण थी। इसी के कारण वह भारत में अपना शासन स्थापित कर सका।

यद्यपि अन्य सब राजपूत राजाओं ने अकबर के साथ मेल कर लिया था, पर मेवाड़ के राणा किसी भी प्रकार मुगलों के साथ मैत्री करने व अकबर को अपना अधिपति मानने के लिये तैयार नहीं हुए। राणा प्रताप के नेतृत्व में मेवाड़ के राजपूतों ने मुगलों के विरुद्ध संघर्ष को जारी रखा। यद्यपि मेवाड़ के सब दुर्ग मुगल सेनाओं के अधिकार में आ गये थे, पर राणा प्रताप ने जंगलों को अपना केंद्र बनाकर अकबर के विरुद्ध संघर्ष को जारी रखा, और अपने राज-

वंश के गौरव को क्षीण नहीं होने दिया। पर इसमें सन्देह नहीं, कि राणा प्रताप के अतिरिक्त अन्य सब राजपूत राजा अकबर की नीति से संतुष्ट थे, और उन्होंने स्वेच्छापूर्वक उसकी अधीनता को स्वीकार कर लिया था। अपने छोटे-छोटे राज्यों के स्वतन्त्र शासक होने की अपेक्षा उन्हें विशाल मुगल-साम्राज्य के उच्च पदाधिकारी, सूबेदार व सेनापति होने में अधिक गौरव अनुभव होता था, और वे यह बात भलीभांति समझते थे, कि मुगलों की शक्ति उन्हीं की सहायता व सहयोग पर निर्भर है।

अकबर ने हिन्दुओं के प्रति उदारता की नीति का अनुसरण किया। उससे पूर्व मथुरा, हरिद्वार, अयोध्या, प्रयाग, काशी आदि हिन्दू तीर्थों की यात्रा करने के लिये आनेवाले तीर्थ-यात्रियों पर एक विशेष कर (तीर्थ-यात्रा कर) लिया जाता था। अकबर ने उसे हटा दिया। १५६४ में उसने हिन्दुओं से जजिया कर वसूल करना भी बन्द कर दिया। इस कर से राज्य को करोड़ों रुपये की आमदनी थी। पर अपनी हिन्दू प्रजा को संतुष्ट रखने के लिये अकबर ने इस आदमनी की परवाह नहीं की। जजिया कर को हटा देने से मुगल-साम्राज्य की हिन्दू और मुसलिम प्रजा में कोई भेद नहीं रह गया। यह बात भारत के इतिहास में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है। अफगान-युग में भारत में मुसलिम वर्ग का शासन था। पर अब अकबर ने अपने साम्राज्य में एक ऐसे शासन की नींव डाली, जो किसी सम्प्रदाय-विशेष या किसी विशिष्ट वर्ग का न होकर सब जातियों व धर्मों का सम्मिलित शासन था। उसने अपने राज्य में ऊंचे से ऊंचे पदों पर हिन्दुओं को नियत किया। राजा टोडरमल उसका दीवान व अर्थसचिव था। राजा भगवानदास और मानसिंह उसके सबसे बड़े सेनापति थे। अफगानिस्तान जैसे मुसलिम प्रदेश का शासन करने के लिये उसने मानसिंह को नियुक्त किया था। इसी प्रकार बंगाल आदि अन्य अनेक सूबों के शासक भी इस युग में हिन्दू लोग थे, जिनकी नियुक्ति सूबेदार के रूप में अकबर द्वारा की गई थी। इस सबका परिणाम यह हुआ, कि भारत में मुगलों के शासन का स्वरूप पूर्णरूप से 'राष्ट्रीय' हो गया। हिन्दुओं के प्रति अकबर ने जिस नीति का अनुसरण किया, और धर्म के सम्बन्ध में जिस नई विचारसरणी का उसने प्रारम्भ किया, उस पर हम आगे चलकर विशदरूप से प्रकाश डालेंगे।

जहांगीर—१६०५ ई० में अकबर की मृत्यु के बाद उसका लड़का सलीम जहांगीर के नाम से विशाल मुगल-साम्राज्य का स्वामी बना। वह राजपूत माता का पुत्र था, और इस कारण उसमें हिन्दूरक्त विद्यमान था। उसने अनेक अंशों

में अपने पिता की उदार नीति को जारी रखा। दक्षिणापथ में मुगल-शासन का विस्तार करने के लिये उसने अनेक युद्ध किये, पर उनमें उसे विशेष सफलता नहीं मिली। बहमनी राज्य के भग्नावशेषों पर जिन पांच शाहियों की स्थापना हुई थी, उनमें से अहमदनगर की निजामशाही को अकबर ने अपने अधीन कर लिया था। पर इस समय मलिक अम्बर नाम के सुयोग्य पुरुष ने निजामशाही की स्वतन्त्र सत्ता का पुनरुद्धार किया, और उसे परास्त करने के जहांगीर के सब प्रयत्न विफल हुए।

शाहजहां—१६२७ में जहांगीर की मृत्यु होने पर शाहजहां मुगलों के राजसिंहासन पर आरूढ़ हुआ। दक्षिणापथ में अपने आधिपत्य को विस्तृत करने में वह सफल हुआ। १६३३ में उसने अहमदनगर को जीतकर निजामशाही को अपने अधीन कर लिया, और बीजापुर व गोलकुण्डा की शाहियों के विरुद्ध युद्ध कर उन्हें अपनी अधीनता स्वीकृत करने के लिये विवश किया। शाहजहां के प्रयत्नों से दक्षिणापथ का बड़ा भाग भी मुगलों की अधीनता में आ गया। जहांगीर और शाहजहां दोनों उदार बादशाह थे, और अकबर के प्रयत्न से मुगल-साम्राज्य का जो 'राष्ट्रीय' रूप कायम हुआ था, उसे उन्होंने नष्ट नहीं होने दिया।

औरङ्गजेब—बादशाह शाहजहां के जीवनकाल में ही अपने अन्य भाइयों को गृहयुद्ध में परास्त कर और शाहजहां को बन्दी बनाकर औरङ्गजेब मुगल-साम्राज्य का स्वामी बना। अकबर की नीति का परित्याग कर उसने भारत को एक इस्लामी राज्य के रूप में परिणत करने का प्रयत्न किया। मुगल-साम्राज्य की नींव राजपूतों और हिन्दुओं की सहायता और सहानुभूति पर रखी गई थी। औरङ्गजेब ने इसी पर कुठाराघात किया। इस्लाम के सिद्धान्तों के अनुसार भारत के शासन-सूत्र का संचालन करने के उद्देश्य से जो कार्य औरङ्गजेब ने किये, उनमें मुख्य निम्नलिखित थे:—(१) हिन्दुओं पर फिर से जजिया कर लगाया गया। (२) हिन्दू-मन्दिरों को तोड़ने की आज्ञा जारी की गई। काशी में विश्वनाथ, गुजरात में सोमनाथ और मथुरा में केशवराय के मन्दिर उस समय बहुत प्रसिद्ध थे। वे सब औरङ्गजेब की आज्ञा से तोड़ दिये गये। अन्य भी बहुत-से मन्दिर गिराये गये। (३) व्यापार, व्यवसाय आदि में हिन्दुओं और मुसलमानों में भेद किया गया। यदि मुसलिम व्यापारी से ढाई प्रतिशत कर लिया जाता था, तो हिन्दू व्यापारी से पांच प्रतिशत कर वसूल करने की व्यवस्था की गई। इसका प्रयोजन यह था, कि हिन्दू व्यापारी आर्थिक लाभ की लालच से इस्लाम को

स्वीकार कर लें। (४) जो हिन्दू इस्लाम की दीक्षा ले लेते थे, उन्हें इनाम दिये जाते थे। उनका जुलुस निकाला जाता था। उन्हें राज्य में ऊंचा पद मिलता था। 'मुसलमान बन जाओ, और कानूनगो बन जाओ'—यह उस समय एक कहावत सी बन गई थी। (६) यह आज्ञा प्रचारित की गई, कि हिन्दू लोग सार्वजनिक रूप से अपने उत्सव व त्यौहार न मना सकें। (६) हिन्दुओं को उच्च राजकीय पदों से हटाकर उनके स्थान पर मुसलमानों को नियुक्त करने की नीति को अपनाया गया। (७) दिल्ली के राजदरबार में जो अनेक हिन्दू रीति-रिवाज प्रविष्ट हो गये थे, उन सबको बन्द कर दिया गया।

औरङ्गजेब की इस हिन्दूविरोधी नीति का परिणाम मुगल-साम्राज्य के लिये बहुत बुरा हुआ। हिन्दुओं की जो शक्ति अब तक मुगलों के लिये सहारा बनी हुई थी, वह अब उसके विरुद्ध उठ खड़ी हुई। हिन्दुओं ने औरङ्गजेब के विरुद्ध जो विद्रोह किये, उनमें मुख्य निम्नलिखित थे—(१) मथुरा के समीप जाटों ने विद्रोह कर दिया। बीस साल तक जाट लोग निरन्तर मुगलों के विरुद्ध संघर्ष करते रहे। (२) नारनौल के समीप सतनामी सम्प्रदाय के अनुयायियों ने विद्रोह किया। इस विद्रोह को शान्त करने में औरङ्गजेब की सेनाओं को विकट कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। (३) पंजाब में सिक्खों के गुरु तेगबहादुर ने औरङ्गजेब की नीति का विरोध किया। बादशाह के खिलाफ बगावत फैलाने के अपराध में बड़ी क्रूरता के साथ गुरु तेगबहादुर का वध किया गया। गुरु के वध का हाल जानकर सिक्खों में सनसनी फैल गई। वे अपने गुरु की हत्या का बदला लेने के लिये उठ खड़े हुए। इस समय सिक्खों में एक वीर पुरुष का प्रादुर्भाव हुआ, जिसने उन्हें संगठित कर एक प्रबल शक्ति के रूप में परिवर्तित कर दिया। यह महापुरुष गुरु गोविन्दसिंह था। उसके प्रयत्न से सिक्ख लोग एक प्रबल सैनिक शक्ति (खालसा) बन गये, और मुगलों के विरुद्ध संघर्ष को तत्पर हुए। (४) राजपूताना में दुर्गादास राठौर के नेतृत्व में राजपूतों ने विद्रोह का झण्डा खड़ा किया। चौथाई सदी के लगभग तक राजपूत लोग मुगलों के विरुद्ध संघर्ष करते रहे। मेवाड़ के राणा राजसिंह ने भी इस संघर्ष में दुर्गादास का साथ दिया। कुछ समय के लिये ऐसा प्रतीत होने लगा, कि राजपूताना को अपने आधिपत्य में रख सकना औरङ्गजेब के लिये सम्भव नहीं रहेगा। मुगल बादशाह ने राजपूतों को परास्त करने के लिये जो भी सेनायें भेजीं, वे प्रायः अपने प्रयत्न में असफल रहीं। अन्त में औरङ्गजेब को राजपूतों के साथ सन्धि करने और उन्हें संतुष्ट करने के लिये विवश होना पड़ा। (५) दक्षिणी भारत में शिवाजी ने

मराठा राज्य की नींव डाली, जिसका उद्देश्य मुसलिम-शासन का अन्त कर हिन्दू-राजशक्ति का पुनरुद्धार करना था।

मुगल-साम्राज्य की जो नीति अकबर ने निर्धारित की थी, उसके तीन प्रधान तत्त्व थे—(१) शासन को किसी धर्म या वर्ग की शक्ति पर आश्रित न रखकर सम्पूर्ण राष्ट्र पर आश्रित रखना। (२) हिन्दुओं के सहयोग व सहानुभूति को प्राप्त करना। (३) सम्पूर्ण भारत को एक शासन की अधीनता में लाना। औरङ्गजेब की हिन्दूविरोधी नीति के कारण उसके समय में पहले दो तत्त्वों का अन्त हो गया था। पर तीसरे तत्त्व को क्रिया में परिणत करने के प्रयत्न में औरङ्गजेब ने कोई कसर नहीं उठा रखी। शाहजहां के शासनकाल में दक्षिणापथ में मुगल-सत्ता का बहुत विस्तार हुआ था। अहमदनगर पर मुगलों का अधिकार हो गया था, और बीजापुर की आदिलशाही व गोलकुण्डा की कुतुबशाही ने शाहजहां के आधिपत्य को स्वीकार कर लिया था। पर औरङ्गजेब इन शाहियों की अधीनता स्वीकृत कर लेने की बात को पर्याप्त नहीं समझता था। इन शाहियों के सुलतान शिया सम्प्रदाय के अनुयायी थे, और औरङ्गजेब सुन्नी था। उसकी दृष्टि में शिया लोग भी विधर्मी थे। अपने साम्राज्य के विस्तार की आकांक्षा और विधर्मी शिया शासन का अन्त कर देने की अभिलाषा से उसने एक बड़ी सेना को साथ ले दक्षिण की ओर प्रस्थान किया। उसके शासनकाल के पिछले पच्चीस वर्ष दक्षिण में ही व्यतीत हुए। आखिर, औरङ्गजेब गोलकुण्डा और बीजापुर की स्वतन्त्र सल्तनतों का अन्त कर उन्हें अपने साम्राज्य के अन्तर्गत करने में सफल हुआ। दक्षिण में औरङ्गजेब ने केवल गोलकुण्डा और बीजापुर का ही अन्त नहीं किया, अपितु उसकी अधिक शक्ति मराठों के साथ संघर्ष करने में व्यतीत हुई।

(२) मराठों का अभ्युदय

औरङ्गजेब के शासनकाल की एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण घटना मराठा शक्ति का अभ्युदय है। अफगान-युग में हिन्दुओं में धार्मिक पुनर्जागरण की जो लहर चल रही थी, उसका उल्लेख हम पिछले एक अध्याय में कर चुके हैं। इसी लहर के परिणामस्वरूप महाराष्ट्र में भी अनेक ऐसे सन्त-महात्मा उत्पन्न हुए, जिन्होंने मराठा लोगों में नवजीवन का संचार किया। महाराष्ट्र के इन सन्तों में तुकाराम, रामदास, वामन पण्डित और एकनाथ बहुत प्रसिद्ध हैं। स्वामी रामदास समर्थ सतरहवीं सदी में हुए थे। उन्होंने न केवल मराठों के धार्मिक विचारों में

जीवन और स्फूर्ति उत्पन्न की, अपितु उनका ध्यान अपने देश और जाति के प्रति भी आकृष्ट किया। रामदास ने महाराष्ट्र में वह राष्ट्रीय लहर चलाई, जिसने मराठों में आत्मसम्मान और राष्ट्रीय उत्कर्ष की भावना को जागृत किया। वे उपदेश करते थे, कि 'जो मराठे हैं, उन सबको मिलाकर एक कर दो। महाराष्ट्रीय धर्म की वृद्धि करो। धर्म के लिये बलि देने को तत्पर रहो। धर्म के शत्रुओं का संहार करो।'

रामदास जैसे महात्माओं के कारण मराठों में नवजीवन और संगठन तो उत्पन्न हो ही रहा था, ऐसे समय में उनमें एक महापुरुष का प्रादुर्भाव हुआ, जिसने उन्हें एक प्रबल शक्ति के रूप में परिवर्तित कर दिया। इस महापुरुष का नाम शिवाजी (जन्मकाल १६२७ ई०) था। शिवाजी के पिता शाहजी अहमदनगर की निजामशाही के प्रतिष्ठित जागीरदार थे। उनकी अपनी जागीर पूना में थी। शाहजी अहमदनगर के राजदरबार में एक सामन्त का सा जीवन व्यतीत करते थे, और शिवाजी पूना में अपनी माता जीजाबाई के पास रहते थे।

बाल्यावस्था से ही शिवाजी के हृदय में महत्त्वाकाक्षाएं उत्पन्न होने लगी थीं। दक्षिण के मुसलमान सुलतानों की उस समय जो दुर्दशा थी, उससे लाभ उठाकर उन्हें अपनी शक्ति के विस्तार का अच्छा अवसर हाथ लगा। अहमदनगर तब मुगलों के हाथ मे जा चुका था। बीजापुर और गोलकुण्डा पर भी उनके आक्रमण जारी थे। इस स्थिति से लाभ उठाकर शिवाजी ने अपनी जागीर के नवयुवकों की एक सेना एकत्र की, और पूना के आसपास के दुर्गों पर हमले शुरू कर दिये। ये किले शीघ्र ही शिवाजी के हाथ में आ गये। शिवाजी जिन किलों व प्रदेशों पर आक्रमण कर अपनी शक्ति के विस्तार में लगा था, वे बीजापुर के आदिलशाह के राज्य में थे। अतः स्वाभाविक रूप से उसने शिवाजी के साथ अनेक युद्ध किये, पर उसे अपने प्रयत्न में सफलता नहीं हुई। अन्त में विवश होकर बीजापुर के सुल्तान ने शिवाजी के साथ सन्धि कर ली, और उसे उन सब दुर्गों व प्रदेशों का स्वामी स्वीकार कर लिया, जिन्हें उसने पिछले वर्षों मे जीता था।

अब शिवाजी एक स्वतन्त्र राज्य का स्वामी हो गया था। मुगल बादशाह औरङ्गजेब दक्षिणापथ में अपने आधिपत्य को स्थापित करने के लिये प्रयत्नशील था, अतः उसने शिवाजी के साथ भी युद्ध शुरू किये। शाइस्ता खां, जसवन्तसिंह और जयसिंह के सेनापतित्व में मुगल-साम्राज्य की सेनाओं ने उसपर आक्रमण किये। पहले दो सेनापति शिवाजी को काबू में लाने में असमर्थ रहे। पर जयसिंह

जैसे वीर और कुशल सेनापति को परास्त कर सकना शिवाजी के लिये कठिन था। जयसिंह ने शिवाजी को मुगल बादशाह की अधीनता स्वीकृत करने के लिये तैयार कर लिया। जयसिह की प्रेरणा से शिवाजी दिल्ली गया, और इस युग के अन्य सामन्त राजाओं के समान जीवन बिताने के लिये उद्यत हो गया। पर दिल्ली के वातावरण से उसने संतोष अनुभव नहीं किया, और कुछ समय बाद फिर अपने राज्य को वापस लौट आया। पूना लौटकर शिवाजी ने अपने राज्य को भलीभांति संगठित किया, और १६७४ ई० में रायगढ़ के दुर्ग मे बड़ी धूमधाम के साथ उसका राज्याभिषेक हुआ ।

शिवाजी के राज्य के दो भाग थे—स्वराज्य और मुगलिया । जो प्रदेश शिवाजी के अपने शासन में थे, उन्हें 'स्वराज्य' कहते थे। मुगलिया प्रदेश शिवाजी के अपने शासन में नही थे, पर मराठे लोग इनसे 'चौथ' और 'सरदेशमुखी' नाम के कर वसूल करते थे। जिन स्थानों से ये कर वसूल किये जाते थे, उनकी अन्य शक्तियों के आक्रमणों से रक्षा करना मराठे लोग अपना कर्त्तव्य समझते थे। शिवाजी के 'स्वराज्य' में उत्तर में कल्याण से लेकर दक्षिण में गोआ तक के प्रदेश सम्मिलित थे। पर शिवाजी इतने से ही संतुष्ट नही हुआ। सन् १७६७ में उसने एक बड़ा साहसपूर्ण कार्य किया। अपने स्वराज्य से बहुत दूर दक्षिण की तरफ जाकर बेल्लारी और जिन्जी के दुर्गो को उसने विजय कर लिया। इन विजयों के कारण कर्णाटक उसके आधिपत्य में आ गया। मराठा राज्य की नींव को सुदृढ़ बनाकर १६८० में शिवाजी ने इस संसार से बिदा ली। इसमें सन्देह नहीं, कि शिवाजी भारतीय इतिहास की महान् विभूतियों में से एक था। एक बिखरी हुई जाति को संगठित कर एक सूत्र में बांधना और फिर अपने स्वतन्त्र राज्य को कायम कर देना कोई साधारण बात नहीं है। आगे चलकर मराठों का बहुत अधिक उत्कर्ष हुआ, और कुछ समय के लिये वे भारत की सर्व-प्रधान राजशक्ति बन गये। पर मराठों के इस उत्कर्ष का सूत्रपात शिवाजी के साहस और प्रतिभा द्वारा ही हुआ था ।

शिवाजी का उत्तराधिकारी सम्भाजी था। वह औरङ्गजेब के मुकाबले में अपने राज्य की रक्षा कर सकने में असमर्थ रहा। मुगलों की जिन सेनाओं ने बीजापुर और गोलकुण्डा की सल्तनतों का अन्त किया था, वे सम्भाजी के मराठा राज्य को भी परास्त करने में समर्थ हुई। १६८६ में सम्भाजी कैद कर लिया गया, और बड़ी क्रूरता के साथ उसका वध हुआ।

पर मराठों का यह अपकर्ष सामयिक था। औरङ्गजेब की मृत्यु के बाद

उन्हें अपनी शक्ति को बढ़ाने का फिर अवसर मिला। यद्यपि मुगल सेनाओं ने मराठों के दुर्गों पर कब्जा कर लिया था, पर मराठे लोग इससे हार नहीं मान गये थे। उन्होंने मुगलों के साथ संघर्ष को बन्द नहीं किया। उनके बहुत-से दल चारों तरफ से मुगल-साम्राज्य पर आक्रमण करने के लिये निकल पडे। वे किसी प्रदेश पर अपना स्थिर शासन स्थापित करने का प्रयत्न नहीं करते थे। वे जहां जाते, चौथ और सरदेशमुखी वसूल करते। अगर उन प्रदेशों के सूबेदार इन करों को नियमपूर्वक देते रहते, तब तो ठीक था। अन्यथा, मराठे लोग उनपर आक्रमण कर देते। मुगलों के विरुद्ध अपनी शक्ति का उत्कर्ष करने के लिये मराठो ने इसी ढंग को अपनाया था।

औरङ्गजेब के उत्तराधिकारी निर्बल थे। न उनमें अकबर-जैसी नीति-कुशलता थी, और न औरङ्गजेब-जैसा साहस। मराठों ने इस स्थिति से पूरा लाभ उठाया। बालाजी विश्वनाथ नामक सुयोग्य नेता के नेतृत्व में मराठों ने दिल्ली की बादशाहत के आन्तरिक झगड़ों में हस्तक्षेप किया, और सम्पूर्ण दक्षिणी भारत से चौथ और सरदेशमुखी वसूल करने का अधिकार प्राप्त कर लिया। बालाजी विश्वनाथ के प्रयत्न से मराठों की शक्ति बहुत बढ गई। मुगल-साम्राज्य की शक्ति के क्षीण होते ही उन्होंने अपने असली मराठा राज्य को तो स्वाधीन कर ही लिया था, अब चोथ और सरदेशमुखी वसूल करने का अधिकार प्राप्त कर वे दक्षिणी भारत की वास्तविक राजशक्ति बन गये।

पेशवा बाजीराव (१७२०—१७४०) के समय में मराठों की शक्ति केवल दक्षिणी भारत तक ही सीमित नही रह गई। उन्होंने दक्षिणी भारत से आगे बढ़ कर गुजरात, मध्यभारत आदि पर भी आक्रमण करने शुरू किये। इन आक्रमणों के परिणामस्वरूप बाजीराव के समय में मराठों के चार नये राज्य कायम हुए। राघोजी भोंसले ने मध्यभारत में नागपुर को राजधानी बनाकर एक नये राज्य की स्थापना की। गुजरात में महादजी गायकवाड़ ने, मालवा और इन्दौर में मल्हारराव होलकर ने और ग्वालियर में राघवजी सिन्धिया ने अपने राज्य कायम किये। ये चारों सरदार पेशवाओं को अपना अधिपति मानते थे, और पेशवा शिवाजी के वंशज छत्रपति राजा के नाम पर वास्तविक राजशक्ति का उपभोग करता था। सिन्धिया, गायकवाड़, होलकर और भोंसले क्रियात्मक दृष्टि से स्वतन्त्र राजा थे, और अपने शासन-क्षेत्र को और अधिक विस्तृत करने के लिये प्रयत्नशील रहते थे। उत्तर में इन वीर राजाओं ने गंगा-जमुना के द्वाब तक आक्रमण किये, और वहां के मुगल शासकों के साथ संघर्ष किये। मुगल-साम्राज्य

इस समय इतना निर्बल हो चुका था, कि मराठों से अपनी रक्षा कर सकना उसके लिये सम्भव नहीं रहा था ।

बाजीराव की मृत्यु के बाद उसका पुत्र बालाजी बाजीराव (१७४०--१७६१) पेशवा के पद पर अधिष्ठित हुआ । उसके शासनकाल में मराठा साम्राज्य अपनी शक्ति की चरमसीमा पर पहुंच गया । इसी काल में राघोजी भोंसले ने उड़ीसा और बंगाल पर आक्रमण किया । उड़ीसा मराठों के शासन में आ गया, और बंगाल से उन्होंने चौथ और सरदेशमुखी कर वसूल किये । इसी समय एक मराठा सेना ने रुहेलखण्ड पर आक्रमण किया, और पेशवा के भाई रघुनाथ राव ने पंजाब पर चढ़ाई की । सिन्ध नदी के तट पर स्थित अटक के दुर्ग पर मराठों का भगवा झण्डा फहराने लगा । दिल्ली का मुगल बादशाह इस समय मराठों के हाथ में कठपुतली के समान था । उसका तेज मराठों के सामने मन्द पड़ गया था ।

(३) मुगल-साम्राज्य का ह्रास

औरङ्गजेब की हिन्दूविरोधी नीति के कारण मुगल-शासन के राष्ट्रीय रूप का अन्त हो गया था, और राजपूत सिक्ख मराठे आदि विविध हिन्दू राजशक्तियां मुगल-आधिपत्य का अन्त कर अपने स्वतन्त्र राज्य स्थापित करने में तत्पर हो गई थीं । इस समय में यदि मुगल-राजकुल व उसके मुसलिम मनसबदारों व सूबेदारों में ऐक्य होता, और वे खण्ड-खण्ड होते हुए साम्राज्य की रक्षा के लिये सम्मिलित रूप से यत्न करते, तो शायद कुछ समय के लिये उसकी रक्षा हो भी जाती । पर वे भी आपस में लड़ने, अपने स्वतन्त्र राज्य कायम करने और अपने वैयक्तिक उत्कर्ष की फिक्र में थे । परिणाम यह हुआ, कि विशाल मुगल-साम्राज्य का पतन शुरू हुआ, और उसके स्थान पर विविध राज्य कायम होने लगे । पंजाब में सिक्खों ने जोर पकड़ा । बुन्देलखण्ड, राजपूताना और मध्यभारत में अनेक स्वतन्त्र व अर्धस्वतन्त्र राजपूत-राज्य कायम हुए । जाटों ने आगरा के समीप के प्रदेशों में अपने राज्य स्थापित किये । मराठे न केवल दक्षिणी भारत में अपनी शक्ति का विकास करने में समर्थ हुए, अपितु अटक से कटक तक और हिमालय से कुमारी अन्तरीप तक अपने आधिपत्य की स्थापना के उद्देश्य से विजय-यात्रायें करने के लिये प्रयत्नशील हुए । मुगल बादशाहों द्वारा नियुक्त प्रान्तीय सूबेदार दिल्ली के बादशाह की शक्ति की उपेक्षा कर स्वतन्त्र राजाओं के समान आचरण करने की प्रवृत्ति रखने लगे ।

ऐसी स्थिति में औरङ्गजेब की मृत्यु (१७०७ ई०) के बत्तीस साल बाद १७३९ में पर्शिया के शाह नादिरशाह ने भारत पर आक्रमण किया। इस समय दिल्ली की राजगद्दी पर मुहम्मदशाह विराजमान था। वह नादिरशाह का मुकाबला करने में असमर्थ रहा। मुगल-सेना को युद्ध में परास्त कर नादिरशाह ने दिल्ली पर कब्जा कर लिया, और उसे बुरी तरह से लूटा। नादिरशाह ने दिल्ली में कत्लेआम का भी हुक्म दिया। पर्शियन आक्रान्ता ने भारत में अपना स्थायी शासन स्थापित करने का प्रयत्न नहीं किया, पर उसके आक्रमण के कारण मुगल बादशाहत की रही-सही शक्ति भी नष्ट हो गई। मराठों राजपूतों और सिक्खों न उसे पहले ही खोखला कर दिया था। जो शक्ति उसमें शेष थी, वह अब नादिरशाह के आक्रमण से नष्ट हो गई। इसके बाद मुहम्मदशाह नाम को ही भारत का बादशाह रह गया।

पर्शिया का जो साम्राज्य नादिरशाह ने कायम किया था, वह भी देर तक स्थिर नहीं रहा। उसकी मृत्यु के कुछ समय बाद अफगानिस्तान में (जो अकबर सदृश प्रतापी मुगल सम्राटों के शासनकाल में मुगल-साम्राज्य के अन्तर्गत था) अहमदशाह अब्दाली ने अपने पृथक् राज्य की स्थापना की। अपने राज्य के उत्कर्ष को दृष्टि में रखकर उसने कई बार भारत पर चढ़ाई की, और सन् १७५७ में बुरी तरह दिल्ली को लूटा। इस समय तक भारत में मराठों की शक्ति बहुत बढ़ चुकी थी। उत्तरी भारत के भी अधिकांश प्रदेश उनकी अधीनता को स्वीकृत करते थे। दिल्ली का मुगल बादशाह उनके हाथों में कठ-पुतली के समान था। अहमदशाह अब्दाली का सबसे महत्त्वपूर्ण आक्रमण सन् १७६१ मे हुआ। इस आक्रमण का उद्देश्य पंजाब से मराठों की सत्ता का अन्त करना था। अहमदशाह अब्दाली पहले आक्रमणों द्वारा पंजाब को अपने आधिपत्य में ला चुका था। पर अब मराठों ने उसकी तरफ से शासन करने वाले पंजाब के सूबेदार को परास्त कर वहां अपना सूबेदार नियत किया था। १७६१ के आक्रमण में अहमदशाह अब्दाली ने पंजाब के मराठा सूबेदार को परास्त किया, और दिल्ली को एक बार फिर अपने कब्जे में कर लिया। जब यह समाचार मराठों को मालूम हुआ, तो उन्होंने अब्दाली का मुकाबला करन के लिये बड़ी भारी तैयारी की। सदाशिवराव भाऊ और पेशवा बालाजी बाजीराव के पुत्र विश्वासराव ने बीस हजार घुड़सवार, दस हजार पदाति और एक बड़ा तोपखाना लेकर दिल्ली की तरफ प्रस्थान किया। तोपखाने का सेनापति इब्राहीम गर्दे था,

जो अपने तोपखाने के कारण दक्षिण में बहुत नाम पैदा कर चुका था। सब मराठे राजा अपनी-अपनी सेनायें लेकर पेशवा की सहायता के लिये आये। अनेक राजपूत राजाओं ने भी अब्दाली के विरुद्ध युद्ध में मराठों के साथ सहयोग किया। पहले दिल्ली की विजय की गई। बारहवीं सदी के अन्तिम भाग में जो दिल्ली साढ़े पांच सदी से भी अधिक समय तक निरन्तर मुसलिम सम्राटों के कब्जे में रही थी, अब अठारहवी सदी के मध्य भाग में उसपर मराठों का आधिपत्य स्थापित हो गया। पेशवा के पुत्र विश्वासराव को दिल्ली का 'मराठा-सम्राट्' उद्घोषित करने की योजना बनाई गई। निःसन्देह, इस समय मराठों की शक्ति उत्कर्ष की चरमसीमा पर पहुंच गई थी।

अहमदशाह अब्दाली ने मराठों का मुकाबला करने के लिये पूर्ण शक्ति के साथ तैयारी की थी। अन्त में १७६१ ईस्वी के समाप्त होने के पूर्व ही पानीपत के रणक्षेत्र में अब्दाली और मराठों की सेना में लड़ाई हुई। सदाशिवराव भाऊ ने अपने उद्दण्ड व्यवहार द्वारा जाट और राजपूत लोगों को नाराज कर दिया था। अकबर ने हिन्दुओं के प्रति जिस नीति का अनुसरण किया था, उसके कारण हिन्दुओं में मुगल-राजवंश के प्रति आदर का भाव था। औरङ्गजेब की हिन्दू-विरोधी नीति भी इस भाव को पूर्णतया नष्ट नहीं कर सकी थी। पिछले मुगल-बादशाहों ने अपने राज्य में राजपूतों व अन्य हिन्दुओं को ऊंचे पद दिये थे, और हिन्दू लोग मुगल बादशाहत व उसकी विविध संस्थाओं के प्रति सम्मान का भाव रखते थे। इस्लाम के धर्म-स्थानों और रीति-रिवाजों का भी वे आदर करते थे। सदाशिवराव भाऊ ने दिल्ली के लाल किले और जामा मसजिद आदि के प्रति जो असम्मान प्रदर्शित किया, वह राजपूतों और जाटों को अच्छा नहीं लगा। इसीलिये पानीपत के युद्ध (१७६१) में इन लोगों ने मराठों का साथ नही दिया। युद्ध में मराठे लोग परास्त हुए। सदाशिवराव, विश्वासराव और अन्य अनेक मराठे सरदार युद्ध में मारे गये। पानीपत की इस पराजय से मराठा शक्ति को बहुत धक्का लगा। उनके उत्कर्ष का काल अब समाप्त हो गया था।

इस समय भारत में एक अन्य विदेशी जाति अपनी शक्ति का विस्तार करने में तत्पर थी। इसने हिन्दूकुश पर्वतमाला को पार कर उत्तर-पश्चिम की ओर से भारत में प्रवेश नहीं किया था। यह समुद्र के मार्ग से भारत में आई थी। इसका नाम अंग्रेज जाति है। मराठों के निर्बल पड़ने पर अंग्रेजों की शक्ति भारत में तेजी के साथ बढ़ने लगी, और अठारहवीं सदी का अन्त होने तक वे भारत की प्रधान राजशक्ति बन गये।

अठारहवीं सदी के उत्तरार्ध में भारत की राजशक्ति जिन विविध जातियों व राजवंशों के हाथों में थी, उनका निर्देश इस ढंग से किया जा सकता है—

(१) मुसलिम—(क) दिल्ली में मुगल बादशाहों का शासन था, पर उनकी शक्ति बहुत क्षीण दशा में थी। (ख) अवध में एक पृथक् व स्वतन्त्र मुसलिम राजवंश की स्थापना हो गई थी, जो नाममात्र को मुगल बादशाह की अधीनता स्वीकृत करता था। (ग) बंगाल के सूबेदार भी मुसलिम थे, जो क्रियात्मक दृष्टि से स्वतन्त्र थे। (घ) दक्षिणापथ (दक्खन) के सूबे का शासन अठारहवीं सदी के शुरू में निजामुलमुल्क के सुपुर्द किया गया था, जो मुगल बादशाहत की निर्बलता से लाभ उठाकर स्वतन्त्र रूप से आचरण करने लगा था। चौथ और सरदेशमुखी प्रदान कर मराठों को संतुष्ट रखते हुए दक्खन के ये निजाम अपनी स्वतन्त्र सत्ता को कायम रखे हुए थे।

(२) मराठे—शिवाजी द्वारा मराठा शक्ति का किस प्रकार प्रादुर्भाव हुआ, और पेशवाओं ने उसे किस प्रकार विकसित किया, इस विषय पर ऊपर प्रकाश डाला जा चुका है। अठारहवीं सदी के मध्य भाग में मराठों की शक्ति उत्कर्ष की चरमसीमा को पहुंच चुकी थी, और १७६१ के बाद भी ग्वालियर, नागपुर, इन्दौर, बड़ौदा व महाराष्ट्र में उनके स्वतन्त्र व शक्तिशाली राज्य कायम थे। अपने 'स्वराज्य' के अतिरिक्त बहुत-से मुगलिया प्रदेशों से भी मराठे लोग चौथ और सरदेशमुखी वसूल करते थे।

(३) राजपूत—मुगल बादशाहत के उत्कर्ष-काल में भी राजपूताना के राजपूत-राज्य अपने-अपने क्षेत्र में स्वतन्त्र रूप से शासन करते थे। मुगल सेनाओं के सेनापति व विभिन्न सूबों के सूबेदार के रूप में राजपूत राजाओं की शक्ति व वैभव में बहुत वृद्धि हो गई थी। औरङ्गजेब के बाद राजपूताने के विविध राजा क्रियात्मक दृष्टि से स्वतन्त्र हो गये थे, और मुगल बादशाहत की राजनीति में खुलकर खेलते थे।

(४) सिक्ख—औरङ्गजेब के शासनकाल में ही गुरु गोविन्दसिंह के नेतृत्व में सिक्खों ने अपना सैनिक संगठन बना लिया था। १७६१ में पानीपत के रणक्षेत्र में मराठों के परास्त हो जाने पर पंजाब में अपनी राजशक्ति के विकास का उन्हे अनुपम अवसर मिला, और १७६७ में अहमदशाह अब्दाली को परास्त कर उन्होंने पंजाब में अपने अनेक स्वतन्त्र राज्य कायम कर लिये। अठारहवीं सदी के अन्त तक सिक्ख पंजाब की प्रधान राजशक्ति बन चुके थे।

(५) जाट—अठारहवीं सदी के मध्य तक दिल्ली और आगरा के समीपवर्ती

सातवीं सदी से बारहवीं सदी तक के हिन्दू राजा निरन्तर आपस में लड़ते रहे, और विजय-यात्राओं द्वारा देश में अराजकता उत्पन्न करते रहे। तेरहवीं, चौदहवीं और पन्द्रहवीं सदियों में अफगान सुलतानों के शासनकाल में भी यही दशा रही। पर मुगल-सम्राटों के शासन-काल में इस स्थिति में परिवर्तन आया, और कम से कम विन्ध्याचल के उत्तर के प्रदेशों में एक सुव्यवस्थित शासन स्थापित हो गया। अकबर, जहांगीर, शाहजहां और औरङ्गजेब का यही प्रयत्न था, कि वे सारे भारत को जीतकर अपने शासन में ले आवें। इसमें उन्हें सफलता भी हो जाती, यदि औरङ्गजेब हिन्दू-विरोधी नीति को अनुसरण न करता।

मुगल बादशाहों ने भारत की विविध राजशक्तियों को अपना वशवर्ती बनाकर उन्हें अपना सहायक बना लिया था। अकबर से पूर्व सैकड़ों राजा-महाराजा मुसलिम सरदार व सुलतान भारत के विविध प्रदेशों पर शासन करते थे। ये सदा आपस में लड़ते रहते थे। दिल्ली के अफगान सुलतानों के शासन-काल में इस स्थिति में कोई अन्तर नहीं आया था। अलाउद्दीन खिलजी जैसा दिग्विजयी सुलतान भारत के बहुत बड़े भाग की विजय करने में समर्थ हुआ था। पर उसकी विजयों के कारण न भारत की विविध राजशक्तियां अफगान सुलतानों की वशवर्ती हुई थीं, और न उनके पारस्परिक संघर्ष का ही अन्त हुआ था। पर अकबर की नीति के कारण भारत के विविध राजवंश पूर्णतया मुगल बादशाहत के वशवर्ती हो गये थे। अपने छोटे-छोटे राज्यों में स्वतन्त्र राजा के समान शासन करने की अपेक्षा वे आगरा और दिल्ली के राजदरबार में मनसबदार के रूप में जीवन व्यतीत करना अधिक सम्मानास्पद समझने लगे थे। मध्यकाल की सामन्त पद्धति का ह्रास होकर अब यह स्थिति आ गई थी, कि पुराने उग्र व स्वतन्त्रताप्रिय राजा व सरदार मुगल दरबार में अमीर-उमराओं के रूप में अदब कायदे के साथ खड़े होने को गौरव की बात मानने लगे थे। इनकी स्थिति केवल अपनी तलवार पर आश्रित न रहकर बादशाह की कृपादृष्टि पर निर्भर हो गई थी।

(२) मुगल बादशाहत का शासन किसी सम्प्रदाय या जातिविशेष का शासन नहीं था। वह सच्चे अर्थों में 'राष्ट्रीय' शासन था, जिसमें हिन्दुओं और मुसलमानों को समान रूप से उन्नति का अवसर था। केवल राजपूत राजा ही नहीं, अपितु बीरबल-जैसे मध्यवर्ग के लोग भी अपनी योग्यता के कारण इस समय उन्नति कर सकने में समर्थ हुए थे।

(३) मुगल-दरबार के वैभव और समृद्धि से आकृष्ट होकर बहुत-से विदेशी

लोग इस समय भारत में आते रहे, और मुगल बादशाहों ने उन्हें उदारतापूर्वक अपने दरबार या शासन-प्रबन्ध में स्थान दिया। विशेषतया, पर्शिया, मिस्र, अरब आदि मुसलिम देशों के बहुत से विद्वान् व वीर पुरुष इस युग में भारत आये, और उनके सम्पर्क से इस देश के ज्ञान व सैनिक शक्ति की वृद्धि में पर्याप्त सहायता मिली।

(४) भारत में एक सुव्यवस्थित शासन की स्थापना के कारण इस देश के विदेशी व्यापार में भी बहुत वृद्धि हुई और स्थल व जल दोनों मार्गों से भारत का विदेशी व्यापार बहुत उन्नत हुआ। इस युग में भारत का विदेशी व्यापार केवल मुसलिम देशों तक ही सीमित नहीं रहा, अपितु पोर्तुगीज, डच, फ्रेञ्च, ब्रिटिश आदि यूरोपियन लोग भी व्यापार को दृष्टि में रखकर भारत आने-जाने लगे। मुगल-बादशाह इन यूरोपियन व्यापारियों का स्वागत करते थे, और उन्हें व्यापार-विषयक सब प्रकार की सुविधायें प्रदान करते थे।

(५) बारूद और तोपखाने का प्रवेश बाबर द्वारा भारत में हुआ। मुगल-सम्राट् जो इस देश के बड़े भाग पर अपना सुव्यवस्थित शासन स्थापित कर सके, उसमें उनकी युद्धनीति व बारूद का प्रयोग भी महत्त्वपूर्ण कारण थे। मुगलों का सैन्य-संगठन बहुत उत्कृष्ट था, और उन्होंने अपनी सैनिक शक्ति को इतना अधिक बढ़ा लिया था, कि कुछ समय के लिये भारत में उनका कोई भी प्रतिद्वन्द्वी नहीं रहा था।

(६) भारत में राष्ट्रीय एकता के विकास में मुगल-साम्राज्य ने बहुत सहायता पहुंचाई। हिन्दी उर्दू या हिन्दुस्तानी इस युग में भारत की प्रधान भाषा बन गई। उत्तरी भारत के बड़े भाग में समझी व बोले जानेवाली हिन्दी भाषा में पर्शियन शब्दों का समावेश होने से इस युग में एक ऐसी भाषा का विकास हुआ, जो न केवल उत्तरी भारत में सर्वत्र प्रयुक्त होने लगी, अपितु मुसलिम विजेता जिसे दक्षिणी भारत में भी अपने साथ ले गये। इस भाषा का प्रादुर्भाव अफगान-युग में ही हो चुका था, पर मुगल-काल में उसका विशेष रूप से विकास हुआ। इस राष्ट्रीय भाषा को पर्शियन लिपि में लिखने पर उर्दू कहते थे, और नागरी लिपि में लिखने पर हिन्दी। पर इसे हिन्दू और मुसलमान समान रूप से प्रयोग में लाते थे। दक्षिण में कितने ही मुसलमान कवियों ने इसमें काव्य की रचना की, और अब्दुर्रहीम खानखाना-जैसे मुसलिम कवि (अकबर के समय में) ने इसमें कितनी ही कवितायें बनाई।

(७) मुगलों के शासन में भारत में जो शान्ति और व्यवस्था कायम हुई,

उसके कारण इस देश की बहुत समृद्धि हुई। कला, भवन-निर्माण, संगीत, साहित्य, कविता, धर्म आदि सभी क्षेत्रों में इस समय भारत ने असाधारण रूप से उन्नति की।

सहायक ग्रन्थ

Cambridge History of India Vol. IV
Mazumdar etc : An Advanced History of India.
Iswarir Prasad : A Short History fo Muslim Rule in India.
Sarkar J. N. : India through the Ages.
Panikkar : A Survey of Indian History.
Edwards & Garret : Moghal Rule in India.

उन्तीसवां अध्याय

मुगल-युग का भारत

(१) शासन-व्यवस्था

भारत के इतिहास में मुगल-युग की शासन-व्यवस्था का बहुत अधिक महत्त्व है। इसका कारण यह है, कि इस समय देश का शासन जिस ढंग से संगठित हुआ था, उसके अनेक तत्त्व ब्रिटिश युग में भी कायम रहे, और अब तक भी उनके अवशेष विद्यमान हैं। शहरों के कोतवाल, मालगुजारी वसूल करनेवाले तहसीलदार, कानूनगो और पटवारी उस युग का स्मरण दिलाने के लिये पर्याप्त हैं, जब कि भारत में मुगल-सम्राटों का शासन था।

मुगल-युग की शासन-व्यवस्था का निर्माण अकबर के समय में हुआ था। यद्यपि मुगलों के पहले दो बादशाह बाबर और हुमायूं थे, पर वे अपने राज्य को सुव्यवस्थित रूप नहीं दे सके थे, क्योंकि उनका अधिकांश समय युद्धों में और भारत में अपना आधिपत्य स्थापित करने में ही व्यतीत हो गया था। मुगल-साम्राज्य को सुव्यवस्थित रूप देने और उसके शासन को भलीभांति संगठित करने का प्रधान श्रेय अकबर को प्राप्त है। पर उससे भी पूर्व शेरशाह सूरी ने दिल्ली को हुमायूं की अधीनता से मुक्त कर जब उत्तरी भारत में अपने साम्राज्य का विस्तार किया, तो उसने अपने शासन को सुसंगठित और सुव्यवस्थित करने पर भी विशेष रूप से ध्यान दिया। शेरशाह सूरी ने मालगुजारी वसूल करने व विविध राजकर्मचारियों द्वारा देश के शासन की जिस व्यवस्था का सूत्रपात किया था, आगे चलकर अकबर ने उसी को विकसित किया। अतः मुगल शासन-पद्धति को अनेक अंशों में शेरशाह द्वारा स्थापित व्यवस्था का ही विकसित रूप मानना चाहिये।

शासन का स्वरूप—मुगलों द्वारा स्थापित शासन-पद्धति के स्वरूप को

भलीभांति समझने के लिये उसकी निम्नलिखित विशेषताओं को ध्यान में रखना आवश्यक है—

(१) मुगल आक्रान्ता भारत के लिये विदेशी थे। वे धर्म से मुसलमान थे, और पर्शिया व अरब के शासन-सम्बन्धी सिद्धांतों से भलीभांति परिचित थे। पर उनके लिये यह सम्भव नहीं था, कि भारत की शासन-सम्बन्धी परम्पराओं की सर्वथा उपेक्षा कर मुसलिम सिद्धान्तों के अनुसार इस देश का शासन कर सकें। इसलिये उनकी शासन-व्यवस्था मुसलिम राज्य के सिद्धान्तों और भारत की परम्परागत शासन-विधि के समन्वय का परिणाम थी। भारत में ग्राम-संस्थाओं और शिल्पियों व व्यापारियों के आर्थिक संगठनों (श्रेणि और निगम) का बहुत महत्त्व था। अफगान-युग में भी स्थानीय स्वशासन की इन परम्परागत संस्थाओं का विनाश नहीं हुआ था। मुगल-युग में भी ये पूर्ववत् कायम रहीं, और सर्वसाधारण जनता अपने साथ सम्बन्ध रखनेवाले मामलों का पुरानी परम्परा के अनुसार स्वयं शासन करती रही। भारत की विविध जातियों व बिरादरियों में जो कानून व प्रथायें पुराने समय से चली आ रही थीं, मुगलों ने उनमें हस्तक्षेप नहीं किया। उत्तराधिकार, विवाह, स्त्री-पुरुष का सम्बन्ध आदि सामाजिक मामलों के कानून वे ही कायम रहे, जो विविध जातियों में चिरकाल से चले आते थे। पर केंद्रीय शासन और विविध सूबों के शासन की व्यवस्था करते हुए मुगल-बादशाहों ने उस शासन-विधि को अपनी दृष्टि में रखा, जो ईरान, ईराक, मिस्र आदि मुसलिम देशों में विद्यमान थी, और जिससे वे भलीभांति परिचित थे।

(२) मुगल-शासन का स्वरूप सैनिक था। उसकी सत्ता सैन्य शक्ति पर आश्रित थी। अतः प्रत्येक उच्च पदाधिकारी के लिये यह अनिवार्य था, कि सेना में उसका उच्च स्थान हो। ये कर्मचारी 'मनसबदार' कहाते थे। मनसब मुगल-सेना का एक ओहदा होता था, और राज्य के प्रत्येक कर्मचारी के लिये यह आवश्यक था, कि सेना में वह अपना ओहदा (मनसब) रखे। इन मनसबदारों के दसहजारी, पांचहजारी, हजारी आदि कितने ही वर्ग थे। सबसे छोटा मनसब-दार दस सैनिकों का नायक होता था, और सबसे बड़ा दस हजार सैनिकों का। राज्य के दीवान, बख्शी, काजी, मुहतसिब आदि सब उच्च पदाधिकारी सेना में भी 'मनसबदार' की स्थिति रखते थे। केवल बड़े पदाधिकारी ही नहीं, अपितु राज्य के मुनीम आदि छोटे कर्मचारी भी मुगल-सेना में ओहदा रखते थे। विविध कोटि के इन मनसबदारों के लिये यह आवश्यक था, कि वे अपनी स्थिति के

अनुसार सैनिकों व घुड़सवारों की एक निश्चित संख्या अपने अधीन रखें, और अपने वेतन से उनका खर्च चलावें। मनसबदारों को वेतन या तो नकद मिलता था, और या उसके बदले में उन्हें एक जागीर दे दी जाती थी, जिसकी आमदनी से वे अपना व अपने सैनिकों का खर्च चलाते थे।

(३) मुगल-सरकार जनता के हित व कल्याण के लिये शिक्षणालय, अस्पताल आदि खुलवाना अपने कार्यक्षेत्र के बाहर की बात समझती थी। इस युग में संसार के विविध देशों के राजा देश में शान्ति स्थापित रखना व बाह्य आक्रमणों से उसकी रक्षा करना ही अपना प्रधान कर्त्तव्य समझते थे। उनके राज्य-शासन का स्वरूप 'पुलीस स्टेट' के सदृश था। जनता के हित व कल्याण के लिये जिस प्रकार के उपायों का अवलम्बन आजकल के राज्य अपना कर्त्तव्य समझते हैं, वैसा इस युग में नहीं समझा जाता था। ये कार्य या तो इस युग के धार्मिक सम्प्रदाय करते थे, और या सम्पन्न व्यक्ति। मुगल-बादशाहों ने भी शिक्षा साहित्य आदि के प्रोत्साहन के लिये धन का उदारतापूर्वक व्यय किया। पर इनका यह कार्य राजा व बादशाह की स्थिति में न होकर एक सम्पन्न या धनी व्यक्ति के रूप में था। इस युग के अन्य सम्पन्न पुरुषों के समान मुगल बादशाहों ने भी विद्वानों और साहित्यिकों का संरक्षण व प्रोत्साहन किया। पर यह करते हुए उन्होंने इस कार्य को अपना राजकीय कर्त्तव्य नहीं समझा। बादशाह की स्थिति में वे अपना प्रधान कर्त्तव्य यही समझते थे, कि देश की आभ्यन्तर व बाह्य शत्रुओं से रक्षा करें, और सेना की सहायता से अपने आधिपत्य के क्षेत्र का विस्तार करने में तत्पर रहें।

(४) मुगल बादशाह पूर्णतया निरंकुश और स्वेच्छाचारी थे। उनकी शक्ति को मर्यादित करने के लिये कोई ऐसी राजसभायें व अन्य संस्थायें नहीं थी, जो उसकी इच्छा पर अंकुश रख सकतीं। इसमें सन्देह नहीं, कि राज्य-कार्य में उनकी सहायता करने के लिये मन्त्रियों की सत्ता थी, और दीवाने-आम में उपस्थित अमीर-उमरा व मनसबदार लोग उसे महत्त्वपूर्ण विषयों पर परामर्श दे सकते थे। पर इस परामर्श को मानना न मानना राजा की अपनी इच्छा पर निर्भर था। यही कारण है, कि अकबर ने हिन्दुओं के प्रति जिस नीति का अनुसरण किया, औरङ्गजेब ने उसे आमूलचूल परवर्तित कर दिया। पर साथ ही यह भी ध्यान में रखना आवश्यक है, कि बादशाह की निरंकुशता की एक सीमा भी थी। वह ऐसी नीति का अनुसरण नहीं कर सकता था, जो उसके मनसबदारों को सर्वथा अस्वीकार्य हो। इसी कारण अकबर को 'दीने-इलाही'

के प्रचार में सफलता नहीं हुई, और इसीलिये औरंगजेब की हिन्दू-विरोधी नीति ने मुगल-साम्राज्य को खण्ड-खण्ड कर दिया।

(५) इस्लाम के सिद्धान्तों के अनुसार राजा न केवल अपने राज्य का स्वामी होता है, अपितु साथ ही मुसलिम धर्म का भी अधिपति होता है। इसीलिये हजरत मुहम्मद के उत्तराधिकारी खलीफा लोग जहां अरब साम्राज्य के स्वामी थे, वहां साथ ही सम्पूर्ण मुसलिम जगत् के भी प्रधान थे। राजा और पोप दोनों के पद उनमें एकीभूत हो गये थे। साथ ही, मुसलिम विधानशास्त्र के अनुसार यह भी आवश्यक है, कि राजा शरायत के अनुसार शासन करे। मुसलिम राज्य में राजा मुसलिम प्रजा का शासक होता है। गैर-मुसलिमों की सत्ता या तो मुसलिम राज्य स्वीकार ही नहीं करता, या उनके जान-माल की रक्षा के बदले में उनसे एक विशेष कर वसूल करता है, जिसे जजिया कहते हैं। इसीलिये अफगान-युग में हिन्दुओं को जजिया-कर देना पड़ता था। पर अकबर, जहांगीर और शाहजहां ने मुसलिम राज्य के इस सिद्धांत की उपेक्षा की, और शासन के क्षेत्र में हिन्दुओं और मुसलमानों के भेद को दूर कर दिया। इसी दृष्टि से उनके शासन को 'राष्ट्रीय' समझा जाता है, जिसमें हिन्दुओं और मुसलमानों की एक समान स्थिति थी।

(६) जिस प्रकार मुगल बादशाह राज्य-शासन के सर्वोच्च अधिकारी थे, वैसे ही न्याय के क्षेत्र में भी उनकी सत्ता सर्वोपरि थी। वे अपनी इच्छा के अनुसार 'शासन' (राजाज्ञा) जारी करते थे, और उनको पालन करना सम्पूर्ण प्रजा के लिये आवश्यक था। विवादग्रस्त बातों का अन्तिम निर्णय राजा द्वारा ही किया जाता था, और काजी आदि विविध न्याय-सम्बन्धी अधिकारियों के निर्णयों के विरुद्ध बादशाह की अदालत में अपील की जा सकती थी। दीवाने-आम में जनता को यह अवसर मिलता था, कि वह बादशाह की सेवा में अपने प्रार्थनापत्र पेश कर सके। जहांगीर ने आगरा के किले में स्थित शाहबुर्ज से लेकर यमुना के किनारे तक एक जंजीर लटकवा दी थी, जिसके सिरे पर घंटियां बंधी हुई थीं। कोई भी व्यक्ति इस जंजीर को खींचकर बादशाह का ध्यान अपनी अर्ज की ओर आकृष्ट कर सकता था। पर मुगल-काल का राजा न्यायप्रिय हो या नहीं, यह भी उसकी अपनी इच्छा और प्रवृत्ति पर ही निर्भर था। साथ ही, इस प्रसङ्ग में यह भी ध्यान देने योग्य है, कि सर्वसाधारण जनता को अपने विवादग्रस्त विषयों के लिये बादशाह व उसके सूबदारों की सेवा में उपस्थित होने की विशेष आवश्यकता नहीं होती थी, क्योंकि ग्रामों, आर्थिक संगठनों और

बिरादरियों की अपनी-अपनी पंचायतें इस युग में भी विद्यमान थीं, और बहुसंख्यक मामलों का निर्णय उन्हीं द्वारा होता था। जिन मामलों को आज कल दीवानी (सिविल) कहा जाता है, वे राजकीय न्यायालयों में बहुत कम पेश होते थे। उनका निर्णय प्रायः जनता की अपनी पंचायतों द्वारा ही होता था। फौजदारी के मामले या मुसलिम प्रजा के मामले काजी की अदालत में पेश होते थे, और प्रायः उन्ही के बारे में बादशाह की सेवा में अर्ज की जाती थी।

(७) यद्यपि राज्य के आर्थिक जीवन में सरकार कोई विशेष दिलचस्पी नहीं रखती थी, पर अपनी अनेक प्रकार की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये उसकी ओर से बहुत से कारखाने खुले हुए थे, जिनमें बहुत से शिल्पी व कर्मकर एकत्र होकर बड़े पैमाने पर आर्थिक उत्पत्ति का कार्य करते थे। मनसबदारों को साल में दो बार बादशाह की ओर से खिलत (पोशाक) दी जाती थी, और इन मनसबदारों की संख्या ११,००० से भी अधिक थी। इतने मनसबदारों के लिये खिलत तैयार करना साधारण बात न थी। ये पोशाकें राजकीय कारखानों में ही तैयार की जाती थीं। इस प्रकार के कारखाने अफगान-युग में भी विद्यमान थे। वस्त्रों के अतिरिक्त अनेक प्रकार के अस्त्र-शस्त्र आदि भी राजकीय कारखाने में तैयार होते थे, जिनका संचालन बादशाह द्वारा नियुक्त दारोगा द्वारा किया जाता था। इस युग की सरकार के विविध कार्यों में इन कारखानों का संचालन अच्छा महत्त्वपूर्ण स्थान रखता था।

सरकार के विभाग—मुगल बादशाहत में सरकार के प्रधान राजपदाधिकारी निम्नलिखित थे, जो अपने-अपने विभाग के मुख्य अध्यक्ष होते थे—(१) **दीवान**—राजकीय आय को प्राप्त करना व उसका हिसाब रखना दीवान का कार्य होता था। बादशाह के बाद राज्य में उसकी स्थिति सबसे ऊंची होती थी। (२) खानसामा—यह राजकीय अन्तःपुर व दरबार का प्रधान अधिकारी होता था। प्राचीन भारत में जो कार्य 'आन्तर्वंशिक' का था, वही मुगलकाल में खानसामा का था। अकबर के अन्तःपुर में ५००० के लगभग स्त्रियां थीं, जो सब उसकी विवाहित पत्नियां नहीं थीं। यही दशा अन्य मुगल बादशाहों के अन्तःपुर की भी थी। इतने विशाल अन्तःपुरों की सुव्यवस्था के लिये एक पृथक् सरकारी विभाग की सत्ता अनिवार्य थी। यही कारण है, कि इस युग में खानसामा की स्थिति बहुत महत्त्वपूर्ण थी। (३) **बख्शी**—सेना के खर्च का हिसाब रखना और विविध मनसबदारों को नियमित रूप से वेतन आदि प्रदान करना बख्शी का कार्य था। (४) काजी—यह न्याय-विभाग का प्रधान अधिकारी होता था। (५)

सदर-उस्-सदूर—धार्मिक संस्थाओं को जो सहायता बादशाह की तरफ से दी जाती थी, या उसकी तरफ से गरीबों या अनाथों के पालन के लिये जो खर्च होता था, उसकी व्यवस्था करना सदर-उस्-सदूर का कार्य था। (६) मुहतसिब—जनता के नैतिक कार्यों पर नियन्त्रण रखना इस अधिकारी के विभाग के अधीन था। इन छः मुख्य पदाधिकारियों के अतिरिक्त (७) दारोगा-ए-तोपखाना और (८) दारोगा-डाक चौकी नामक दो अन्य उच्च पदाधिकारी थे, जो राज्य में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान रखते थे, यद्यपि उनकी स्थिति पहले छः अधिकारियों की तुलना में हीन मानी जाती थी।

मुगल-युग के अन्य उच्च राजपदाधिकारी निम्नलिखित थे—(१) टकसाल का दारोगा, जिसका काम मुद्रा-पद्धति की व्यवस्था करना और सिक्कों को ढलवाना होता था। (२) मीर-माल, जिसकी स्थिति वर्तमान-समय के 'लार्ड प्रिवी सील' के सदृश होती थी। (३) मुस्तौफी या आडिटर-जनरल। (४) नाजिरे-बुयुनात या सरकारी कारखानों का दारोगा। (५) मुशरिफ, जो भूमिकर-विभाग का सचिव होता था। (६) मीरबहरी या नौसेनाध्यक्ष। (७) मीर-बर्र या जंगलात के महकमे का अध्यक्ष। (८) वाकाए-नवीस—राज्य में जो कुछ घटनायें घटित हो रही हैं, उन सबसे बादशाह को अवगत करना इस पदाधिकारी का काम होता था। (९) मीर अर्ज—यह जनता के प्रार्थनापत्र बादशाह की सेवा में उपस्थित करता था। (१०) मीर-मंजिल या क्वार्टर-मास्टर-जनरल। (११) मीर-तोजक—इसका कार्य शाही दरबार के साथ सम्बन्ध रखनेवाली विविध विधियों के यथावत् अनुसरण व पालन की व्यवस्था करना होता था।

मुगल बादशाहत के केन्द्रीय शासन में ये अठारह राजकर्मचारी सर्वप्रमुख होते थे, और इन्हीं की सहायता से बादशाह राज्य-शासन का संचालन किया करता था। ये अपने कार्यों के लिये केवल बादशाह के प्रति उत्तरदायी होते थे, और तभी तक अपने पदों पर रह सकते थे, जब तक कि बादशाह का विश्वास इन्हें प्राप्त रहे।

केन्द्रीय सभाओं का अभाव—मुगल बादशाहत के शासन में कोई ऐसी केन्द्रीय सभायें नहीं थीं, जिनसे परामर्श लेना बादशाह के लिये अनिवार्य हो। पर वह अपनी इच्छा के अनुसार मन्त्रियों व राज्य के मनसबदारों से समय-समय पर परामर्श करता रहता था। उनके परामर्श को बादशाह स्वीकार करे या नहीं, यह भी उसकी अपनी इच्छा पर निर्भर था। अफगान-युग के बारे-खास और बारे-आम के समान दीवाने-खास और दीवाने-आम मुगल-युग में भी विद्यमान

थे। दीवाने-ग्राम में बादशाह सर्वसाधारण जनता के प्रार्थनापत्रों पर विचार करता था, और दीवाने-खास में वह राज्य के उच्च पदाधिकारियों से परामर्श करता था। दीवाने-खास में कौन लोग उपस्थित हो सकें, और वे किस क्रम से और किस जगह पर बैठें, इन सब बातों के सम्बन्ध में विशद रूप से नियम बने हुए थे। पर ये संस्थायें बादशाह की निरंकुशता व स्वेच्छाचारिता को किसी भी रूप में नियन्त्रित नहीं कर सकती थीं। मुगलयुग के राजा पूर्णरूप से 'एकतन्त्र' व 'एकराट्' थे।

बादशाह की सर्वोच्च सत्ता——मुगल-युग के बादशाह न केवल शासन के क्षेत्र में सर्वोच्च सत्ता रखते थे, पर धर्म की दृष्टि से भी उनका बहुत ऊंचा स्थान था। इस्लाम के सिद्धान्तों के अनुसार मुसलिम लोग उन्हें अपना 'खलीफा' भी मानते थे, और उन्हीं के नाम से 'खुतबा' भी पढ़ा जाता था। अकबर-जैसे शक्तिशाली बादशाह ने अपने को भारत के सब निवासियों का धर्मगुरु बनाने का भी प्रयत्न किया। उसकी अनेक उपाधियों में 'जगत्-गुरु' भी एक थी। जिस प्रकार लोग प्रातः-काल सूर्य के दर्शन करते हैं, या अन्य देवी-देवताओं का दर्शन करके अपने कार्य को प्रारम्भ करते है, वैसे ही बादशाह के रूप में जो प्रत्यक्ष देवता विद्यमान था, उसके दर्शन करना भी बहुत-से लोग अपना पुण्य कर्त्तव्य मानते थे। राजमहल के झरोखे पर खड़ा होकर बादशाह सूर्योदय के दो घड़ी बाद जनता को दर्शन देता था, और बहुत-से लोग झरोखे के नीचे के विशाल मैदान में इसी उद्देश्य से एकत्र होते थे, ताकि उन्हें बादशाह के दर्शनों का पुण्य लाभ हो सके। अकबर के समय में एक ऐसा सम्प्रदाय उत्पन्न हो गया था, जिसके अनुयायी बादशाह का दर्शन किये विना न भोजन खाते थे, और न पानी ही पीते थे। इस सम्प्रदाय को 'दर्शनिया' कहते थे। मुगल बादशाहों के अतुल प्रताप के कारण लोगों ने उनके प्रति देवत्व भावना का विकास कर लिया था। प्राचीन युग के रोमन सम्राटों के समान अकबर, जहांगीर और शाहजहां-जैसे बादशाह अपने को 'दैवी' मानने लगे थे। यही कारण है, कि जहांगीर की मलका ने भी 'जगत्-गुसाइनी' की उपाधि धारण की थी।

अफगान-युग में विविध प्रान्तों के नायब सुलतान प्रायः वही स्थिति रखते थे जो दिल्ली के सुलतान की होती थी। पर मुगल-युग में बादशाह की स्थिति, प्रान्तीय सूबेदारों की तुलना में बहुत ऊंची मानी जाती थी। बादशाह को कतिपय ऐसे विशेषाधिकार प्राप्त थे, जो साम्राज्य के किसी भी सूबेदार, सिपहसालार या अधीनस्थ राजा को प्राप्त नहीं थे। इनमें से कुछ विशेषा-

धिकारों का उल्लेख करना उपयोगी है—(१) राजमहल के झरोखे पर खड़े होकर प्रजा को दर्शन देने का अधिकार केवल बादशाह को था। (२) हथेली को जमीन से छुआने के बाद फिर माथे पर लगाकर जो 'तस्लीम' की जाती है, वह केवल बादशाह के प्रति ही की जा सकती थी, किसी अन्य व्यक्ति के प्रति नहीं। (३) जब बादशाह यात्रा के लिये चलता था, तो नगाड़े बजाये जाते थे। इसी प्रकार जब बादशाह दरबार में हाजिर होता था, तो दमदमा बजाया जाता था। नगाड़ा और दमदमा केवल बादशाह के लिये ही बज सकता था। (४) किसी सूबेदार को यह अधिकार नहीं था, कि वह किसी व्यक्ति को कोई उपाधि या खिताब दे सके। यह अधिकार केवल बादशाह को प्राप्त था। (५) जब बादशाह सवारी पर चलता हो, तो कोई आदमी उसके साथ सवारी पर नहीं चल सकता था। यदि बादशाह पालकी पर हो, तो उसका लड़का घोड़े पर चढ़ सकता था। पर अन्य सब लोगों के लिये पैदल चलना आवश्यक था। पर यह अधिकार केवल बादशाह को ही प्राप्त था। मनसबदार व राजा यदि सवारी पर जाते हों, तो अन्य लोग भी सवारी का प्रयोग कर सकते थे। (६) विकलाङ्ग करने की आज्ञा देने का अधिकार केवल बादशाह को था। (७) हाथियों की लड़ाई केवल बादशाह के सामने ही कराई जा सकती थी। मनसबदारों को यह अधिकार नही था कि वे आमोद-प्रमोद के लिये हाथियों को लड़ा सकें। इसी प्रकार की अन्य अनेक बातों के कारण मुगल-युग में बादशाहों की स्थिति अन्य सब लोगों की अपेक्षा बहुत अधिक ऊंची बनी हुई थी, और सर्वसाधारण लोगों की दृष्टि में इन बातों का बहुत महत्त्व था।

प्रान्तीय शासन—मुगल-साम्राज्य की स्थापना के बाद अकबर ने अपने साम्राज्य को बारह सूबों में विभक्त किया था। उसकी मृत्यु से पहले मुगल सूबों की संख्या १२ से बढ़कर १५ हो गई थी, क्योंकि कतिपय नये प्रदेश साम्राज्य की अधीनता में आ गये थे। इन पन्द्रह सूबों के नाम निम्नलिखित थे—आगरा, इलाहाबाद, अवध, दिल्ली, लाहौर, मुलतान, काबुल, अजमेर, बंगाल, बिहार, अहमदाबाद, मालवा, बरार, खानदेश और अहमदनगर। जहांगीर के समय में मुगल सूबों की संख्या १७ हो गई, और जब औरङ्गजेब के समय में मुगल-साम्राज्य चरम उत्कर्ष को प्राप्त कर गया, तो उसके सूबों की संख्या २१ तक पहुंच गई। मुगल-साम्राज्य के सूबों का शासन करने के लिये जो पदाधिकारी नियत किये जाते थे, उन्हें 'नाजिम', 'सूबेदार', 'सिपहसालार' या 'साहिब सूबा' कहते थे। क्योंकि सूबे का नाजिम अपने क्षेत्र की मुगल-सेना का प्रधान सेनापति भी होता था,

अतः उसे सिपहसालार भी कहा जाता था। नाजिम या सूबेदार अपने सूबे के शासन और सेना—दोनों का अधिपति होता था। उसके अधीन भी अनेक राजपदाधिकारी होते थे, जिनमें प्रमुख दीवान, बख्शी, काजी, सदर और वाकयानवीस थे। इन पदाधिकारियों की सूबे में वही स्थिति थी, जो केन्द्रीय शासन में इन्हीं नामों के पदाधिकारियों की होती थी। सूबेदार की नियुक्ति बादशाह द्वारा की जाती थी।

नाजिम या सूबेदार का प्रधान कार्य अपने सूबे में शान्ति और व्यवस्था स्थापित रखना समझा जाता था। मुगल बादशाहत का स्वरूप 'पुलीस राज्य' के सदृश था, अतः सूबेदारों से यही आशा की जाती थी, कि वे अपने क्षेत्र की आभ्यन्तर और बाह्य शत्रुओं से रक्षा करें। सार्वजनिक हित के कार्यों के प्रति इस युग के शासक उपेक्षा वृत्ति रखते थे, अतः सूबेदार भी इन बातों की ओर कोई ध्यान नहीं देते थे। यदि वे विद्वानों को आश्रय देते, व ज्ञान, साहित्य आदि के संवर्धन के लिये कोई कार्य करते थे, तो वह वे अपनी वैयक्तिक स्थिति में ही करते थे। सूबेदारों के अधीन अनेक फौजदार होते थे, जो सूबे के विभिन्न विभागों में शान्ति और व्यवस्था कायम रखने का कार्य करते थे।

मुगलों का शासन मुख्यतया नगरों तक ही सीमित था, क्योंकि शान्ति और व्यवस्था स्थापित करने की आवश्यकता विशेषरूप से वहीं पर होती थी। ग्रामों का प्रबन्ध पुराने युग से चली आ रही ग्राम-संस्थाओं के ही हाथों में था, और इसके कारण सर्वसाधारण जनता को मुगल-शासकों के संपर्क में आने का बहुत कम अवसर मिलता था। जमीन की मालगुजारी देने के संबंध में किसानों का जिन कर्मचारियों से सम्पर्क होता था, उनके विषय में हम इसी अध्याय में आगे चल कर प्रकाश डालेंगे।

सैन्य-संगठन—मुगल-युग की सेना के चार विभाग मुख्य थे—घुड़सवार, सेना, पदाति सेना, तोपखाना और नौसेना। इनके अतिरिक्त हाथियों और ऊंटों के दस्ते भी होते थे, जो विशेष परिस्थितियों में प्रयोग में लाये जाते थे। सेना में सर्वप्रधान स्थान घुड़सवारों का था। इसीलिये विविध वर्ग के मनसबदारों के लिये यह आवश्यक था, कि वे घोड़ों की एक निश्चित संख्या अपने पास रखें, जिन्हें आवश्यकतानुसार राज्य के लिये प्रयुक्त किया जा सके। तोपखाने का भारत में प्रवेश बाबर के समय में हुआ था, और मुगल बादशाहों ने उसकी उन्नति पर बहुत ध्यान दिया था। औरङ्गजेब के समय तक मुगल-सेना में तोपखाने का बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान हो गया था, और युद्धों में बन्दूकों व तोपों का

खुले तौर पर प्रयोग होने लग था। तोपखाने के सब कर्मचारियों व सैनिकों को राज्यकोश से वेतन मिलता था। मनसबदारों के साथ उनका कोई सम्बन्धन हीं होता था। मुगल बादशाहों के समय में नौसेना का भी अच्छा महत्त्व था। इसके लिय एक पृथक् विभाग था, जिसके प्रधान अधिकारी को 'मीरबहरी' कहते थे। इसके कार्य निम्नलिखित थे—(१) नदियों के पार उतरने के लिये सब प्रकार की नौकाओं का निर्माण करवाना, (२) युद्ध के काम आनेवाले हाथियों को पार उतारने के लिये विशेष प्रकार की नौकायें बनवाना, (३) मल्लाहों को भरती करना और उन्हें नौकानयन सिखाना, (४) नदियों का निरीक्षण करना, और (५) नदियों को पार करने के लिये घाटों पर कर को वसूल करना। इसके अतिरिक्त राज्य के पास ऐसे भी जहाज थे, जिनसे समुद्र-यात्रा की जा सकती थी। पूर्वी बंगाल में ढाका में मुगलों ने ७६८ ऐसे जहाज तैनात किये हुए थे, जो सब प्रकार के अस्त्र-शस्त्रों से सुसज्जित थे। इन जहाजों का प्रयोजन यह था, कि अराकान के लोगों के आक्रमणों से बंगाल के समुद्रतट की रक्षा की जा सके। सम्भवत:, इसी प्रकार के जहाजी बेड़े मुगल-साम्राज्य के पश्चिमी समुद्रतट पर भी रखे गये थे, यद्यपि मुगल-सेना में जंगी जहाजों का स्थान बहुत महत्त्वपूर्ण नहीं था। इस युग में स्थल-सेना का महत्त्व अधिक था, और मुगलों को अपने साम्राज्य का विस्तार करते हुए उसी की अधिक आवश्यकता पड़ती थी। इसीलिये मीरबहरी का प्रधान कार्य नदियों के पार उतरने योग्य नौकाओं की व्यवस्था करना होता था, क्योंकि अपने विशाल साम्राज्य की रक्षा करने व उसका विस्तार करने के लिये नदियों को पार करना बहुत आवश्यक था।

घुड़सवार और पदाति सेना का संगठन मनसबदारों के अधीन था। मनसब के सम्बन्ध में हम पहले भी लिखे चुके हैं। मनसब का अभिप्राय है, पद या सेवा। सबसे छोटा मनसब दस सैनिकों का होता था, और सबसे बड़ा दस हजार का। दस और दस हजार के वीच में मनसबदारों के ३२ वर्ग थे और प्रत्येक मनसबदार से यह आशा की जाती थी, कि वह सैनिकों और घोड़ों की एक निश्चित संख्या सदा अपने पास तैयार रखे, ताकि आवश्यकता पड़ने पर सरकारी कार्य के लिये उसका उपयोग किया जा सके। मुगल-युग में इस प्रकार के मनसबदारों की कुल संख्या ११,५०० थी, जिनमें से ७५०० को अपने व अपने अधीनस्थ सैनिकों के खर्च के लिये वेतन मिलता था, और शेष ४००० को वेतन के बदले में जागीरें दी गई थीं, जिनकी आमदनी से वे अपना खर्च चलाते थे। पर सब मनसबदार अपने लिये नियत किये गये सैनिकों व घोड़ों को

अवश्य ही अपने पास तैयार रखते हों, ऐसा नहीं था। बहुत-से मनसबदार इस विषय में प्रमाद करते थे, और अपने वेतन व जागीर की आमदनी का उपयोग अपने वैयक्तिक सुख के लिये करने में संकोच नहीं करते थे। अकबर ने इस सम्बन्ध में अनेक व्यवस्थायें की थीं। उनके अनुसार यह आज्ञा प्रकाशित की गई थी, कि प्रत्येक मनसबदार अपने सैनिकों का बाकायदा रजिस्टर रखे, जिसमें सैनिक का नाम, उसके बाप का नाम, कौम, जन्मस्थान व वैयक्तिक पहचान आदि सब बातें दर्ज हों। इसी प्रकार उनके पास जो घोड़े हों, उन्हे भी दाग कर रखा जाय, ताकि जरूरत पड़ने पर निरीक्षण करने में कठिनाई न हो। इन आज्ञाओं के बावजूद भी मनसबदार लोग प्रायः अपने कर्त्तव्य में शिथिलता करने से बाज नहीं आते थे।

यद्यपि मुगल-साम्राज्य की शक्ति का प्रधान आधार उसकी सेना थी, तथापि इस युग के सैन्य-संगठन को सर्वथा निर्दोष नहीं कहा जा सकता। युद्धनीति के सम्वन्ध में सब सैनिक एक नियन्त्रण का अनुसरण नहीं करते थे। धर्म, जाति व प्रदेश के अनुसार सैनिकों में बहुत भेद हो जाता था। साथ ही, सैनिक लोग अपने को बादशाह की सेवा में नियुक्त न समझकर अपने मनसबदार का सेवक समझते थे। इस दृष्टि से मुगल-सेना मध्यकाल की सामन्त-पद्धति की सेना से बहुत भिन्न नहीं थी। बड़े-बड़े मनसबदार परस्पर ईर्षा रखते थे, और अवसर पड़ने पर परस्पर युद्ध करने व राजगद्दी के किसी एक उम्मीदवार का पक्ष लेकर उसकी सहायता करने में भी संकोच नही करते थे। इस दशा में सैनिक भी अपने मनसबदार की तरफदारी करते थे, और मुगल-सेना के विविध अंग आपसी युद्ध में ही व्यापृत हो जाते थे। अकबर के वाद जब मुगलों का वैभव बहुत बढ़ गया, तो उनकी सेना में भोग-विलास की प्रवृत्ति उत्पन्न हो गई। मुगल-सेना जब युद्ध के लिये चलती थी, तो ऐसा प्रतीत होता था, मानो कोई नगर का नगर एक स्थान से दूसरे स्थान पर चल पड़ा हो। जहां सेना का पड़ाव पड़ता था, एक नगर-सा बस जाता था। हजारों खेमे और तम्बू गड़ जाते थे, जिनमें बड़े मनसबदारों के तम्बू रेशम के होते थे। नर्तक, वादक, गायक व तमाशा दिखाने वाले सेना के साथ-साथ चलते थे, और स्कन्धावार में भी मनसबदारों को रूपाजीवाओं और गणिकाओं के बिना चैन नहीं पड़ती थी। यही कारण है, कि शिवाजी की मराठी सेनाओं का मुकाबला करने में प्रतापी मुगल-सम्राट् असमर्थ रहे।

पुलीस—नगरों में शान्ति और व्यवस्था कायम रखने के लिये कोतवालों

की नियुक्ति की जाती थी। आइने-अकबरी के अनुसार कोतवाल के कर्त्तव्य निम्नलिखित थे--(१) चोरों को पकड़ना; (२) भार और माप के उपकरणों को नियन्त्रित रखना, और इस बात का ख्याल करना कि व्यापारी लोग ग्राहकों से मुनासिब कीमत लें; (३) रात के समय शहर के बाजारों, गलियों और मार्गों पर पहरे का इन्तजाम करना; (४) शहर के निवासियों का अपने रजिस्टर में उल्लेख करना और बाहरी आदमियों पर निगाह रखना; (५) शहर की गलियों, रास्तों और मकानों का रिकार्ड रखना; (६) खुफिया पुलिस की नियुक्ति करना, जिसका काम शहर के गुण्डों पर निगाह रखना, नागरिकों के आय-व्यय का पता करना व पड़ोस के ग्रामों के मामलों पर दृष्टि रखना होता था; (७) जिन मृत लोगो का कोई वारिस न हो, उनको मल्कियत पर कब्जा कर लेना व उसका हिसाब रखना, क्योकि लावारिस सम्पत्ति का मालिक राज्य हो जाता था; (८) गाय, बैल, भैंस, घोड़े और ऊंट के वध को रोकना; मुगल-युग में प्रायः गोवध भी निषिद्ध था। (९) किसी स्त्री को उसकी इच्छा के विरुद्ध सती होने के लिये विवश किये जाने पर उसे सती होने से रोकना। निःसन्देह, मुगल-युग के कोतवालों के ये कार्य बहुत महत्त्वपूर्ण थे, और इन्हें सम्पन्न करते हुए उसे बहुत सतर्क रहने की आवश्यकता होती थी।

देहात मे शान्ति और व्यवस्था रखने के लिये मुगल-युग में पुलीस का कोई विशेष प्रबन्ध नही था। प्रान्तीय सूबेदारों की अधीनता में अनेक फोजदार उस युग में भी नियुक्त थे, पर फौजदारों का कार्य केवल यह था, कि अपने क्षेत्र में विद्रोह न होने दें। चोर-डाकू आदि से जनसाधारण की रक्षा करने का कार्य इस युग में भी ग्राम-सस्थाओं के हाथों में था, और वे ही ग्रामों की आन्तरिक सुव्यवस्था के लिये उत्तरदायी थीं।

कानून और न्याय-व्यवस्था--जिन अर्थों में आजकल राज्यों में कानून की सत्ता होती है, उस प्रकार के कानून मुगल-काल में विद्यमान नहीं थे। यद्यपि समय-समय पर बादशाहों की ओर से अनेक 'शासन' (राजाज्ञा) जारी किये जाते थे, और उनकी स्थिति कानून के सदृश होती थी, पर इस प्रकार के कानूनों की संख्या बहुत कम थी। मुगल-युग में विवादग्रस्त मामलों का निर्णय जिन कानूनों के अनुसार किया जाता था उन्हें हम निम्निलिखित भागों में विभक्त कर सकते है--(१) बादशाह द्वारा जारी की गई राजाज्ञाएं। (२) शरायत कानून--क्योंकि न्याय का कार्य प्रधानतया काजियों के सुपुर्द था, अतः वे न्याय करते हुए शरायत के कानून को दृष्टि में रखते थे। कुरान और हदीस

में जो नियम प्रतिपादित हैं, काजियों के विचार के अनुसार वे सत्य व सनातन कानून होते थे, और न्याय-कार्य में वे उन्हीं का उपयोग करते थे। मुसलमानों के आपसी मुकदमों में तो शरायत का कानून दृष्टि में रखा ही जाता था, पर जिन मुकदमों में एक पक्ष हिन्दू और दूसरा पक्ष मुसलिम हो, उनमें भी शरायत के कानून का ही प्रयोग होता था। (३) हिन्दुओं के परम्परागत कानून--जिन मुकदमों में वादी और प्रतिवादी दोनों हिन्दू हों, उनका निर्णय करते हुए काजी लोग हिन्दुओं के चरित्र और व्यवहार (परम्परागत कानून) को दृष्टि में रखते थे। पर ऐसा करना उनके लिय अनिवार्य नहीं था। काजी लोग जो कुछ भी उचित समझें, वही वे करते थे। उनके न्याय-कार्य को मर्यादित करने के लिये वर्त्तमान समय के जाब्ता दीवानी व जाब्ता फौजदारी के ढंग के कोई विधान इस समय विद्यमान नहो थे। कोई भी मनुष्य काजी के फैसले के खिलाफ बादशाह की सेवा में अपील कर सकता था। अपीलों को सुनने और उनका निर्णय करने के लिये एक पृथक् महकमा था, जिसमें मीर अर्ज के अधीन अनेक पदाधिकारी होते थे। महत्त्वपूर्ण मामलों का निर्णय बादशाह स्वयं भी करता था, और जब बादशाह विजय-यात्रा पर या अन्य किसी कार्य से राजधानी के बाहर हो, तब भी मीर अर्ज का महकमा उसके साथ-साथ रहता था।

न्याय-विभाग के प्रधान अधिकारी को 'काजी-उल्-कजात' कहते थे। यह अधिकारी साम्राज्य के विविध सूबों की राजधानी में प्रान्तीय काजियों की नियुक्ति करता था। काजी के न्यायालय में तीन कर्मचारी होते थे--काजी, मुफ्ती और मीरअदल। काजी का कार्य यह था, कि वह मामले की जांच करे। मुफ्ती मुसलिम कानून का प्रतिपादन करता था, और यह बताता था कि शरायत के अनुसार मामले का क्या फैसला होना चाहिये। मीरअदल काजी की जांच और मुफ्ती की कानून-सम्बन्धी व्याख्या के अनुसार फैसला लिखने का कार्य करता था। काजी की अदालत में दीवानी और फौजदारी दोनों प्रकार के मुकदमे पेश होते थे। हिन्दुओं के पारस्परिक विवादों का निर्णय भी इसी अदालत द्वारा किया जाता था। यह आशा की जाती थी, कि काजी लोग निष्पक्ष, न्यायप्रिय और ईमानदार हों, पर क्रिया में सभी काजी इन गुणों से युक्त नहीं होते थे।

पर इस प्रसंग में यह ध्यान रखना चाहिये, कि काजियों की अदालतें केवल साम्राज्य और सूबों की राजधानियों में ही थीं। अन्य नगरों में इन अदालतों का सर्वथा अभाव था। बाद में मुगल बादशाहों ने अन्य बड़े नगरों में भी काजी

नियुक्ति किये। पर छोटे नगरों व ग्रामों में काजियों की अदालतें कभी कायम नहीं हुई। इन स्थानों पर न्याय-कार्य इस युग में भी ग्राम-पंचायतों के हाथों में था, जो स्थानीय परम्परागत कानून के अनुसार मामलों का निर्णय करने में तत्पर रहती थीं।

(२) मालगुजारी

मुगल-साम्राज्य की राजकीय आमदनी का प्रधान स्रोत मालगुजारी या भूमिकर था। इसे वसूल करने के लिये जो व्यवस्था शेरशाह सूर के समय में शुरू हुई थी, अकबर ने उसे भलीभांति विकसित किया। जमीन के यथोचित बन्दोबस्त करने और उससे व्यवस्थित रूप से मालगुजारी वसूल करने की जो पद्धति अकबर के समय में शुरू हुई, उसका प्रधान श्रेय राजा टोडरमल को है, जो पहले सहायक दीवान के पद पर नियत था, और बाद म अकबर का मुख्य दीवान बन गया था। भारत के इतिहास में टोडरमल द्वारा शुरू की गई इस व्यवस्था का महत्त्व बहुत अधिक है, क्योंकि बाद में ब्रिटिश लोगों ने भी उसे अनेक अंशों में अपनाया। मालगुजारी वसूल करने के लिये इस समय जमीन को चार भागों में विभक्त किया गया—(१) पोलज—जिस जमीन पर प्रतिवर्ष खेती होती हो, और जो कभी परती न पड़ती हो, उसे पोलज कहते थे। (२) परती—जिस जमीन की उपज-शक्ति को कायम रखने के लिये कभी-कभी खाली छोड़ देना आवश्यक हो, उसे 'परती' कहते थे। (३) छाचर—यह वह जमीन होती थी, जो तीन या चार साल तक बिना खेती के पड़ी रहे। (४) बंजर—जो जमीन पांच साल या अधिक समय तक खाली रहे, उसे बंजर कहते थे। सब जमीन को इन चार भागों में विभक्त कर यह अन्दाज किया जाता था, कि पोलज और परती जमीनों की औसत पैदावार क्या होती है। इसके लिये प्रत्येक किसान की जमीन को तीन भागों में बांटा जाता था, बढ़िया, मध्यम और घटिया जमीन। यदि बढ़िया जमीन से प्रति बीघा २० मन, मध्यम से १५ मन और घटिया जमीन से १० मन पैदावार मानी जाय, तो उस किसान की औसत पैदावार १५ मन प्रति बीघा मान ली जाती थी। यह सिद्धान्त तय कर लिया गया था, कि प्रत्येक किसान से उसकी औसतन पैदावार का तिहाई हिस्सा मालगुजारी के रूप में वसूल किया जायगा। जो उदाहरण हमने लिया है, उसके अनुसार किसान को पांच मन प्रति बीघा के हिसाब से मालगुजारी देनी पड़ती थी। पर मालगुजारी की मात्रा को तय करते हुए यह भी ध्यान में रखा जाता था, कि

किसान अपने खेतों में कौन-सी फसल बोता है। उसे यह हक था, कि मालगुजारी चाहे नकद दे और चाहे फसल के रूप में। नकद मालगुजारी की मात्रा क्या हो, यह पिछले दस सालों में फसल की जो कीमत रही हो, उसके आधार पर तय किया जाता था। टोडरमल से पहले नकद मालगुजारी तय करते हुए चालू कीमत को दृष्टि में रखा जाता था। पर इसमें अनेक दिक्कतें पेश आती थीं। अतः टोडरमल ने यह व्यवस्था की थी, कि पिछले दस सालों की कीमतों को ध्यान में रख कर नकद मालगुजारी तय कर दी जाय, और अगले दस सालों के लिये वही मात्रा कायम रहे। दस साल बीत जाने पर जमीन का नया बन्दोबस्त होता था, जिसमें पैदावार और कीमतों की घटा-बढ़ी को दृष्टि में रखकर मालगुजारी की मात्रा तय की जाती थी।

जमीन की पैमाइश के लिये अकबर के समय में एक नये माप को प्रयुक्त किया गया, जिसे 'इलाही गज' कहते थे। यह ३३ इञ्च के करीब होता था। पहले जमीन को मापने के लिये रस्सी का प्रयोग किया जाता था। अकबर के समय में उसके स्थान पर जरीब का प्रयोग शुरू हुआ, जिसे बांस के टुकड़ों को लोहे के छल्लों से जोड़कर बनाया जाता था। आज तक भी जमीन की पैमाइश के लिये भारत में जरीब इस्तेमाल की जाती है, यद्यपि आजकल की जरीब लोहे की होती है। जरीब से जमीन की पैमाइश करके यह तय किया जाता था, कि किसान कितनी जमीन पर खेती करता है। फिर यह निश्चित होता था, कि उसकी जमीन पोलज, परती, छाचर या बंजर--किस प्रकार की है। फिर उसकी औसत पैदावार का हिसाब करके उस पर मालगुजारी की मात्रा नियत की जाती थी। जमीन के बन्दोबस्त की इस पद्धति को 'जब्ती' कहते थे। बिहार, इलाहाबाद, मुलतान, अवध, आगरा, मालवा, लाहौर और दिल्ली के सूबों में इसी पद्धति के अनुसार जमीन का बन्दोबस्त किया गया था। बाद में गुजरात और अजमेर के सूबों के अनेक प्रदेशों में भी इस पद्धति का अनुसरण किया गया। पर इसके अतिरिक्त बन्दोबस्त के अन्य कई तरीके भी मुगल-युग में प्रचलित थे। उनका हम यहां उल्लेख नहीं करेंगे, क्योंकि इस युग में उनका विशेष महत्त्व नहीं था।

मालगुजारी को वसूल करने के लिये मुगल बादशाहत के सूबेदार अपने अधीनस्थ विविध राजकर्मचारियों की सहायता लेते थे। सूबे में शान्ति और व्यवस्था स्थापित रखने के लिये नाजिम या सूबेदार के अधीन अनेक फौजदार होते थे। पर मालगुजारी को वसूल करने की दृष्टि से सूबे को अनेक विभागों में विभक्त किया जाता था, जिन्हें सरकार और परगना कहते थे। प्रत्येक सूबे में

में बहुत-से सरकार होते थे, और प्रत्येक सरकार में बहुत-से परगने। परगना बहुत-से ग्रामों से मिलकर बनता था। मालगुजारी को वसूल करने का काम पटवारी और मुकद्दम नाम के दो कर्मचारी करते थे, जो राजकीय सेवा में न होकर ग्रामसंस्था के अधीन होते थे। प्राचीन युग के 'ग्रामणी' को ही इस युग में मुकद्दम कहा जाने लगा था। पटवारी उसके अधीन होता था, और खेतों की पैमाइश का हिसाब रखकर उनकी मालगुजारी को वसूल करता था। राज्य के सबसे निम्न श्रेणि के कर्मचारी कारकुन कहाते थे, जो खेतों की पैमाइश करने व उनकी पैदावार का हिसाब रखने का काम करते थे। कारकुनों द्वारा तैयार किये गये हिसाब के आधार पर कानूगो मालगुजारी की मात्रा निर्धारित करता था। प्रत्येक ग्राम से कितनी मालगुजारी वसूल होती है, यह निश्चित करना कानूगो का ही काम था, जो अपने अधीन कारकुनों द्वारा प्रत्येक ग्राम के खेतों की पैमाइश कराता था और उनमें पैदा होनेवाली फसल का हिसाब रखता था। कानूगो द्वारा निर्धारित की गई मालगुजारी की रकम को वसूल करना ग्राम के मुकद्दम और पटवारी का काम था, जो मालगुजारी को रकम को पोद्दार के पास जमा करा देते थे। पोद्दार उन खजानचियों को कहते थे, जो राज्य की ओर से मालगुजारी व अन्य राजकीय करों को जमा करने व राज्यकोश में पहुंचाने के लिये नियुक्त थे। मालगुजारी की वसूली के लिये प्रत्येक सूबा अनेक सरकारों में विभक्त था, यह ऊपर कह चुके हैं। 'सरकार' के राजकर्मचारी को 'अमलगुजार' कहते थे, जिसका प्रधान कार्य अपने क्षेत्र की राजकीय आमदनी को समुचित रूप से वसूल किये जाने की व्यवस्था करना था। प्रत्येक सरकार के प्रधान नगर में 'फौजदार' भी होते थे, पर उनका मालगुजारी आदि वसूल करने के साथ कोई सम्बन्ध नहीं होता था। उनका मुख्य कार्य यही था, कि वे अपने क्षेत्र में शान्ति और व्यवस्था को कायम रखें।

इसमें सन्देह नहीं, कि पैदावार का तीसरा भाग मालगुजारी के रूप में वसूल करने की व्यवस्था कर मुगल-सम्राटों ने भारत की प्राचीन परम्परा का उल्लंघन किया था, जिसके अनुसार उपज का केवल 'षड्भाग' भूमिकर के रूप में लिया जाता था। इससे किसानों में अवश्य ही असन्तोष उत्पन्न हुआ होगा। पर अकबर आदि सभी मुगल बादशाहों ने यह भी यत्न किया था, कि जो अनेक प्रकार के अन्य कर ग्रामों व नगरों से वसूल किये जाते थे, उन्हें अब न लिया जावे। अफगान-युग में इन करों की मात्रा बहुत बढ़ गई थी, और ये 'अबवाब' कहाते थे। औरङ्गजेब ने राजाज्ञा द्वारा जिन अबवाब करों को नष्ट करने का आदेश

दिया, उनमें से कतिपय का यहां उल्लेख करना उपयोगी है। ये अबवाब निम्नलिखित थे—(१) मछली, सब्जी, गोबर के उपले, दूध-दही, पेड़ों की छाल और पत्ते, घास, बांस और ईंधन, तेल, घड़े और कसोरे, तमाखू आदि के क्रय-विक्रय पर वसूल किये जानेवाले कर। (२) जमीन को रहन पर रखने, जायदाद को बेचने और इमारत के मलवे को बेचने पर लिये जानेवाले कर। जब कोई आदमी अपनी जायदाद बेचता था, तो कानूगो उससे ढाई प्रतिशत के हिसाब से अबवाब वसूल करता था। मलवा बेचने पर एक हजार ईंट पीछे तीन टंका अबवाब लिया जाता था। (३) राहदारी-कर, जो विविध मार्गों के पहरे के इन्तजाम का खर्च चलाने के लिये वसूल किया जाता था। (४) बाजार में जमीन पर बैठकर शाक-सब्जी, फल, कपड़ा आदि बेचनेवाले लोगों से खाली जमीन को इस्तेमाल करने के लिये वसूल किया जानेवाला महसूल। (५) कर्ज की रकम को अदालत द्वारा वसूल कराने पर राजकर्मचारी लोग प्रायः रकम का चौथाई भाग 'शुकराना' के रूप से वसूल कर लेते थे। (६) मल्लाही-टैक्स, जो नदियों के नौका द्वारा पार करने पर लिया जाता था। (७) तोल और माप के विविध उपकरणों पर सरकारी मोहर लगाते समय वसूल किया जानेवाला कर। (८) जमीन की चकबन्दी करते हुए जनता से वसूल किया जाने वाला कर। (९) जब किसी इलाके में कोई नया राजकर्मचारी नियुक्त होकर आता था, तो अपने इलाके के व्यापरियों से पेशकश (भेंट-उपहार) प्राप्त करता था। इसी प्रकार के अन्य बहुत-से कर मुगल-साम्राज्य के विविध राजकर्मचारी जनता से वसूल करते थे, जिनके कारण सर्वसाधारण लोग सदा परेशान रहते थे। मुगल सम्राटों ने यत्न किया, कि इन अबवाबों को नष्ट कर दें। इसीलिये उन्होंने मालगुजारी की मात्रा 'षड्भाग' से बढ़ाकर पैदावार का तीसरा हिस्सा कर दी, ताकि उससे आमदनी बढ़ जाने पर सरकार व उसके कर्मचारियों को अबवाब वसूल करने की आवश्यकता न रहे। पर अपने इस उद्देश्य में मुगल-सम्राट् सफल नहीं हो सके, क्योंकि उनके अधीनस्थ कर्मचारी सब प्रकार के उचित-अनुचित उपायों से अपनी आमदनी की वृद्धि के लिये उत्सुक रहते थे, और बादशाह की आज्ञा की उपेक्षा करने में संकोच नहीं करते थे।

(३) सामाजिक अवस्था

मुगल-काल के ऐतिहासिकों ने पर्शियन भाषा में जो इतिहास लिखे हैं, उनमें मुगल बादशाहों की विजय-यात्राओं, उनके राजदरबार और अन्तःपुर के षड्यन्त्रों

का विशद रूप से उल्लेख है। उनके अनुशीलन से इस युग की सामाजिक व आर्थिक दशा के सम्बन्ध में विशद परिचय नहीं मिलता। पर इस काल में अनेक यूरोपियन यात्री भारत में व्यापार व भ्रमण आदि के लिये आये, और उन्होंने मुगल-साम्राज्य का जो वृत्तान्त लिखा है, उससे हमें इस युग की सभ्यता और संस्कृति के सम्बन्ध में अनेक महत्त्वपूर्ण बातें ज्ञात हो सकती हैं। सोलहवीं सदी के शुरू में ही अनेक यूरोपियन यात्री भारत आने लगे थे, और मुगल-काल में इस देश में उनका आवागमन निरन्तर जारी रहा। बाद में तो यूरोपयिन लोगों ने इस देश पर अपना राजनीतिक आधिपत्य भी स्थापित कर लिया।

मुगल-काल का सामाजिक जीवन सामन्त-पद्धति पर आश्रित था, जिसमें बादशाह का स्थान कूटस्थानीय व मूर्धन्य था। बादशाह की स्थिति जन-समाज में सर्वोच्च थी। उसके बाद उन अमीर-उमराओं का स्थान था, जो विविध श्रेणि के मनसब प्राप्त कर राज्य-शासन और शासन में उच्च पद प्राप्त किये हुए थे। इन अमीर-उमराओं को अनेक ऐसे विशेषाधिकार प्राप्त थे, जिनके कारण उनकी स्थिति सर्वसाधारण जनता से सर्वथा भिन्न हो गई थी। ये अमीर-उमरा बड़े आराम के साथ जीवन व्यतीत करते थे, और भोग-विलास में स्वाहा करने के लिये इनके पास धन की कोई कमी नहीं होती थी। बादशाह का अपना जीवन भी बहुत अनियन्त्रित और विलासपूर्ण होता था, और अमीर-उमरा लोग इस क्षेत्र में अपने मनसब के अनुसार बादशाह का अनुकरण करना अपना जन्मसिद्ध अधिकार समझते थे। न केवल मुगल बादशाह के, अपितु अमीर-उमराओं के भी बड़े-बड़े हरम (अन्तःपुर) होते थे, जिनमें सैकड़ों हजारों स्त्रियां निवास करती थीं। अकबर के हरम में ५००० स्त्रियां थीं, जिनके भोजन-आच्छादन व विलास-सामग्री का प्रबन्ध करने के लिये एक पृथक् विभाग था। बादशाह के उदाहरण का अनुकरण कर अमीर-उमरा भी बहुत-सी स्त्रियों, नर्तकियों व पेशलरूपा दासियों को अपने हरम में रखते थे, और उनपर दिल खोल कर खर्च करते थे। बादशाह व अमीर-उमराओं की ओर से बहुत-सी दावतें सदा होती रहती थीं, जिनमें सुरापान और सुस्वादु भोजन के अतिरिक्त नाच-गान भी हुआ करता था। मुगल बादशाहत में 'मनसब' वंशक्रमानुगत नहीं होती थी। यह आवश्यक नहीं था, कि पांचहजारी का लड़का भी पिता की मृत्यु के बाद पांचहजारी-पद को प्राप्त करे। यही दशा उन जागीरों के सम्बन्ध में थी, जो बादशाहों की ओर से मनसब का खर्च चलाने के लिये किसी मनसबदार को दी जाती थीं। इसका परिणाम यह था, कि अमीर-उमरा अपनी जागीर व मनसब को अपनी वैयक्तिक आमदनी का

साधन समझते थे, और इस आमदनी को मौज-बहार में उड़ा देने में ही अपनी भलाई मानते थे। सुन्दर पोशाक, उत्कृष्ट सुरा, षड्रस भोजन, भोग-विलास, नृत्य-गायन व द्यूतक्रीड़ा आदि में वे रुपये को पानी की तरह बहाते थे। धन-ऐश्वर्य की प्रचुरता ने उन्हें आलसी और विलासी बना दिया था। मोरलैण्ड ने हिसाब लगाकर बताया है, कि पांचहजारी मनसबदार की मासिक आय १८००० रुपया थी और एकहजारी मनसबदार की ५००० रुपया मासिक। यह आय उस खर्च को निकालने के बाद थी, जो मनसबदार को अपने पद के अनुरूप सैनिक व घोड़े आदि को रखने के लिये करना पड़ता था। इस युग में वस्तुओं का मूल्य इतना कम था, कि जीवन के लिये आवश्यक वस्तुओं के क्रय में यह रकम खर्च ही नहीं हो सकती थी। इस दशा में यदि विविध मनसबदार अपनी प्रचुर आय को ऐश-इशरत में व्यय करें, तो यह सर्वथा स्वाभाविक था।

अमीर-उमरा और सर्वसाधारण जनता के बीच की एक मध्य श्रेणि का विकास भी इस युग में हो गया था, जिसमें निम्न वर्ग के राजकर्मचारी, व्यापारी और समृद्ध शिल्पियों को अन्तर्गत किया जा सकता है। मुगल-साम्राज्य के कारण भारत में जो शान्ति और व्यवस्था स्थापित हो गई थी, उसमें यह सर्वथा स्वाभाविक था, कि देश के आभ्यन्तर और बाह्य व्यापार का भलीभांति विकास हो। बड़े-बड़े नगरों में निवास करनेवाले व्यापारी एक स्थान के माल को दूसरे स्थान पर बेचकर अच्छी रकम पैदा करते थे। पर वे जान-बूझकर अपना रहन-सहन सादा रखते थे, क्योंकि नगरों के कोतवालों का एक कार्य यह भी था, कि वे लोगों की आमदनी और खर्च का पता करते रहें। व्यापारियों को सदा यह भय बना रहता था, कि कहीं राजकर्मचारी उनके रहन-सहन से उनकी आमदनी का अन्दाज न कर लें, और फिर उचित-अनुचित उपायों से रुपया प्राप्त करने का यत्न न करें। इसीलिये वे बहुत सादे तरीके से रहते थे। बर्नियर ने लिखा है, कि व्यापारी लोगों की आमदनी चाहे कितनी ही अधिक क्यों न हो, वे अत्यन्त मितव्ययिता से खर्च करते थे। यही दशा समृद्ध शिल्पियों की भी थी, जिन्हें कि मुगल-काल के वैभव के कारण अपने शिल्प से अच्छी खासी आमदनी प्राप्त करने का अवसर मिल गया था। बन्दरगाहों में निवास करनेवाले अनेक ऐसे व्यापारी भी इस युग में थे, जो विदेशी व्यापार के कारण अत्यन्त धनी हो गये थे। ये अमीर-उमराओं के समान विलासमय जीवन बिताते थे, और इन्हें राजकर्मचारियों का विशेष भय नहीं था, क्योंकि अनेक मनसबदार समय-समय पर इनसे भेंट-उपहार व कर्ज प्राप्त कर इनसे संतुष्ट करते रहते थे।

अमीर-उमरा व मध्यम श्रेणि की तुलना में सर्वसाधारण जनता की दशा अत्यन्त हीन थी। इसमें किसान, कर्मकर व शिल्पी लोग शामिल थे, जो अपनी आवश्यकताओं को पूर्ण कर सकने योग्य आमदनी को सुगमता के साथ प्राप्त नहीं कर सकते थे। इनको तन ढकने के लिये कपड़ा भी कठिनता से प्राप्त हो पाता था। रेशम व ऊनी कपड़ों का प्रयोग तो इनकी कल्पना से भी परे था। सर्वसाधारण जनता की दशा के सम्बन्ध में कतिपय यूरोपियन यात्रियों के विवरण से बहुत अच्छा प्रकाश पड़ता है। फ्रांसिस्को पल्सेअर्त नामक यात्री ने जहांगीर के समय में भारत की यात्रा की थी। उसने लिखा है, कि इस देश की जनता में तीन वर्ग ऐसे है, जो नाम को तो स्वतन्त्र हैं, पर जिनकी दशा गुलामों से बहुत भिन्न नहीं है। ये वर्ग मजदूरों (कर्मकरों), चपरासियों व नौकरों और छोटे दूकानदारों के हैं। पल्सेअर्त के अनुसार मजदूरों को बहुत कम वेतन दिया जाता था। राजकर्मचारी उनसे स्वेच्छापूर्वक बेगार ले सकते थे। अमीर-उमरा व राजकर्मचारी लोग जिस मजदूर को चाहें, काम के लिये बुला सकते थे। कोई यह साहस नहीं कर सकता था, कि काम करने से इन्कार करे। अमीर-उमरा व राजकर्मचारी काम के बदले में उन्हें क्या वेतन दें, यह उनकी अपनी इच्छा पर निर्भर था। मजदूर व नौकर लोग उनसे स्वेच्छापूर्वक वेतन व मजदूरी तय नहीं कर सकते थे। छोटे दूकानदारों को भी अमीर-उमराओं और मनसबदारों का भय सदा बना रहता था। शक्तिसम्पन्न राजकर्मचारी बाजार-भाव से कम कीमत पर उनसे माल खरीदते थे और कीमत की प्राप्ति के लिये वे उनकी कृपा पर ही निर्भर रहते थे। वे जान-बूझकर गरीबी से जीवन बिताते थे, क्योंकि वे सदा राजकर्मचारियों की लूट व शोषण से डरते रहते थे।

पर इस सब विवेचन से यह नहीं समझना चाहिये, कि मुगल-काल में सर्वसाधारण जनता की दशा बहुत खराब थी। कीमतों की कमी के कारण इस युग में मनुष्य बहुत कम खर्च में अपना निर्वाह कर सकता था। अनेक प्रकार के अबवाबों का अन्त कर मुगल-सम्राटों ने मालगुजारी की मात्रा पैदावार के एक-तिहाई हिस्से के रूप में निर्धारित कर दी थी, जिसे प्रदान करने के बाद किसान निश्चन्त रूप से उपज के दो-तिहाई भाग को अपने खर्च के लिये प्रयुक्त कर सकता था। जमींदारी-प्रथा उस युग में नहीं थी। जमीन तीन प्रकार की होती थी—खलसा, जागीर और सयूरघाल। जिन जमीनों पर बादशाह का स्वामित्व था, उन्हें खलसा कहते थे। मनसबदारों को वेतन के बदले में जो भूमि प्रदान

की जाती थी, उसे जागीर कहते थे। सयूरघाल जमीन वह थी, जो किसी विशेष प्रयोजन से राज्य की ओर से किसी किसी व्यक्ति को मुफ्त दी गई होती थी। इन तीनों प्रकार की जमीनों पर किसान को उपज के तृतीयांश से अधिक कर प्रदान करने की आवश्यकता नहीं थी। शेष से वह अपना निर्वाह भलीभांति कर सकता था।

सुरापान की इल्लत से सर्वसाधारण लोग मुक्त थे। केवल धनी व अमीर-उमरा लोग ही सुरा के व्यसनी थे। टैरी नामक यूरोपियन यात्री ने लिखा है, कि लोग मदमस्त अवस्था में कभी दिखाई नहीं देते, यद्यपि शराब प्रचुर परिमाण में उपलब्ध है। लोगों का भोजन बहुत सादा होता था, और वे विदेशियों के प्रति भद्रता का व्यवहार करते थे। बाल-विवाह इस युग में भली भांति प्रचलित हो चुका था। देल्ला वाल नामक एक यात्री ने दो बालकों के विवाह का वर्णन किया है, जिन्हें घोड़े पर सहारा देकर बिठाया गया था, और बरात में भी जिन्हें सहारा देकर घोड़े पर ले जाया गया था। अकबर ने इस बात का प्रयत्न किया था, कि बाल-विवाह की प्रथा बन्द हो। उसकी राजाज्ञाओं में से एक यह भी थी, कि रजस्वला होने से पूर्व किसी कन्या का विवाह न हो सके। उसने दहेज-प्रथा, बहु-विवाह और निकट-सम्बन्धियों के विवाह को रोकने के लिये भी आदेश दिये थे। पर अकबर को अपने इन प्रयत्नों में कहां तक सफलता हुई थी, यह कह सकना कठिन है। पेशवाओं ने भी विवाह के सम्बन्ध में अनेक ऐसे आदेश जारी किये थे, जिनका उद्देश्य इस सामाजिक व पारिवारिक सम्बन्ध को निर्दोष बनाना था। पर यह स्पष्ट है, कि मुगल-काल में बाल-विवाह और दहेज-प्रथा भलीभांति विकसित हो चुकी थी। विधवा-विवाह इस युग में अच्छा नहीं माना जाता था, यद्यपि महाराष्ट्र की ब्राह्मणभिन्न जातियों और उत्तरी भारत के जाटों में यह प्रचलित था। विधवाओं के सती हो जाने की प्रथा भी इस युग में प्रचलित थी। अनेग मुगल-सम्राटों ने इसे रोकने व मर्यादित करने का प्रयत्न किया, पर वे सफल नहीं हो सके। नगरों के कोतवालों का एक कर्त्तव्य यह भी था, कि किसी विधवा को वे उसकी इच्छा के विरुद्ध सती न होने दें। विविध हिन्दू जातियों में अपने कुलीन होने का विचार भी इस युग में भलीभांति विकसित हो गया था, और कुलीन समझे जानेवाली जातियां अन्य लोगों को अपने से हीन समझने लगी थीं।

फलित ज्योतिष में इस युग के हिन्दू और मुसलमान—दोनों का समानरूप से विश्वास था। विजय-यात्रा के लिये प्रस्थान करते हुए या कोई नया कार्य प्रारम्भ

करते हुए लोग शकुन का विचार करते थे। पीरों, फकीरों और साधुओं के प्रति जनता में श्रद्धा का भाव था। टेवर्नियर ने लिखा है, कि इस देश में ८,००,००० मुसलिम फकीर और १२,००,००० हिन्दू साधु हैं, जो जनता से भिक्षा प्राप्त कर अपना निर्वाह करते हैं। टेवर्नियर की दी हुई ये संख्याएं कहां तक सही हैं, यह निश्चित कर सकना कठिन है, पर वर्तमान भारत के भिक्षुओं को दृष्टि में रखते हुए इनको सही न मानने का कोई कारण नहीं है। गुलामी की प्रथा भी इस समय प्रचलित थी, यद्यपि गुलामों की संख्या बहुत अधिक नहीं थी। पर गुलामों का क्रय-विक्रय कोई असाधारण बात नहीं थी, और बड़े नगरों में कोई भी मनुष्य कीमत देकर दास-दासी को खरीद सकता था। हिन्दुओं की नैतिक दशा बहुत उन्नत थी। टैवर्नियर ने उनके विषय में लिखा है, कि "हिन्दू लोग नैतिक दृष्टि से बहुत उत्कृष्ट हैं। वैवाहिक जीवन में वे अपनी स्त्रियों के प्रति अनुरक्त रहते हैं, और उनके साथ धोखा नहीं करते। उनमें व्यभिचार या अनैतिकता बहुत कम पाई जाती है।" पर मुसलिम अमीर-उमराओं का जीवन इस ढंग का नहीं था। वे अपने वैयक्तिक जीवन में नैतिकता के आदर्शों का बहुत कम पालन करते थे। मुगल-राजशक्ति के पतन में यह बात बहुत अधिक सहायक हुई थी।

(४) आर्थिक दशा

बाबर और हुमायूं के समय की आर्थिक दशा के सम्बन्ध में हमें अधिक परिचय नहीं है। बाबरनामा में बादशाह बाबर के काल की आर्थिक दशा के विषय में जो कुछ लिखा है, अनेक ऐतिहासिक उसे प्रामाणिक नहीं मानते। इसी प्रकार गुलबदन बेगम के हुमायूंनामा में उल्लिखित विवरणों को भी विश्वासयोग्य नहीं माना जाता। उसके अनुसार अकबर के जन्मस्थान अमरकोट में चार बकरियां एक रुपये में खरीदी जा सकती थीं, और अन्य वस्तुओं की कीमतें भी इसी प्रकार से अत्यधिक सस्ती थीं। पर अकबर के समय की आर्थिक दशा पर जहां आइने-अकबरी से बहुत प्रकाश पड़ता है, वहां इसकाल के यूरोपियन यात्रियों के विवरणों से भी इस सम्बन्ध में बहुत-सी बातें ज्ञात होती हैं। बाद के मुगल बादशाहों के शासन-काल के सम्बन्ध में परिचय प्राप्त करने के भी अनेक विश्वसनीय साधन ऐतिहासिकों के पास विद्यमान हैं। इस काल में यूरोपियन व्यापारियों ने अपनी कोठियां समुद्रतट के नगरों में स्थापित करनी प्रारम्भ कर दी थीं, और उनके रिकार्डों से मुगल-युग के आर्थिक जीवन के विषय में बहुत प्रामाणिक जानकारी प्राप्त की जा सकती है।

नगर—मुगल-युग में भारत के अनेक नगर बहुत समृद्ध थे। फिच नामक यूरोपियन यात्री ने १५८५ में लिखा था—"आगरा और फतहपुर दो बहुत बड़े नगर हैं। इन दो में से प्रत्येक विशालता और जनसंख्या की दृष्टि से लण्डन की अपेक्षा बहुत बड़ा है। आगरा और फतहपुर के बीच का अन्तर बारह मील है। इस सुदीर्घ मार्ग के दोनों ओर बहुत-सी दूकानें हैं। इस पर चलते हुए इतने मनुष्य मार्ग में मिलते हैं, कि यह प्रतीत होता है, मानो हम बाजार में घूम रहे हों।" पंजाब के विषय में टैरी ने लिखा है—"यह एक विशाल और उपजाऊ सूबा है। इसका प्रधान नगर लाहौर है, जो बहुत बड़ा है, और जो जनसंख्या व सम्पत्ति दोनों दृष्टियों से अत्यन्त समृद्ध है। व्यापार के लिये यह भारत के सबसे बड़े नगरों में से एक है।" १५८१ में मोंसरात ने लाहौर के विषय में लिखा था, कि "यह नगर 'यूरोप व एशिया के किसी भी अन्य नगर की तुलना में कम नहीं है।" आगरा, फतहपुर सीकरी और लाहौर के समान बुरहानपुर (खानदेश), अहमदाबाद (गुजरात), बनारस, पटना, राजमहल, बर्दवान, हुगली, ढाका और चटगांव भी मुगल-युग में अत्यन्त समृद्ध नगर थे।

मुद्रा-पद्धति—मुगल-युग की मुद्रा-पद्धति को स्थायी व नियमित रूप देने के लिये अकबर ने बहुत उद्योग किया। १५७७ ई० में उसने अब्दुस्समद शिराजी को टकसाल का दारोगा बनाया, जिसके अधिकार में दिल्ली की टकसाल दी गई। इसी तरह के दारोगा लाहौर, जौनपुर, अहमदाबाद, पटना आदि की टकसालों के लिये नियत भी किये गये। यह व्यवस्था की गई, कि इन विभिन्न टकसालों में जिन सिक्कों का निर्माण हो, वे तोल, आकार व धातु-शुद्धता आदि की दृष्टि से एक सदृश हों। अकबर के सिक्कों में रुपया और दाम प्रमुख थे। रुपया चांदी का होता था, और उसका वजन १७५ ग्रेन या ११½ माशा के लगभग था। एक रुपये में ४० दाम होते थे, जिन्हें पैसा भी कहते थे। दाम या पैसे का वजन ३२३½ ग्रेन था। आजकल के पैसे के मुकाबले में यह बहुत भारी होता था, और इसके निर्माण के लिये तांबे का प्रयोग किया जाता था। दाम या पैसे के उपविभाग को जीतल कहते थे। एक पैसा २५ जीतल के बराबर होता था। अकबर ने चांदी का एक अन्य सिक्का भी जारी किया था, जिसे 'जलाली' कहते थे। यह आकार में चौकोन होता था। अकबर के समय में जो मुद्रापद्धति जारी की गई, वही थोड़े-बहुत अदल-बदल के साथ सम्पूर्ण मुगल-युग में कायम रही।

कीमतें—आइने-अकबरी में बहुत-सी वस्तुओं की कीमतें दी गई हैं, जो मुगल-युग की आर्थिक दशा को जानने के लिये बहुत सहायक हैं। इनमें से कुछ का उल्लेख

करना उपयोगी है। अकबर के समय में गेहूं का भाव १२ दाम प्रतिमन था। अन्य वस्तुओं का भाव प्रतिमन निम्नलिखित प्रकार था--जौ ८ दाम, चना १६।। दाम, बढ़िया चावल ११० दाम, घटिया चावल २० दाम, बाजरा ८ दाम, मूंग १८ दाम, आटा २२ दाम, घी १०५ दाम, तेल ८० दाम, दूध २५ दाम और चीनी १२८ दाम। शक्कर का भाव ५५ दाम प्रतिमन और उड़द की दाल १६ दाम प्रति मन थी। भेड़ १½ रुपये में खरीदी जा सकती थी, और गाय का मूल्य १० रुपया था। बकरे का मांस ६५ दाम प्रतिमन के भाव से बिकता था। इस प्रसङ्ग में यह ध्यान में रखना आवश्यक है, कि अकबर के समय का मन वर्तमान समय के २५ सेर के बराबर होता था। यदि अकबरी रुपये को वर्त्तमान समय के रुपये (जिसका वजन १२ माशा होता है) के बराबर मान लिया जाय तो, विभिन्न वस्तुओं के मूल्य इस प्रकार होंगे--गेहूं १ रु० की ८३ सेर, बाजरा १ रु० का १२५ सेर, उड़द या मूंग की दाल १ रु० की ५६ सेर, घी १ रु० का ६ सेर, दूध १ रु० का ४० सेर, बकरे का मांस १ रु० का १५ सेर, और चीनी १ रु० की ८ सेर। वर्त्तमान समय की कीमतों से तुलना करके यह भलीभांति समझा जा सकता है, कि अकबर के समय में सर्वसाधारण जनता के उपयोग की सब वस्तुएं बहुत अधिक सस्ती थीं। पर कीमतों के सस्ता होने के साथ-साथ इस युग में मजदूरी की दर भी बहुत कम थी। मामूली मजदूर की मजदूरी इस समय २ दाम प्रतिदिन थी, और मिस्त्री, राज, बढ़ई आदि की मजदूरी ७ दाम प्रतिदिन। यदि गेहूं की दृष्टि से देखा जाय, तो अकबर के समय मजदूर अपनी दैनिक मजदूरी से सवा चार सेर के लगभग गेहूं खरीद सकता था। मिस्त्री, बढ़ई आदि तो अपनी मजदूरी से १३ सेर के लगभग गेहूं प्राप्त कर सकते थे। सस्ती कीमतों के कारण इस युग के लोगों को अपना गुजारा करने में विशेष कठिनाई नहीं होती थी। मजदूरी की दर कम होते हुए भी लोग प्रसन्न व संतुष्ट थे। एडवर्ड टैरी के अनुसार "सम्पूर्ण देश में खाद्य-पदार्थों का बाहुल्य था.... और बिना किसी कठिनाई के सब लोग रोटी खा सकते थे।" इसमें सन्देह नहीं, कि मुगल-युग में सर्वसाधारण जनता आर्थिक दृष्टि से बहुत दुर्दशाग्रस्त नहीं थी, और वह अपने लिये आवश्यक वस्तुएं सुगमता से प्राप्त कर लेती थी।

दुर्भिक्ष--मुगल-युग में भारत को अनेक दुर्भिक्षों का सामना करना पड़ा। आगरा और बियाना के समीपवर्ती प्रदेशों में १५५५-५६ में एक भयंकर दुर्भिक्ष पड़ा, जिसका वर्णन करते हुए बदायूंनी ने लिखा है--लोग मानव-मांस को खाने में तत्पर हो गये, और दुर्भिक्षपीड़ित नरनारियों की दुर्दशा को आंखों से देख सकना

सम्भव नहीं रहा। यह सम्पूर्ण प्रदेश एक रेगिस्तान के समान दिखाई देने लगा। १५७३-७४ में गुजरात में दुर्भिक्ष पड़ा, जिसके साथ ही एक भयंकर महामारी भी फैल गई। अनाज के अभाव में कीमतें बहुत बढ़ गईं, और लोगों को अनन्त कष्ट भोगने पड़े। १५९५ से लेकर १५९८ तक एक बार भारत को पुनः दुर्भिक्ष का सामना करना पड़ा, और नरमांस तक का भक्षण करने में लोगों ने संकोच नहीं किया। इस दुर्भिक्ष में अनेक नगरों के बाजार लाशों से पट गये थे, और लाशों को दफना सकना भी सम्भव नहीं रह गया था। इन तीन दुर्भिक्षों में से एक बाबर के समय में, एक हुमायू के समय में और तीसरा अकबर के समय में पड़ा था। जहांगीर के शासन-काल में भारत को किसी दुर्भिक्ष का सामना नहीं करना पड़ा। पर शाहजहां के समय में दक्खन और गुजरात में एक बार फिर दुर्भिक्ष पड़ा, जिसका वृत्तान्त एक डच व्यापारी ने इस प्रकार लिखा है—"गलियों में अर्धमृत दशा में पड़े हुए लोगों को दूसरे लोग मार डालते थे, और मनुष्य मनुष्य का भक्षण करने के लिये तत्पर हो गये थे। मनुष्यों के लिये गलियों व मार्गों पर चल सकना कठिन हो गया था, क्योंकि उन्हें सदा यह भय बना रहता था, कि कोई उनपर आक्रमण न कर दे।" अकबर और शाहजहां जैसे बादशाहों ने दुर्भिक्ष के अवसरों पर जनता को भोजन देने के लिये अनेक व्यवस्थायें कीं। पर उनसे बहुत लाभ नहीं हुआ। विशेषतया छोटे नगरों और ग्रामों में निवास करनेवाले लोग उनसे कोई लाभ नही उठा सके।

मुगल-युग में दुर्भिक्षों का प्रधान कारण यह था, कि इस काल में भारत की अधिकांश भूमि दैवमातृका थी। नहरों व कुओं से सिंचाई का कोई विशेष प्रबन्ध नहीं था। यदि किसी साल वर्षा न होती, तो फसल नष्ट हो जाती और जनता के लिये भोजन प्राप्त कर सकना कठिन हो जाता। इस युग में आवागमन और माल की ढुलाई का वह प्रबन्ध नही था, जो रेल, मोटर आदि के आविष्कार के कारण आजकल के जमाने में है। अतः यदि गुजरात में अकाल पड़ता, तो पंजाब या बंगाल से वहां अनाज पहुंचा सकना सुगम नहीं होता था। दुर्भिक्ष की भयंकरता का यही प्रधान कारण था।

शिल्प और व्यवसाय—मुगल-युग में भारत के आर्थिक जीवन का प्रधान आधार खेती थी। बहुसंख्यक लोग कृषि द्वारा ही अपना निर्वाह करते थे। पर अनेक व्यवसाय व शिल्प भी इस युग में विकसित हो चुके थे, और भारत में तैयार हुए सूती व रेशमी कपड़ों व अन्य अनेक पदार्थों की न केवल इस देश के सम्पन्न लोगों में अपितु विदेशों में भी बहुत मांग थी। यह ध्यान में रखना चाहिये, कि

यूरोप में भी अभी व्यावसायिक क्रान्ति का प्रादुर्भाव नहीं हुआ था। भारत के समान इङ्गलैण्ड और फ्रांस के कारीगर भी अठारहवीं सदी के प्रारम्भ तक यान्त्रिक शक्ति की सहायता के बिना छोटी-छोटी मशीनों से आर्थिक उत्पत्ति करते थे, और बड़े कल-कारखानों का विकास इस समय तक नहीं हुआ था। यदि अठारहवीं सदी के पूर्वार्ध तक के व्यावसायिक जीवन को दृष्टि में रखा जाय, तो भारत फ्रांस व इङ्गलैण्ड से किसी भी प्रकार कम नहीं था, और इस देश में तैयार हुए माल को देश-विदेश में सर्वत्र अत्यन्त आदर की दृष्टि से देखा जाता था।

भारत के इस युग के व्यवसायों में वस्त्र-व्यवसाय सर्वप्रधान था। गुजरात, खानदेश, जौनपुर, बनारस, पटना आदि इस व्यवसाय के केन्द्र थे, और बंगाल में जिस ढंग का महीन सूती कपड़ा बनता था, वह संसार में अपनी तुलना नहीं रखता था। उड़ीसा से पूर्वी बंगाल तक का सारा प्रदेश कपड़े के कारखानों से छाया हुआ था, और ऐसा प्रतीत होता था, कि मानो यह सब प्रदेश वस्त्र-निर्माण का एक विशाल कारखाना हो। विशेषतया ढाका का जिला महीन मलमल के लिये सर्वत्र प्रसिद्ध था। फ्रासिस्को पल्सेअर्त के अनुसार पूर्वी बगाल के सोनारगांव और चाबासपुर में सब लोग वस्त्र-व्यवसाय द्वारा ही अपना निर्वाह करते थे, और वहां तैयार हुआ कपड़ा अपनी खूबियों के कारण अत्यधिक विख्यात था। बर्नियर ने लिखा है, कि बंगाल में सूती और रेशमी कपड़ा इतना अधिक होता है, कि उसे न केवल बंगाल व मुगल-साम्राज्य का अपितु सब पड़ोसी देशों व यूरोप तक का इन पण्यों के लिये विशाल भण्डार समझा जा सकता है। वस्त्र-व्यवसाय के साथ-साथ कपड़े की रंगाई और छपाई का शिल्प भी इस देश में बहुत उन्नत दशा में था। टैरी के अनुसार सूती कपड़े को रंग कर या बिना रंगे ही इस प्रकार सुन्दरता के साथ छापा जाता था, कि पानी से रंग व छपाई को उतार सकना किसी भी तरह सम्भव नहीं रहता था। भारत की छींट संसार के बाजारों में सर्वत्र दिखाई देती थी, और सब देशों के धनी लोग उसे बड़े शौक से के साथ क्रय करते थे। सूती वस्त्रों के समान रेशमी कपड़ों का भी प्रधान केन्द्र बंगाल ही था। टैवर्नियर के यात्रा-विवरण के आधार पर मोरलैण्ड ने लिखा है, कि बंगाल में २५,००,००० पौंड वजन के लगभग का रेशम प्रतिवर्ष तैयार होता था, जिसमें से ७,५०,००० पौंड रेशम डच लोग खरीदकर यूरोप भेज देते थे, और शेष बंगाल व भारत के अन्य सूबों में बुनाई के लिये प्रयुक्त किया जाता था। इस रेशम का कुछ भाग स्थल-मार्ग द्वारा मध्य एशिया भी जाता था। रेशमी कपड़ा बुनने की खड्डियां बंगाल के अतिरिक्त लाहौर, आगरा, गुजरात

आदि में भी थीं। इसीलिये इन प्रदेशों के व्यवसायी बंगाल के रेशम को क्रय करने के लिये सदा उत्सुक रहते थे। अकबर ने शाल और गलीचे के व्यवसाय को भी प्रोत्साहन दिया था। कश्मीर के अतिरिक्त लाहौर और आगरा भी इस व्यवसाय के अच्छे महत्त्वपूर्ण केन्द्र थे। शाल और गलीचों के साथ-साथ अनेक प्रकार के ऊनी वस्त्र व कम्बल भी इन स्थानों के कारखानों में तैयार होते थे।

मुगल-युग के अन्य व्यवसायों में नौका-निर्माण और शोरे का कारोबार विशेषरूप से उल्लेखनीय है। विशाल मुगल-साम्राज्य में नदियों को पार करने के लिये और विशेषतया सेनाओं को नदियों के पार उतारने के लिये नौकाओं का बहुत महत्त्व था। साथ ही, इस युग में व्यापार के लिये भी गंगा जैसी नदियां बहुत काम आती थीं। जलमार्ग द्वारा माल को एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाना बहुत सस्ता पड़ता था। इन सब प्रयोजनों के लिये जो नौकायें जरूरी थीं, वे सब भारत में ही बनती थीं। बंगाल की खाड़ी के समीपवर्ती प्रदेशों की अराकानी लोगों व सामुद्रिक डाकुओं से रक्षा करने के लिये मुगल-काल में एक जहाजी बेड़ा भी था, यह हम पहले लिख चुके हैं। ये जहाज भी भारत के शिल्पियों द्वारा ही तैयार किये जाते थे। शोरे का उपयोग बारूद के निर्माण के लिये होता था। मुगल-युग मे बारूद का प्रयोग बड़े पैमाने पर शुरू हो गया था, अतः मुगलो के तोपखाने के लिये आवश्यक बारूद का निर्माण करने के प्रयोजन से शोरे की बहुत मांग रहती थी। डच और इङ्गलिश व्यापारी भी भारत से शोरा खरीदकर उसे अपने देशों में भेजते थे, और वहां वह बारूद के लिये प्रयोग मे लाया जाता था। इस कारण शोरे का व्यवसाय भी इस युग में अच्छी उन्नत दशा में था।

इन बड़े व्यवसायों के अतिरिक्त हाथी-दांत, आबनूस की लकड़ी, सोना-चांदी आदि की अनेक प्रकार की सुन्दर व कलात्मक वस्तुएं इस युग के भारतीय शिल्पी तैयार करते थे, जिन्हें देश-विदेश के धनी मानी-लोग बड़े शौक से खरीदते थे।

विदेशी व्यापार—मुगल-युग में विदेशों के साथ व्यापार स्थल और जल—दोनों मार्गों से होता था। विदेशी व्यापार के दो स्थल-मार्ग प्रधान थे। एक मार्ग लाहौर से काबुल को जाता था, और दूसरा मुलतान से कन्धार को। सामुद्रिक व्यापार के लिये अनेक बन्दरगाह भारत के समुद्रतट पर विद्यमान थे, जिनमें सिन्ध का लाहौरी बन्दर, गुजरात के सूरत, भडौंच और कैम्बे, रत्नगिरि के तटवर्ती वसीन, चौल और दाभोल, मलाबार के कालीकट और कोचीन,

और पूर्वी समुद्रतट के सातगांव, श्रीपुर, चटगांव, सोनारगांव, नेगापटम और मछलीपटम बन्दरगाह विशेषरूप से उल्लेखनीय हैं। इनके अतिरिक्त पश्चिमी समुद्रतट का गोआ बन्दरगाह भी इस समय अच्छी उन्नत दशा में था, जो पोर्तुगीज व्यापारियों का महत्त्वपूर्ण केन्द्र था। इन बन्दरगाहों से भारत का माल विदेशों में और विदेशी माल भारत में विक्रय के लिये आता था। राज्य की ओर से इस माल पर महसूल लिया जाता था, जिसकी मात्रा सोना-चांदी पर दो प्रतिशत और अन्य सब प्रकार के माल पर साढ़े तीन प्रतिशत थी। यूरोपियन देशो के बहुत-से व्यापारी इस युग में व्यापार के लिये भारत आने-जाने लगे थे, और इनके कारण भारत के विदेशी व्यापार की मात्रा बहुत अधिक बढ़ गई थी। मुगल बादशाहों की यह नीति थी, कि सोना-चांदी भारत से बाहर न जाने पावे, और विदेशी व्यापारी जो माल इस देश से खरीदें, उसकी कीमत वे सोना-चांदी में अदा किया करें। इसीलिये यूरोपियन व्यापारियों को भारत का माल प्राप्त करने के लिये सोना-चादी अपने साथ लाना पड़ता था। जो माल बिक्री के लिये भारत से बाहर जाता था, उसमे विविध प्रकार के सूती व रेशमी वस्त्र, मिर्च-मसाले, नील, अफीम और औषध मुख्य थे। भारत मे बिकने आनेवाले विदेशी माल मे सोना, चांदी, घोड़े, धातुएं, हाथी-दांत, मूगे, अम्बर, मणिमाणिक्य, सुगन्धि आदि प्रधान थे। विदेशी व्यापार के कारण इस देश के बन्दरगाहों में निवास करनेवाले व्यापारी बहुत समृद्ध हो गये थे, और भारत के वैभव व सम्पत्ति मे भी इसे बहुत सहायता मिली थी।

सहायक ग्रन्थ

Moreland : India from Akbar to Aurangzeb.
Sarkar J. N. : Mughal Administration.
Sarkar J. N. : History of Aurangzeb.
Lane Poole : Mediaeval India.
Smith V. A. : Akbar, the Great Moghul.
Cambridge History of India Vol. IV.
Mazumdar etc. : An Advanced History of India.
Blochmann : Ain-i-Akbari.

तीसवां अध्याय

मुगल-युग का साहित्य, कला, धर्म व जीवन

(१) शिक्षा और साहित्य

शिक्षणालय—जिस प्रकार आजकल राज्य की ओर से शिक्षणालयों का संचालन व नियन्त्रण होता है, वैसा प्राचीन व मध्यकाल में नहीं होता था। मुगल-युग के शिक्षणालय भी न राज्य द्वारा संचालित थे, और न उसका नियन्त्रण ही उनपर विद्यमान था। इस काल में शिक्षा का कार्य धार्मिक संस्थाओं के अधीन था, और मन्दिरों व मसजिदों के साथ अनेक इस प्रकार के विद्यालय स्थापित थे, जिनमें विद्यार्थी साधारण व उच्च शिक्षा प्राप्त करते थे। बौद्ध-युग में जिन विहारों व महाविहारों की स्थापना हुई थी, वे अब नष्ट हो चुके थे। उनका स्थान अब मन्दिरों और मसजिदों के साथ सम्बद्ध शिक्षा-संस्थाओं ने ले लिया था। हिन्दू-मन्दिर न केवल हिन्दू-धर्म, दार्शनिक चिन्तन और भारतीय संस्कृति के केन्द्र थे, अपितु साथ ही शास्त्रों की शिक्षा का भी कार्य करते थे। यही बात मसजिदों के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है, जहां पर्शियन भाषा, कुरान व अन्य मुसलिम धर्मग्रन्थों की शिक्षा की समुचित व्यवस्था थी। इन धार्मिक शिक्षणालयों का खर्च जहां जनता द्वारा दिये जानेवाले दान से चलता था, वहां मुगल बादशाह व उनके बड़े-बड़े मनसबदार व अमीर-उमरा भी इन्हें आर्थिक सहायता व जागीरें प्रदान करते थे, और उनकी आमदनी से इनका खर्च भली-भांति पूरा हो जाता था। मुगल बादशाहों ने मसजिदों के साथ विद्यमान 'मकतबों' की दिल खोलकर सहायता की, और विद्वानों के संरक्षण व सहायता में भी उन्होंने बहुत उदारता दिखाई।

सैयद मकबरअली ने अपनी तवारीख में बाबर के विषय में लिखा है, कि बादशाह बाबर ने मकतबों व शिक्षणालयों की उन्नति पर बहुत ध्यान दिया, और उसकी सरकार के अन्यतम विभाग शुहरते-आम का एक कर्तव्य यह था, कि

वह शिक्षा-संस्थाओं की उन्नति की व्यवस्था करे । यद्यपि हुमायूं का अधिकांश समय युद्धों में व्यतीत हुआ, पर उसे भूगोल और ज्योतिष का बहुत शौक था । पुस्तकों का वह बड़ा प्रेमी था, और युद्ध-यात्रा के समय भी वह बहुत-सी पुस्तकों को अपने साथ रखता था । उसने दिल्ली में एक मदरसे की स्थापना की, और पुराने किले में शेरशाह द्वारा निर्मित प्रमोद-भवन को पुस्तकालय के रूप में परिणत कर दिया । अकबर के समय में मुगल-साम्राज्य पूर्णतया व्यवस्थित हो गया था । इस कारण यह बादशाह मकतबों और मदरसों की उन्नति पर विशेष ध्यान दे सका । फतहपुर सीकरी, आगरा व अन्य अनेक नगरों में उसने मदरसे खुलवाये, जिनमें विविध मुसलिम विद्वान् शिक्षण के कार्य में व्यापृत रहते थे । अकबर ने यह भी व्यवस्था की, कि इन मदरसों में हिन्दू विद्यार्थी भी शिक्षा प्राप्त कर सकें । जहांगीर पर्शियन और तुर्की भाषाओं का विद्वान् था । उसने यह आदेश जारी किया, कि जिस किसी धनी मनुष्य का कोई वारिस न हो, उसकी सम्पत्ति पर राज्य का अधिकार हो जाय, और इस सम्पत्ति का उपयोग मकतबों और मदरसों की मरम्मत व खर्च के लिये किया जाय । 'तारीखे-जांजहां' में जहागीर के विषय में लिखा है, कि जो मदरसे सालों से उजड़े पड़े थे और जिनमें पशु-पक्षी निवास करने लगे थे, बादशाह की कोशिश से वे सब अध्यापकों और विद्यार्थियों से परिपूर्ण हो गये । शाहजहां को भी विद्या व ज्ञान से बहुत प्रेम था । वह अपना कुछ समय नियमित रूप से विद्याध्ययन में व्यतीत करता था, और उसने दिल्ली में एक नये मदरसे की स्थापना की । दार-उल-बका नाम का एक पुराना मदरसा इस समय बिलकुल उजड़ी हुई दशा में था । शाहजहां ने उसका भी जीर्णोद्धार कराया । शाहजहां का ज्येष्ठ पुत्र दाराशिकोह अरबी, पर्शियन और संस्कृत का पण्डित था । उसने उपनिषद्, भगवद्-गीता, योगवासिष्ठ आदि अनेक सस्कृत ग्रन्थों का स्वयं पर्शियन भाषा में अनुवाद किया, और सूफी सम्प्रदाय आदि पर अनेक मौलिक ग्रन्थ भी लिखे । यदि दाराशिकोह अपने पिता के बाद मुगल बादशाहत के राजसिंहासन पर आरूढ़ हो सकता, तो निःसन्देह भारत में विद्या और ज्ञान को बहुत अधिक प्रोत्साहन मिलता । पर दुर्भाग्यवश वह बादशाह नहीं बन सका, और इस विद्याप्रेमी राजकुमार की आकांक्षायें मन की मन में ही रह गईं । औरङ्गजेब स्वयं अच्छा विद्वान् था । पर उसकी सब शक्ति मुगल-साम्राज्य का विस्तार करने और राज्य-शासन को मुसलिम सिद्धान्तों के अनुरूप बनाने में ही लग गई । वह अपने साम्राज्य में शिक्षा की उन्नति की ओर ध्यान देने में असमर्थ रहा, यद्यपि उसने इस्लाम की वृद्धि और मुसलिम धर्म

शास्त्रों के अध्ययन को प्रोत्साहित करने के लिये अनेक महत्त्वपूर्ण कार्य किये।

मुसलिम बादशाहों के शासनकाल में विद्यमान विविध मकतबों और मसजिदों में बहुत-से विद्यार्थी शिक्षा ग्रहण करते थे। यह शिक्षा प्रधानतया पर्शियन और अरबी भाषाओं और कुरान आदि मुसलिम धर्मग्रन्थों की ही होती थी। इसी प्रकार हिन्दू-मन्दिरों में संस्कृत और हिन्दू शास्त्रों का अध्ययन-अध्यापन होता था। गणित, ज्योतिष, चिकित्सा-शास्त्र आदि वैज्ञानिक विषयों की पढ़ाई का भी इनमें प्रबन्ध था, पर ये विषय भी धार्मिक साहित्य के अंग-रूप में ही पढ़ाये जाते थे। शिल्प की शिक्षा के लिये विद्यार्थी प्रायः उस्तादों (आचार्यों) की सेवा में उपस्थित होते थे, जिनके पास वे शागिर्द (अन्तेवासी) के रूप में निवास करते थे। पर मसजिदों और मन्दिरों के साथ सम्बद्ध शिक्षण-संस्थाओं से लाभ उठाने का अवसर सर्वसाधारण जनता को बहुत कम मिलता था, और इस युग के बहुसंख्यक लोग प्रायः निरक्षर ही रहते थे। बड़े घरों के लड़कों के समान उनकी लड़कियां भी शिक्षा प्राप्त करती थी। बादशाह के हरम और अमीर-उमराओं के घरों की स्त्रियां जहां संगीत, कला आदि में निपुण होती थीं, वहां साथ ही शिक्षित होने का भी प्रयत्न करती थीं। यही कारण है, कि मुगल-युग में हमें अनेक सुशिक्षित व सुसंस्कृत महिलाओं का पता मिलता है। बाबर की लड़की गुलबदन बेगम एक सुशिक्षित महिला थी। उसने 'हुमायूनामा' नामक पर्शियन पुस्तक में अपने भाई हुमायूं का चरित्र लिखा है। हुमायू की भतीजी सलीमा सुलताना ने भी पर्शियन भाषा में अनेक पुस्तकें लिखीं, जिनमें से कतिपय इस समय भी उपलब्ध है। जहांगीर की प्रेयसी मलिका नूरजहां और शाहजहां की रानी मुमताजमहल अत्यन्त सुसंस्कृत और सुशिक्षित महिलायें थीं। मुगल-खानदान की अन्य सुशिक्षित महिलाओं में जहांनारा और जेबुन्निसा के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। ये सब स्त्रियां अरबी और फारसी पर अधिकार रखती थीं और विद्या व ज्ञान से इन्हें बहुत प्रेम था।

पर्शियन साहित्य—मुगल-युग के साहित्य में पर्शियन ग्रन्थों का स्थान बहुत महत्त्वपूर्ण है। इस युग के पर्शियन साहित्य को तीन भागों में बांटा जा सकता है—(१) इतिहास व जीवन-चरित, (२) अनुवाद-ग्रन्थ और (३) काव्य-ग्रन्थ। ऐतिहासिक ग्रन्थों में मुल्ला दाऊद द्वारा लिखित तवारीखे अल्फी, अबुल फजल द्वारा लिखित आइने-अकबरी और अकबरनामा, बदाउनी द्वारा लिखित मुन्तखाब-उत्-तवारीख, निजामुद्दीन अहमद द्वारा विरचित तबकाते अकबरी, फैजी सर-हिन्दी द्वारा लिखित अकबरनामा, और अब्दुल बाकी द्वारा लिखित मआसीरे-

रहीमी ग्रन्थ विशेष महत्त्वपूर्ण है। मुगल-युग का सबसे प्रसिद्ध पर्शियन लेखक अबुल फजल था, जो अकबर का परम मित्र व सहायक था। वह न केवल ऐतिहासिक था, अपितु साथ ही एक सुसंस्कृत कवि, आलोचक और विद्वान् भी था। उसकी आइने-अकबरी का अकबर के समय के भारत का ज्ञान प्राप्त करने के लिये उतना ही महत्त्व है, जितना कि मौर्य चन्द्रगुप्त के समय के भारत के लिये कौटलीय अर्थ-शास्त्र का है।

मुगल बादशाहों ने अनेक संस्कृत ग्रन्थों का पर्शियन भाषा में अनुवाद करान के लिये भी प्रयत्न किया। अकबर के आदेश से महाभारत के बहुत-से भागों का पर्शियन में अनुवाद हुआ, और इन्हें 'रज्मनामा' नाम दिया गया। महाभारत का यह अनुवाद मुसलिम विद्वानों द्वारा किया गया था, जो कि पर्शियन के साथ-साथ संस्कृत के भी पण्डित थे। १५८९ ई० में बदाउनी ने रामायण का पर्शियन में अनुवाद किया। हाजी 'इब्राहीम सरहिन्दी ने अथर्ववेद को और फैजी ने लीलावती को पर्शियन भाषा में अनूदित किया। लीलावती गणित का प्रसिद्ध और प्राचीन ग्रन्थ है। इसी प्रकार मुकम्मल खां गुजराती ने ज्योतिष के प्राचीन ग्रन्थ 'तजक' का और मौलाना शाह मुहम्मद शाहाबादी ने काश्मीर के इतिहास का पर्शियन में अनुवाद किया। अकबर की प्रेरणा से अनेक ग्रीक और अरबी पुस्तकें भी पर्शियन में अनूदित की गई। इसमें सन्देह नहीं, कि बादशाह अकबर के संरक्षण में पर्शियन साहित्य की बहुत उन्नति हुई। जहां उसमें अनेक मौलिक पुस्तकें लिखी गई, वहां अन्य भाषा की अनेक महत्त्वपूर्ण पुस्तकें अनुवाद द्वारा भी उसमें समाविष्ट हुईं। अकबर की संरक्षा में जिन अनेक कवियों ने पर्शियन भाषा में काव्य-रचना की, उनमें फैजी, गिजली, मुहम्मद हुसैन नजीरी और सैयद जमालुद्दीन उर्फी का बहुत ऊंचा स्थान है।

पर्शियन भाषा के जो अनेक विद्वान् व साहित्यिक जहांगीर के राजदरबार की शोभा बढ़ाते थे, उनमें गियास बेग, नकीब खां, मुतमिद खां, निआमतुल्ला और अब्दुल हक देहलवी सर्वप्रधान हैं। इस काल के ऐतिहासिक ग्रन्थों में मुआसीरे-जहांगीरी, इकबालनामा जहागीरी और जुब्दुत्तवारीख विशेष प्रसिद्ध हैं।

अपने पिता और पितामह के समान शाहजहां भी विद्वानों का संरक्षक व आश्रयदाता था। उसके आश्रय में निवास करनेवाले ऐतिहासिकों ने जो अनेक इतिहास-ग्रन्थ लिखे, उनमें अब्दुलहमीद लाहौरी द्वारा लिखित पादशाहनामा और इनायत खां द्वारा लिखित शाहजहांनामा बहुत प्रसिद्ध है। शाहजहां के

वृत्तान्त और इस युग के भारत के सम्बन्ध में परिचय प्राप्त करने के ये ही मुख्य साधन हैं। दाराशिकोह ने जिन अनेक संस्कृत पुस्तकों का पर्शियन भाषा में अनुवाद किया था, उनका उल्लेख हम इसी प्रकरण मे ऊपर कर चुके हैं। औरङ्गजेब को शिक्षा और साहित्य से विशेष प्रेम नहीं था। न उसे संगीत का शौक था और न कला व कविता का। इतिहास-लेखन के भी वह विरुद्ध था। फिर भी उसके समय में पर्शियन भाषा में अनेक इतिहास-ग्रन्थ लिखे गये, जिनमें मिर्जा मुहम्मद काजिम का आलमगीरनामा, मुहम्मदसाकी का मआसीरे-आलमगीरी, सुजान राय खत्री का खुलासातुत्तवारीख, भीमसेन का नुश्काए-दिलकुशा और ईश्वरदास का फतूहाते आलमगीरी बहुत महत्त्वपूर्ण है। जिस प्रकार ब्रिटिश-युग में बहुत-से हिन्दू और मुसलमान अंग्रेजी की योग्यता प्राप्त कर इस विदेशी भाषा में ग्रन्थ-प्रणयन करने में प्रवृत्त हुए, ऐसे ही मुगल-शासन में अनेक हिन्दुओ ने भी पर्शियन भाषा का अच्छा ज्ञान प्राप्त कर लिया था, और उनके लिखे हुए पर्शियन भाषा के ग्रन्थ भाषा और शैली की दृष्टि से बहुत उत्कृष्ट कोटि के है। इस युग में राजकीय कार्यो के लिये पर्शियन भाषा का ही उपयोग होता था, और इसी कारण उच्च व सम्पन्न वर्ग के हिन्दू इन भाषा में योग्यता प्राप्त करने के लिये प्रयत्नशील रहते थे।

औरङ्गजेब के शासनकाल के अन्तिम भाग में मुगल-साम्राज्य में अव्यवस्था और अराजकता छा गई थी। उसके उत्तराधिकारी निर्बल थे, और वे मुगल बादशाहत को अक्षुण्ण रखने में असमर्थ रहे थे। औरङ्गजेब के बाद भारत की प्रधान राजशक्ति मुगलों के हाथों से निकलकर मराठों के हाथों में आ गई थी। यही कारण है, कि पिछले मुगल बादशाहों के समय में पर्शियन साहित्य का अधिक विकास नहीं हो सका, यद्यपि अनेक लेखक व विद्वान् इस सुसंस्कृत भाषा को अपनी रचनाओं के लिये प्रयुक्त करते रहे।

हिन्दी साहित्य—हिन्दी साहित्य की दृष्टि से मुगल-युग को 'सुवर्णीय काल' माना जाता है। इसमें सन्देह नहीं, कि मुगल-साम्राज्य की स्थापना के कारण भारत में जो शान्ति और सुव्यवस्थित शासन कायम हो गया था, उससे लाभ उठाकर अनेक प्रतिभाशाली कवि इस युग में हिन्दी-काव्य-साहित्य के विकास में तत्पर हुए। हिन्दी-भाषा का यह साहित्य प्रधानतया धार्मिक था। अफगान-युग में हिन्दू-धर्म में जो नई चेतना उत्पन्न हुई थी, उसके कारण सर्वसाधारण जनता में नवजीवन का संचार हो गया था। स्वामी रामानन्द, कबीर, नानक, चैतन्य आदि सन्त-महात्माओं ने भारत के धार्मिक क्षेत्र में जो नई लहर चलाई थी,

वह निरन्तर जोर पकड़ रही थी, और उससे प्रभावित होकर तुलसी, सूर आदि कवियों ने एक ऐसी भक्तिमयी धारा का प्रवाह शुरू किया, जिससे भारत की सर्वसाधारण जनता ने बहुत शान्ति और सान्त्वना प्राप्त की।

तुलसी, सूर आदि कवियों का इस युग के धार्मिक इतिहास में बहुत अधिक महत्त्व है, क्योंकि उन्होंने अपने धार्मिक विचारों के प्रतिपादन के लिये ही काव्य के साधन का उपयोग किया था। उनके धार्मिक विचारों पर हम अगले प्रकरण में प्रकाश डालेंगे। पर तुलसीदास जैसे व्यक्ति केवल सन्त-महात्मा व धर्म-सुधारक ही नहीं थे, वे महाकवि भी थे। उनके काव्य हिन्दी-साहित्य में बहुत ऊंचा स्थान रखते हैं। यहां हम उनके काव्य व कविरूप पर ही विचार करेंगे।

महाकवि तुलसीदास सोलहवी सदी के उत्तरार्ध में हुए थे, और अकबर के समकालीन थे। स्वामी रामानन्द की शिष्य-परम्परा द्वारा रामभक्ति की जो परम्परा निरन्तर पुष्टि पा रही थी, तुलसीदास से उसे बहुत बल मिला। यद्यपि तुलसी का अकबर के साथ कोई परिचय नहीं था, और उन जैसे सन्त को बादशाह के सम्पर्क व सरक्षण की कोई आवश्यकता भी नही थी, तथापि इस युग के अनेक प्रतिष्ठित व समर्थ पुरुषों का ध्यान उनकी ओर आकृष्ट हुआ, जिनमें अब्दुर-रहीम खानखाना और राजा मानसिह के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। अब्दुररहीम खानखाना या 'रहीम' से इनकी समय-समय दोहों में लिखा-पढ़ी होती रहती थी, और वे इनके प्रति बहुत आदर का भाव रखते थे। तुलसीदास हिन्दी के सबसे बड़े महाकवि हुए है, और उनके रामचरितमानस, विनय-पत्रिका आदि काव्य हिन्दी-साहित्य के अमोल रत्न है। तुलसीरचित काव्य-ग्रन्थों में बारह प्रसिद्ध हैं, जिनमें पांच बड़े और सात छोटे हैं। रामचरितमानस को केवल काव्य के रूप में ही नहीं पढ़ा जाता, सर्वसाधारण जनता की दृष्टि में वह एक धर्म-ग्रन्थ की स्थिति रखता है। इसीलिये अनेक पाश्चात्य विद्वानों ने उसे हिन्दू-धर्म की 'बाइबल' कहा है। इसमें सन्देह नहीं, कि राजाओं के राजमहलों और गरीबों के झोपड़ों में रामचरितमानस का समानरूप से आदर है, और इस एक ग्रन्थ ने उत्तरी भारत की जनता को जितना अधिक प्रभावित किया है, उतना सम्भवतः अन्य किसी पुस्तक ने नहीं किया।

तुलसी के समान ही राम की भक्ति का प्रतिपादन करनेवाले अनेक अन्य सन्त कवि इस युग में हुए, जिनमें नाभादास, हृदयराम और प्राणचन्द चौहान के नाम उल्लेखनीय हैं। पर अफगान-युग के वैष्णव आचार्यों ने विष्णु की भक्ति केवल 'राम' के रूप में ही शुरू नहीं की थी। पुरुषोत्तम कृष्ण को विष्णु का

षित किया था। रुक्मिणी-मंगल, छप्पयनीति, कवित्त-संग्रह आदि अनेक पुस्तकों की इन्होंने रचना की। कहते हैं, कि इनकी ही एक कविता सुनकर अकबर के हृदय में गौओं के प्रति करुणा उत्पन्न हुई थी, और उन्होंने गोवध बंद करने की आज्ञा जारी की थी। गंग अकबर के दरबारी कवि थे, और रहीम उन्हें बहुत मानते थे। कहते हैं, कि अब्दुररहीम खानखाना ने उनके एक छप्पय से प्रसन्न होकर उन्हे छत्तीस लाख रुपये दे डाले थे। अकबर के दीवान टोडरमल हिन्दी में कविता भी करते थे, और वे संस्कृत के भी विद्वान् थे। अकबर के परम सखा बीरवल द्वारा विरचित अनेक हिन्दी-कवितायें इस समय भी मिलती है। मुगल-साम्राज्य के वास्तविक संस्थापक अकबर के समय में हिन्दी-भाषा का इतना अधिक प्रचार था, कि बहुत-से मुसलमान भी हिन्दी में कविता करने लग गये थे। हिदी के प्रसिद्ध कवि अब्दुररहीम खानखाना का उल्लेख ऊपर हो चुका है। अकबर को स्वयं भी हिन्दी-कविता का शौक था, और अनेक ऐसे कवित्त अब तक भी विद्यमान है, जिन्हें 'साहि अकब्बर' का बनाया हुआ माना जाता है। हो सकता है, कि इन्हें बादशाह के नाम से उसके किसी दरबारी कवि ने बना दिया हो। पर इसमें सन्देह नहीं, कि अकबर हिन्दी का संरक्षक था, और उसके आश्रय में अनेक हिन्दी कवि अपना निर्वाह करते थे। इस काल में अन्य भी अनेक मुसलमान कवियों ने हिन्दी में कविता की। आलम अकबर के समकालीन थे, जिन्होंने 'माधवानल काम कंदला' नाम की प्रेम-कहानी दोहा-चौपाइयों में लिखी थी। इसी प्रकार जमाल, कादिर और मुबारक आदि अनेक मुसलमानों ने इस काल में हिन्दी में काव्य-रचना की। ये सब कवि भक्ति-मार्ग के अनुयायी नहीं थे, और न इनकी कविता का उद्देश्य धार्मिक विचारों का प्रतिपादन ही था। ये कवि रस की अभिव्यक्ति के लिये काव्य की रचना करते थे, और इसमें सन्देह नहीं कि कला की दृष्टि से इनकी रचनाओं में बहुत सौन्दर्य है।

काव्य के विकास के साथ-साथ हिन्दी में अनेक ऐसे लेखक व कवि भी उत्पन्न होने शुरू हुए, जिन्होंने कि संस्कृत के अनुकरण में हिन्दी में भी अलंकार-ग्रन्थों की रचना की। इस प्रकार के साहित्यिकों में केशवदास सर्वप्रधान है। ये भी अकबर के समकालीन थे, और ओरछा-नरेश महाराज रामसिह के भाई इन्द्रजीतसिह की राजसभा में इन्हे बहुत मान प्राप्त था। ओरछा का राज्य इस समय मुगलों के अधीन था, और उसके राजा की स्थिति मुगलों के सामन्त के सदृश थी। केशवदास संस्कृत के पण्डित थे, और हिन्दी में उन्होंने संस्कृत की शास्त्रीय साहित्यिक पद्धति का अनुसरण किया। उन्होंने अलंकारों पर 'कविप्रिया' और

रस पर 'रसिक-प्रिया' लिखी। इनके अतिरिक्त कतिपय काव्य-ग्रन्थ भी उन्होंने लिखे, जिनमें अलंकार आदि की प्रचुरता है। सेनापति नाम के एक अन्य कवि भी सतरहवी सदी मे हुए, जिनका हिन्दी-काव्य-साहित्य में अच्छा महत्त्वपूर्ण स्थान है। मुगल-युग के बहुत-से हिन्दू व मुसलमान अमीर-उमरा भी बादशाहों के समान ही साहित्य-प्रेमी थे, और कवियों का सरक्षण व प्रोत्साहन करना गौरव की बात समझते थे। विशेषतया, राजपूत राजाओं ने हिन्दी कवियों व साहित्यिकों को आश्रय देने मे बहुत उत्साह दिखाया। केशवदास के समान इस युग के अन्य अनेक कवियों ने भी राजपूत राजाओं के दरबार में आश्रय पाकर निश्चिन्तता के साथ साहित्य-सृजन का कार्य किया।

अकबर के काल के बाद हिन्दी के जो कवि हुए, उनमें बिहारीलाल, महाराज जसवन्तसिह, मतिराम, भूषण और घन आनन्द के नाम उल्लेखनीय है। ये सब कवि सतरहवीं सदी मे या अठारहवी सदी के प्रारम्भिक भाग में हुए थे। अकबर के समय मे हिन्दी-कवियो ने जो अपूर्व प्रतिभा प्रदर्शित की थी, वह बाद के कवियों में नही पाई जाती। पर इसमे सन्देह नही, कि सम्पूर्ण मुगल-युग मे हिन्दी साहित्य निरन्तर उन्नति करता रहा। औरङ्गजेब जैसे धर्मान्ध मुसलिम बादशाह से यह आशा नहीं की जा सकती थी, कि अकबर के समान वह भी हिन्दी कवियों का आदर करता। पर उसकी हिन्दू-विरोधी नीति के कारण भारत में जो विद्रोह की भावना प्रादुर्भूत हो गई थी, वह भूषण जैसे कवियो के काव्य में प्रगट हुई, और शिवाजी जैसे वीर द्वारा उन्हे प्रोत्साहन व सरक्षण प्राप्त हुआ।

दक्षिणापथ में भी बहुत-से कवि इस युग में हुए, जिन्होंने हिन्दी में काव्य रचना की। ये कवि प्रायः सब मुसलमान थे। दक्षिण की भाषा हिन्दी नही थी, पर वहां मुसलिम शासन स्थापित हो चुका था। शासक व सैनिक के रूप में जो बहुत-से मुसलमान व हिन्दू इस युग मे उत्तरी भारत से दक्षिण में गये, उनकी भाषा हिन्दी थी। इसी कारण उन्होंने पर्शियन शब्दों से मिश्रित हिन्दी भाषा में कविता की। इन मुसलिम कवियों की भाषा को उर्दू और हिन्दी दोनों ही समझा जा सकता है, पर उसमें आजकल की उर्दू के समान अरबी व पर्शियन शब्दों की भरमार नहीं है।

बंगाली साहित्य—महाप्रभु चैतन्य द्वारा बंगाल में भक्ति की जिस लहर का प्रारम्भ हुआ था, उसका उल्लेख हम पिछले एक अध्याय में कर चुके हैं। वैष्णव धर्म से प्रभावित होकर मुगल-युग में बंगाल में अनेक ऐसे साहित्यिक उत्पन्न हुए, जिन्होंने नवीन साहित्य का सृजन किया। कृष्णदास कविराज (जन्म

काल १५१३ ई०) ने इसी युग में चैतन्यचरितामृत नाम से महाप्रभु का जीवन-चरित्र लिखा। इस काल के वैष्णव साहित्य में वृन्दावनदास (जन्मकाल १५०७ ई०) का चैतन्य-भागवत, जयानन्द (जन्मकाल १५१३ ई०) का चैतन्य-मंगल, त्रिलोचनदास (जन्म १५२३ ई०) का चैतन्य-मंगल और नरहरि चक्रवर्ती का भक्ति-रत्नाकर विशेष महत्त्व रखते हैं। इसी काल मे अनेक प्राचीन संस्कृत ग्रन्थों का बगाली भाषा में अनुवाद किया गया। इन अनुवाद-ग्रन्थों में काशीराम दास की महाभारत और मुकुन्दराम चक्रवर्ती की कवि-कंकण-चण्डी उल्लेखनीय है। मुकुन्दराम चक्रवर्ती द्वारा विरचित इस पुस्तक का बंगाल में वही स्थान है, जो कि उत्तरी भारत में तुलसीकृत रामचरितमानस का है।

(२) धर्म

अफगान-युग में हिन्दू-धर्म मे नवजागृति की जो लहर शुरू हुई थी, मुगल-काल में उसे और अधिक बल मिला। स्वामी रामानन्द द्वारा रामभक्ति की जो परम्परा प्रारम्भ की गई थी, तुलसीदास ने उसे जनसाधारण तक पहुचा दिया। भारतीय इतिहास मे तुलसी का महत्त्व एक महाकवि के रूप में उतना नहीं है, जितना कि एक नवीन धार्मिक लहर को जनसाधारण तक पहुंचानेवाले धर्म-प्रचारक व सुधारक के रूप में है। आज उत्तरी भारत की बहुसंख्यक जनता सस्कृत भाषा से अनभिज्ञ होने के कारण वेद-शास्त्रों के मर्म से परिचित होने के लिये वेद, ब्राह्मणग्रन्थ व उपनिषद् आदि का अध्ययन करने मे असमर्थ है। पर इसके कारण उसे भारतीय धर्म की प्राचीन विचारसरणी से अपरिचित रहने की आवश्यकता नही है। राम के चरित्र को निमित्त बनाकर तुलसीदास ने 'रामचरितमानस' में उस सब ज्ञान को सरल भाषा मे लिख दिया है, जो वेद-शास्त्र में विद्यमान है। उपनिषदों का अध्यात्मवाद, दर्शनों का तत्त्व-चिन्तन और पुराणों की गाथायें—सब रामचरितमानस में उपलब्ध है, और वे भी ऐसी सरल भाषा में कि सर्वथा निरक्षर व्यक्ति भी उन्हें सुगमता के साथ समझ सकता है। हिन्दू-धर्म, सभ्यता, संस्कृति व विचारसरणी मे जो कुछ भी उत्कृष्ट तत्त्व हैं, तुलसी ने रामचरित मानस में उन सबका अत्यन्त सुन्दर रूप में समावेश कर दिया है। मध्यकालीन यूरोप में क्रिश्चियन लोग बाइबल का अध्ययन लैटिन भाषा में करते थे। लैटिन सर्वसाधारण लोगों की भाषा नहीं थी। इसलिये केवल सुशिक्षित पादरी ही अपने धर्मग्रन्थ के उपदेशों को जान सकने का अवसर प्राप्त करते थे। मध्यकाल के अन्त में जब प्रोटेस्टेन्ट आन्दोलन शुरू हुआ, तो

उसके नेताओं ने बाइबल का लोक-भाषाओं में अनुवाद किया, ताकि लेटिन से अपरिचित सर्वसाधारण लोग अपने धर्म के मान्य ग्रन्थ का अनुशीलन करने में समर्थ हों। तुलसीदासजी ने यही कार्य हिन्दू-धर्मशास्त्रों के सम्बन्ध में किया। उन्होंने वेदशास्त्रों का अनुवाद तो नहीं किया, पर उस सबके तत्त्व व सार को स्वतन्त्र रूप से सरल कविता में इस ढंग से अभिव्यक्त किया, कि सर्वसाधारण जनता के लिये अपने धर्म के सिद्धान्तों व आख्यानों को जान सकना बिलकुल सुगम हो गया। धार्मिक क्षेत्र में तुलसी का यह कार्य बहुत महत्त्वपूर्ण था। पर उनका कार्य केवल यहीं तक सीमित नहीं था। उन्होंने विष्णु के अवतार भगवान् राम को एक ऐसे रूप में जनता के सम्मुख रखा, जो धनुष-बाण हाथ में लेकर राक्षसो का संहार करने में तत्पर था। बांसुरी बजाकर भक्तों के मन को मोह लेनेवाले कृष्ण का रूप उन्हे आकृष्ट नही करता था। उनका मस्तक उस भगवान् के सम्मुख झुकता था, जो हाथ में धनुष बाण धारण करता है। इस युग की यही सबसे बड़ी आवश्यकता थी। इसमें सन्देह नहीं, कि तुलसीदास के प्रयत्न से जहां भारत में रामभक्ति की लहर लोकप्रिय हुई, वहां जनता में वीरता और आशा का भी संचार हुआ। जो हिन्दू जाति अफगान-युग में तूर्क व अफगान विजेताओं से निरन्तर आक्रान्त होती रही थी, निरन्तर पराजयों के कारण जिसमें हीन भावना उत्पन्न हो गई थी, वह अब धनुष-बाण की सहायता से राक्षसों के हाथ में पड़ी हुई सीता के उद्धार करनेवाले राम को अपना आदर्श मानकर नये जीवन और स्फूर्ति से परिपूर्ण हो गई, और उसने मुगल-साम्राज्य में वह स्थान प्राप्त कर लिया, जो उसके लिये उपयुक्त था। मुगल-युग में हिन्दू लोग पददलित व हीन दशा में नही रह गये थे। वे मुसलमानों के समकक्ष होकर विविध सूबों का शासन करते थे, मुसलिम सरदारों के विरुद्ध युद्ध करते थे, और साम्राज्य में अत्यन्त उच्च स्थान प्राप्त किये हुए थे।

सोलहवीं सदी के प्रारम्भिक भाग में रामानुजाचार्य की शिष्य-परम्परा के अन्यतम आचार्य श्रीवल्लभाचार्य ने वृन्दावन को अपना केन्द्र बनाकर कृष्ण के पुरुषोत्तम रूप की भक्ति की जो लहर चलाई थी, उसका उल्लेख हम पहले कर चुके हैं। वल्लभाचार्य के अनुसार श्रीकृष्ण ही परब्रह्म है, और सब गुणों से सम्पन्न होने के कारण वे पुरुषोत्तम कहाते हैं। आनन्द की पूर्ण अभिव्यक्ति कृष्ण के इसी पुरुषोत्तम रूप में होती है, और इस रूप में जो लीलायें वे करते हैं, वे भी नित्य हैं। भगवान् कृष्ण की नित्य लीला में अपने को आत्मसात् कर देना ही मनुष्य की सर्वोत्कृष्ट गति है। वल्लभाचार्य ने अपने शिष्य पूरनमल खत्री द्वारा गोवर्धन

पर्वत (वृन्दावन में) पर एक विशाल मन्दिर का निर्माण कराया, जो कृष्ण की भक्ति का प्रधान केन्द्र बन गया। वल्लभाचार्य के बाद वृन्दावन व अन्यत्र अनेक ऐसे कृष्ण-भक्त उत्पन्न हुए, जिन्होंने कृष्ण की भक्ति को जन-साधारण में प्रचारित करने के लिये बहुत-से सुन्दर पदों की रचना की। इनमें 'अष्टछाप' के कवि सर्वप्रधान हैं। वल्लभाचार्य के बाद उनके पुत्र विट्ठलनाथजी उनकी गद्दी के स्वामी बने थे। उन्होंने कृष्ण के भक्त आठ सर्वोत्तम कवियों को चुनकर 'अष्ट छाप' की स्थापना की। ये आठ कवि निम्नलिखित थे—सूरदास, कुम्भनदास परमानन्ददास, कृष्णदास, छीतस्वामी, गोविन्द स्वामी, चतुर्भुजदास और नन्द दास। इनमें सूरदास का स्थान सर्वोच्च है, और उन्होंने कृष्ण की भक्ति का जनता में प्रसार करने के लिये अपने गीतों द्वारा जो अनुपम कार्य किया, वह वस्तुत अद्वितीय है। ये सब कवि अकबर के समकालीन थे, और इनके भक्ति-गीतों से न केवल हिन्दू अपितु मुसलमान भी बहुत अधिक प्रभावित हुए थे। यही कारण है, कि सम्पूर्ण मुगल-काल में बहुत-से ऐसे कवि होते रहे, जो अपने मधुर गीत द्वारा जनता में कृष्ण-भक्ति की भावना का संचार करते रहे।

अफगान-युग में हिन्दू-धर्म में नव जागृति की जो लहर प्रारम्भ हुई थी, उसमें गुरु नानक का स्थान बहुत महत्त्व का था। नानक की दृष्टि में हिन्दू और मुसल-मान एक समान थे, और उनकी शिक्षा को सब लोग समानरूप से ग्रहण कर सकते थे। नानक के अनुयायी सिक्ख (शिष्य) कहाते थे। उनकी शिष्य-परम्परा में दस गुरु हुए, जिनमें अन्तिम गुरु गोविन्दसिंह थे। शुरू के सिक्ख गुरुओं का रूप प्रायः उसी ढंग का था, जैसा कि रामानुजाचार्य व रामानन्द आदि की शिष्य परम्परा के आचार्यों का था। पर धीरे-धीरे सिक्ख-पन्थ में परिवर्तन आना शुरू हुआ, और वह केवल एक धार्मिक सम्प्रदाय ही न रहकर राजनीतिक शक्ति भी बन गया। जहांगीर के समय में सिक्खों के गुरु अर्जुनदेव थे। जब राजकुमार खुसरो (जहांगीर का ज्येष्ठ पुत्र) अपने पिता के विरुद्ध विद्रोह कर लाहौर की तरफ जा रहा था, तो गुरु अर्जुनदेव ने उसे आश्रय प्रदान किया इस बात पर जहांगीर बहुत नाराज हुआ, और जब खुसरो के सहायकों को भयंकर दण्ड दिये गये, तो अर्जुनदेव भी मुगल बादशाह के कोप के शिकार बने। उनपर जुर्माना किया गया, और जब उन्होंने जुर्माना देने से इन्कार किया, तो उन्हें मृत्यु दण्ड दिया गया। गुरु अर्जुनदेव समझते थे, कि उनके पास जो कुछ भी सम्पत्ति है, वह पन्थ व ईश्वर की है। उसे वे जुर्माना अदा करने के लिये प्रयुक्त करने का कोई अधिकार नहीं रखते। इस घटना ने सिक्ख-धर्म के इतिहास में भारी

परिवर्तन किया, क्योंकि सिक्ख लोग अपने गुरु की हत्या को सहन नहीं कर सके। उन्होंने अपने को संगठित करना शुरू किया, और इस प्रकार वे धार्मिक सम्प्रदाय के साथ-साथ एक राजनीतिक शक्ति भी बन गये।

सिक्खों के नवें गुरु तेगवहादुर थे, जो औरङ्गजेब के समकालीन थे। औरङ्गजेब किस प्रकार हिन्दू-विरोधी नीति का आश्रय लेकर हिन्दुओं पर जजिया लगाने और उनके मन्दिरों को गिरवाने के लिये प्रयत्नशील था, इसका उल्लेख हम पिछले एक अध्याय में कर चुके हैं। गुरु तेगबहादुर ने औरङ्गजेब की इस नीति का विरोध किया। जब बादशाह को यह बात मालूम हुई, तो उसे बहुत क्रोध आया। गुरु तेगबहादुर को दिल्ली बुलाया गया, और उसपर यह अभियोग लगाया गया, कि उसने बादशाह के विरुद्ध बगावत फैलाई है। तेगबहादुर के सम्मुख दो विकल्प पेश किये गये, या तो वे इस्लाम को स्वीकार कर लें अन्यथा उन्हें प्राणदण्ड दिया जायगा। तेगवहादुर ने दूसरा विकल्प चुना। बड़ी क्रूरता के साथ दिल्ली में उनका वध किया गया। गुरु के कत्ल का हाल जानकर सिक्खों में सनसनी फैल गई। वे अपने गुरु की हत्या का बदला लेने के लिये उठ खड़े हुए। एक छोटे-से धार्मिक सम्प्रदाय के लिये यह सुगम नहीं था, कि वह शक्तिशाली मुगल बादशाह का सामना कर सकता। पर इस समय सिक्खों में एक महापुरुष उत्पन्न हुआ, जिसने उन्हें भलीभांति संगठित कर एक प्रबल शक्ति के रूप में परिणत कर दिया। यह महापुरुष गुरु गोविन्दसिंह था, जो सिक्खों का दसवां व अन्तिम गुरु था। गोविन्दसिंह ने सिक्खों को एक प्रबल सैन्य शक्ति बना दिया। वह कहा करता था—'चिड़ियों से मैं बाज लड़ाऊँ, तो गुरु गोविन्दसिंह कहाऊँ। सचमुच, उसने पंजाब की चिड़ियों को बाज के साथ लड़ने के योग्य बना दिया। उसने प्रत्येक सिक्ख के लिये पांच कक्कों का धारण करना आवश्यक कर दिया। पांच कक्के ये थे—कंघा, कच्छ, कड़ा, केश और कृपाण। इनका उद्देश्य यह था, कि सिक्ख सिपाहियों की तरह रहें, और सैनिक कार्य को गौरव की बात समझें।

गुरु गोविन्दसिंह राजाओं के समान रहते थे। पर मुगल-साम्राज्य के सम्मुख उनकी शक्ति कितनी कम है, इसका भी उन्हें ज्ञान था। इसलिये उन्होंने पंजाब के पहाड़ों को अपना केन्द्र बनाया, और समय-समय पर वहां से निकलकर मुगल-छावनियों पर आक्रमण करने शुरू किये। मुगलों ने गुरु गोविन्दसिंह व उनके 'खालसा' को कुचल डालने के लिये कोई कसर बाकी नहीं रखी। गुरु के दोनों लड़के पकड़े गये और उन्हें इस्लाम स्वीकार करने के लिये कहा गया। पर वे इसके लिये तैयार नहीं हुए। इसपर उन्हें जीते-जी दीवार में चुनवा दिया गया,

पर वे धर्म से डिगे नहीं। औरङ्गजेब की मृत्यु तक गोविन्दसिंह ने मुगलों के विरुद्ध अपने संघर्ष को जारी रखा। औरङ्गजेब की मृत्यु के बाद जब मुगल-साम्राज्य की शक्ति क्षीण होने लगी, तो सिक्खों को अपने उत्कर्ष का अपूर्व अवसर हाथ लगा। गोविन्दसिंह सिक्खों के अन्तिम गुरु थे। उन्होंने अपने बाद के लिये कोई गुरु निश्चित नहीं किया। उन्होंने यह व्यवस्था की, कि भविष्य में ग्रन्थ-साहब ही सिक्खों के गुरु का कार्य करे। ग्रन्थ-साहब में सिक्ख-गुरुओं की वाणियां संगृहीत है। गुरु गोविन्दसिंह ने धार्मिक दृष्टि से जहां ग्रन्थ-साहब को अपना उत्तराधिकारी नियत किया, वहां सिक्खों का सैनिक नेतृत्व उन्होंने बन्दा को सौंप दिया। बन्दा वैरागी सम्प्रदाय का था, तथा युद्ध-विद्या और सैन्य-संचालन में अत्यन्त निपुण था। उसने गोविन्दसिंह के लड़कों की हत्या का बदला लेने के लिये सरहिन्द पर हमला किया, और वहां के फौजदार को परास्त कर सरहिन्द पर कब्जा कर लिया। इसी नगर में गोविन्दसिंह के पुत्रों को जीते-जी दीवार में चुनवाया गया था। सरहिन्द पर कब्जा करने के बाद भी बन्दा बहादुर निरन्तर मुगलों से संघर्ष करता रहा। मुगल बादशाहों को उसके कारण अनेक संकटों का सामना करना पड़ा। अन्त में सन् १७१६ में बादशाह फर्रुखसियर उसे गिरफ्तार करने में समर्थ हुआ। बन्दा का बड़ी निर्दयता के साथ वध किया गया, और अन्य भी बहुत-से सिक्खों को कत्ल किया गया। पर इन अत्याचारों से सिक्ख दबे नहीं। उनकी शक्ति निरन्तर बढ़ती ही गई। अन्त में नादिरशाह और अहमदशाह अब्दाली के आक्रमणों के कारण जब पंजाब में मुगलों की शासन-शक्ति अस्तव्यस्त हो गई, तो सिक्खों ने पंजाब में अपने अनेक स्वतन्त्र राज्य कायम किये।

भारत के आधुनिक इतिहास में सिक्ख-पन्थ का महत्त्व बहुत अधिक है। अफगान-युग में जो अनेक सन्त व धर्म-सुधारक उत्पन्न हुए थे, उनमें अकेले गुरु नानक ही ऐसे थे, जिनकी शिष्य-परम्परा आगे चलकर एक ऐसे पन्थ के रूप में परिवर्तित हो गई, जिसमें अपूर्व जीवनी शक्ति है। रामानन्द, वल्लभाचार्य और चैतन्य की शिष्य-परम्परा ने अपने अनुयायियों को चाहे कितनी ही शान्ति प्रदान की हो, पर उसके कारण उनके सम्प्रदायों में उस ढंग के नवजीवन का संचार नहीं हुआ, जैसा कि सिक्ख-पन्थ में हुआ। जात-पांत व ऊंच-नीच के भेद का विरोध आदि बातों पर नानक और रामानन्द एक दृष्टिकोण रखते थे। पर रामानन्द व वल्लभाचार्य आदि भक्तिमार्गी आचार्यों के अनुयायी इनसे ऊपर उठने में उस अंश में सफल नहीं हुए, जैसे कि नानक के अनुयायी सिक्ख-लोग हुए। सिक्ख-पन्थ प्राचीन हिन्दू-धर्म का एक ऐसा परिष्कृत रूप है, जिसमें उन बुराइयों को कोई स्थान प्राप्त नहीं

है, जो कि इस प्राचीन धर्म में देर से विकसित हो रही थीं। पर यह बात अफगान-युग में प्रादुर्भूत हुए अन्य हिन्दू-सम्प्रदायों के सम्बन्ध में नहीं कही जा सकती।

चिरकाल तक एक देश में एक साथ निवास करने के कारण हिन्दुओं और मुसलमानों में एक-दूसरे के निकट सम्पर्क में आने की जो प्रवृत्ति अफगान-युग में प्रारम्भ हुई थी, मुगल-काल में वह बहुत अधिक जोर पकड़ गई। अकबर धर्म के मामले में बहुत सहिष्णु था, और उसकी सहिष्णुता की नीति का जहांगीर और शाहजहां ने भी अनुसरण किया था। इन मुगल बादशाहों ने हिन्दुओं के साथ वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित किये थे, और इनकी हिन्दू-रानियां विवाह के बाद भी अपने धर्म पर दृढ़ रही थीं। यह स्वाभाविक था, कि इनका असर मुगल बादशाहों पर पड़ता। अकबर की धार्मिक नीति पर जहां उसकी हिन्दू-पत्नियों का असर हुआ, वहां साथ ही शेख मुबारक और उसके पुत्र अब्दुल फजल और फैजी के विचारों का भी उस पर प्रभाव पड़ा। ये सूफी सम्प्रदाय के थे, और धार्मिक दृष्टि से बहुत उदार विचार रखते थे। इनके संसर्ग से अकबर के विचारों में परिवर्तन आना शुरू हुआ। इनके परामर्श से अकबर ने अपनी राजधानी फतहपुर सीकरी में एक इबादतखाने (पूजागृह) का निर्माण कराया। प्रति बृहस्पतिवार को यहां एक सभा होती थी, जिसमें हिन्दू, जैन, पारसी, यहूदी, ईसाई, शिया, सुन्नी आदि विविध सम्प्रदायों के विद्वान् धार्मिक विषयों पर विचार करते थे। अकबर स्वयं इस सभा मे सभापति का आसन ग्रहण करता था, और विविध धर्माचार्यों के विचारों का ध्यानपूर्वक श्रवण करता था। विविध धर्मो के विद्वानों के विचारों को सुनने के कारण अकबर के धार्मिक विश्वासों में बहुत परिवर्तन आया, और इस्लाम के प्रति उसका विश्वास शिथिल होने लगा।

जिन विविध आचार्यों के सम्पर्क में आने के कारण अकबर के धार्मिक विचारों में परिवर्तन आना शुरू हुआ था, उनमें से कतिपय के नाम उल्लेखनीय हैं। हिन्दू-धर्म का अकबर के सम्मुख प्रतिपादन करनेवाले विद्वानों में पुरुषोत्तम और देवी प्रधान थे। देवी ने ब्रह्मा विष्णु महेश कृष्ण राम महामाया आदि के वास्तविक स्वरूप का अकबर को उपदेश किया था, और वह बहुधा उससे धर्म-चर्चा किया करता था। जैन-धर्म का अकबर के सम्मुख प्रतिपादन करनेवाले आचार्य हीरविजय सूरि, विजयसेन सूरि, भानुचन्द्र उपाध्याय और जिनचन्द्र थे। १५७८ के बाद कोई न कोई जैनाचार्य सदा अकबर के दरबार में रहता था। हीरविजय के उपदेशों से प्रभावित होकर अकबर ने कुछ निश्चित तिथियों में पशुहिंसा का निषेध कर दिया था। पारसी धर्म के आचार्य दस्तूर मेहरजी राना ने अकबर को जरदुष्ट्र

के धर्म का उपदेश किया था, और उसी के प्रभाव के कारण अकबर ने सूर्य की पूजा प्रारम्भ की थी, जो पारसियों की उपास्य अग्नि का सबसे ज्वलन्त व प्रत्यक्ष रूप है। ईसाई धर्म से परिचय प्राप्त करने के लिये अकबर ने गोआ से पोर्तुगीज पादरियों को अपने दरबार में निमन्त्रित किया था। पर इस युग के ईसाई पादरी हिन्दुओं, जैनियों और पारसियों के समान सहिष्णु नही थे। उन्होंने अकबर के दरबार में आकर कुरान और पैगम्बर पर इस ढग के आक्षेप शुरू किये, कि मुसलिम लोग उनसे बहुत नाराज हो गये। सिक्ख-गुरुओं के प्रति भी अकवर की बहुत श्रद्धा थी, और वह उनकी वाणियों को बड़े आदर के साथ सुनता था।

विविध धर्मो के आचार्यो की शिक्षाओं को श्रवण कर अकबर ने इस बात की कोशिश की, कि एक ऐसे नये धर्म का विकास हो, जिसमें सव धर्मों की अच्छी-अच्छी बातों का समावेश रहे। इस नये धर्म का नाम दीने-इलाही रखा गया। अकबर स्वयं दीने-इलाही का प्रवर्तक और गुरु बना। इस धर्म का मुख्य सिद्धान्त यह था, कि ईश्वर एक है और अकबर उसका पैगम्बर है। मनुष्यों को सत्य-असत्य का निर्णय करते हुए अपनी बुद्धि का प्रयोग करना चाहिये, और किसी पर अन्ध विश्वास नहीं करना चाहिये। दीने-इलाही के अनुयायी मांसभक्षण से परहेज करते थे, और पशु-हिसा को पाप मानते थे। अकबर प्रातःकाल के समय सूर्य को नमस्कार करता था, और अग्नि को दैवी शक्ति का प्रयत्क्ष रूप समझता था। उसके बहुत-से दरबारी दीने-इलाही के अनुयायी बन गये। पर ऐसा करने का उनका प्रधान हेतु बादशाह को प्रसन्न करना था। वे इस नये धर्म के सिद्धान्तों से आकृष्ट होकर इसके अनुयायी नही बने थे। यही कारण है, कि यह धर्म देर तक नही चल सका, और अकबर के साथ इसकी भी समाप्ति हो गई। यद्यपि दीने-इलाही सम्प्रदाय ने भारत में अपना कोई स्थिर प्रभाव नही छोड़ा, पर वह इस युग की धार्मिक प्रवृत्तियों का मूर्त रूप था। सदियों से एक साथ निवास करते हुए हिन्दू और मुसलमान एक दूसरे के इतने समीप आ गये थे, कि दीने-इलाही जैसे धर्म का विकास सम्भव हो सका था। यदि जहांगीर और शाहजहा के बाद दाराशिरोह को मुगल-साम्राज्य के राजसिहासन पर आरूढ़ होने का अवसर मिलता, तो हिन्दू-धर्म और इस्लाम के सामञ्जस्य की इस प्रवृत्ति को और अधिक बल मिलता। पर दुर्भाग्य से औरङ्गजेब के बादशाह बन जाने के कारण यह प्रवृत्ति निर्बल पड़ गई, और उसकी हिन्दू-विरोधी नीति के कारण हिन्दू लोग मुगल बादशाहत के खिलाफ उठ खड़े हुए।

अफगान-युग के सत्यपीर सम्प्रदाय के समान मुगल-युग में भी अनेक ऐसे

सम्प्रदायों का प्रादुर्भाव हुआ, जिन्होंने हिन्दू और मुसलमान दोनों में एकता स्थापित करने का यत्न किया। ये सम्प्रदाय सतनामी और नारायणी थे। नारायणी सम्प्रदाय के अनुयायी हिन्दू और मुसलमान दोनों थे, और वे पूर्व की ओर मुख करके दिन में पांच बार प्रार्थना करते थे, ईश्वर के नामों में 'अल्लाह' को भी अन्तर्गत करते थे, और अपने मुर्दों को जलाने के बजाय जमीन में गाड़ा करते थे। इसी युग के एक साधक प्राणनाथ ने एक नया आन्दोलन चलाया, जिसमें जातिभेद, मूर्तिपूजा और ब्राह्मणों के प्रभुत्व का खण्डन किया जाता था। प्राणनाथ गुजरात का निवासी था, और हिन्दू व मुसलमान दोनों उसके अनुयायी थे। उससे दीक्षा लेनेवाले व्यक्ति को हिन्दू और मुसलमान दोनों के साथ बैठकर भोजन करना पड़ता था। प्राणनाथ कहता था, कि हिन्दू और मुसलमान सबका एक धर्म व एक ईमान होना चाहिये।

मुगल-युग की ये प्रवृत्तियां यदि जोर पकड़ती रहतीं, तो भारत में हिन्दू मुसलिम समस्या उत्पन्न ही न हो पाती। पर औरङ्गजेब के समय के बाद ये प्रवृत्तियां निर्बल होती गई, और हिन्दू व मुसलमानों में सामञ्जस्य की प्रक्रिया बहुत कुछ रुक गई। ब्रिटिश-युग में भारत के विविध धर्मों में जो जागरण हुआ, उसके कारण तो यह प्रक्रिया एकदम समाप्त हो गई, और हिन्दू व मुसलमान बहुत कुछ इसी प्रकार के दो वर्गों में विभक्त हो गये, जैसे कि वे अफगान-युग के प्रारम्भ में थे।

(३) कला

जिस प्रकार अफगान युग में प्रादर्भूत हुई धार्मिक जागृति और साहित्यिक उन्नति की प्रक्रिया मुगल युग में भी जारी रही, उसी प्रकार वास्तुकला के क्षेत्र में प्राचीन भारतीय कला और मुसलिम कला के सम्पर्क से विशाल व सुन्दर इमारतों के निर्माण की जो शैली अफगान-युग में प्रारम्भ हुई थी, मुगलकाल में वह निरन्तर विकास को प्राप्त करती रही। यही कारण है, कि मुगल-युग की इमारतों पर हिन्दू और मुसलिम वास्तुकलाओं के सम्मिश्रण का प्रभाव स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होता है। औरङ्गजेब को छोड़कर अन्य सब मुसलिम बादशाह वास्तुकला के प्रेमी थे, और उनके संरक्षण में अनेक सुन्दर इमारतें इस देश में निर्मित हुई। धार्मिक कट्टरता के कारण औरङ्गजेब कला का विरोधी था, और उसकी शक्ति का उपयोग निर्माण की बजाय विनाश के लिये हुआ था। उसने बहुत-से मन्दिरों को भूमिसात् तो किया, पर किसी उत्कृष्ट इमारत के

निर्माण की ओर ध्यान देने की आवश्यकता उसने कभी अनुभव नहीं की। मन्दिरों को गिरवाकर जो अनेक मसजिदें उसने बनवाई; वे वास्तुकला की दृष्टि से अधिक महत्त्व की नहीं हैं।

बाबर बहुत कम समय तक भारत में शासन कर सका था। पांच साल के लगभग के स्वल्प शासनकाल में भी उसका ध्यान वास्तुकला की ओर आकृष्ट हुआ। उसने कान्स्टेन्टिनोपल से अनेक शिल्पियों को इस उद्देश्य से भारत निमन्त्रित किया, कि वे यहां आकर नई शैली के अनुसार मसजिदों व अन्य इमारतों का निर्माण करें। उन दिनों कान्स्टेन्टिनोपल वास्तुकला का महत्त्वपूर्ण केन्द्र था, और वहां के अनेक शिल्पी अपनी विशिष्ट शैली के अनुसार भवन-निर्माण में तत्पर थे। पर भारत की किन्ही भी इमारतों पर कान्स्टेंटिनोपल की वास्तुकला का प्रभाव दृष्टिगोचर नहीं होता। अतः यह कह सकना कठिन है, कि बाबर सुदूर टर्की से वास्तु-शिल्पियों को भारत बुलाने की अपनी योजना को क्रियान्वित करने में सफल हुआ था। पर इसमें सन्देह नही, कि बाबर ने अनेक सुन्दर इमारतों का निर्माण कराया था, जिनमें इस समय केवल तीन ही विद्यमान हैं। पानीपत की काबुली बाग मसजिद, सम्भल की जामा मसजिद और आगरा के पुराने (लोदी) किले में विद्यमान मसजिद बाबर के समय की कृतियां हैं। पर इनके अतिरिक्त आगरा, धौलपुर, ग्वालियर, बियाना और सीकरी मे भी उसने अनेक इमारतें बनवाई थी, जिनका उल्लेख बाबरनामा में किया गया है। दुर्भाग्यवश ये इमारतें अब नष्ट हो चुकी हैं। हुमायूं के समय की केवल दो मसजिदें इस समय विद्यमान हैं। उनमें से एक आगरा में है, और दूसरी हिसार जिले के फतहाबाद कस्बे में। इन इमारतों पर पर्शियन वास्तुकला का प्रभाव स्पष्ट रूप से विद्यमान हैं। हुमायू के शासन के मध्य मे ही अफगान नेता शेरशाह का दिल्ली पर आधिपत्य स्थापित हो गया था। इस युग की वास्तुकला के इतिहास में शेरशाह का स्थान बहुत महत्त्व का है। दिल्ली में पुराने किले में जो मसजिद है, वह और इस किले की प्राचीर के अनेक भाग शेरशाह की ही कृति है। बिहार के शाहाबाद जिले में सहसराम नामक स्थान पर शेरशाह का मकबरा है, जो इन्डो-मुसलिम वास्तु-कला का अत्यन्त उत्कृष्ट उदाहरण है। शाहजहां द्वारा निर्मित ताजमहल और सहसराम के इस मकबरे में कई दृष्टियों से समता है।

अकबर का शासन-काल जिस प्रकार हिन्दी-साहित्य के लिये सुवर्णीय युग था, वैसे ही वास्तुकला की दृष्टि से भी यह सुवर्णीय काल था। अकबर को वास्तुकला का बहुत शौक था, और जैसा कि अबुल फजल ने लिखा है, पत्थर

और मिट्टी के इन 'परिधानों' का आयोजन करने में वह स्वयं भी बहुत दिलचस्पी लेता था। अकबर की वास्तु-कृतियां संख्या में बहुत अधिक हैं। कितने ही किलों, प्रासादों, बुर्जो, सरायों, मदरसों और जलाशयों का उसने निर्माण कराया। उसके समय की वास्तुकला में हिन्दू, जैन, पर्शियन आदि विविध कलाओं का बहुत सुन्दर सम्मिश्रण हुआ है। जिस प्रकार धर्म के मामले में अकबर समन्वय और सामञ्जस्य की नीति का समर्थक था, और हिन्दू-धर्म के अनेक तत्त्व उसने अपना लिये थे, वैसे ही वास्तुकला के क्षेत्र में भी उसने समन्वय की नीति को अपनाया, और प्राचीन भारतीय कला का उदारतापूर्वक उपयोग किया। अकबर के समय की सबसे पुरानी इमारत हुमायूं का मकबरा है, जो दिल्ली में अब तक भी विद्यमान है। यह १५६५ में बनकर तैयार हुआ था। कला की दृष्टि से यह भारतीयता के उतने समीप नहीं है, जितना कि पर्शियन कला से प्रभावित है। पर इसमें रंगीन टाइलों का प्रयोग नहीं हुआ है, जो कि पर्शियन शैली की महत्त्वपूर्ण विशेषता है। उसके बजाय इसमें भारतीय शैली के अनुसार संगमरमर पत्थर का उदारतापूर्वक उपयोग किया गया है। रणथम्बोर की विजय से वापस लौटते हुए अकबर ने १५६९ में फतहपुर सीकरी की नींव डाली, जो बाद में कुछ समय तक मुगलों की राजधानी भी रहा। यह नगर अब तक भी विद्यमान है, यद्यपि मुगल-युग में इसके विशाल प्रासाद प्रायः गैरआबाद ही पड़े रहे, और अब भी वे भूतों की नगरी के सदृश प्रतीत होते हैं। फतहपुर सीकरी की इमारतों में सबसे प्रसिद्ध जामा मसजिद और बुलन्द दरवाजा है। बुलन्द दरवाजे का निर्माण अकबर ने दक्षिण की विजय के उपलक्ष्य में करवाया था, और निःसन्देह यह भारत का सबसे ऊँचा व विशाल विजयद्वार है। ऊंचाई में यह १६७ फीट है, और वास्तुकला की दृष्टि से अत्यन्त उत्कृष्ट है। फतहपुर सीकरी की अन्य इमारतों में राजा बीरबल का प्रसिद्ध सोनहरा मकान, ख्वाबगाह, दीवाने-खास और इबादत खाना विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। यद्यपि ये इमारतें बहुत अधिक विशाल नहीं है, पर सौन्दर्य और कला की दृष्टि से ये सचमुच अनुपम हैं। इन्हीं को दृष्टि में रखकर ऐतिहासिक स्मिथ ने फतहपुर सीकरी के विषय में लिखा है, कि यह नगर प्रस्तर द्वारा निर्मित एक काव्य के समान है, जो कि अन्यत्र अपना सानी नहीं रखता। अकबर की इमारतों में सबसे महत्त्वपूर्ण सिकन्दरा का मकबरा है। इसका निर्माण अकबर ने शुरू कराया था, और जहांगीर के समय में यह पूर्ण हुआ। यह बौद्ध-विहारों के नमूने पर बनाया गया है। शुरू में इसका जो नकशा तैयार किया गया था, उसके अनुसार इसका गुम्बज

संगमरमर पत्थर का और इसके अन्दर की छत सोने की होनी चाहिये थी। यदि यह कर दिया जाता, तो निःसन्देह बादशाह अकबर का यह मकबरा सौन्दर्य में अद्वितीय हो जाता। पर इसके बिना भी यह अत्यन्त सुन्दर और कलात्मक है, और अकबर जैसे महान् सम्राट् के अनुरूप है। फतहपुर सीकरी के बाद अकबर ने आगरा को अपनी राजधानी बनाया, और वहां अपने निवास के लिये लाल किले का निर्माण किया, जिसके प्रासाद व दीवाने-आम और दीवाने-खास वस्तुतः दर्शनीय है। आगरा के किले के प्रासाद को 'जहांगीरी महल' कहते हैं, जो कि हिन्दू-वास्तुकला के अनुसार बनाया गया है। फतहपुर सीकरी, आगरा और सिकन्दरा की इन इमारतों के अतिरिक्त अकबर ने इलाहाबाद और लाहौर में भी बहुत-सी इमारतें बनवाई। विलियम फिन्च ने लिखा है, कि इलाहाबाद के महल के निर्माण में चालीस साल लगे, और उसमें पांच हजार से बीस हजार तक शिल्पी व मजदूर चालीस वर्षो तक निरन्तर काम करते रहे। आगरा के किले के समान लाहौर में भी अकबर ने एक विशाल किले का निर्माण कराया था।

जहांगीर को चित्रकला का बहुत शौक था। पर उसने वास्तुकला की ओर विशेष ध्यान नही किया। यही कारण है, कि उसके समय में अधिक इमारतें नहीं बन पाई। पर उसकी मलिका नूरजहां को वास्तुकला से बहुत प्रेम था, और उसने अपने पिता इतिमादुद्दौला का जो मकबरा आगरा में बनवाया, वह सौन्दर्य और कला की दृष्टि से वस्तुतः अनुपम है। यह मकबरा संगमरमर से वनाया गया है, और इसकी शैली राजपूती है। उदयपुर में गोलमण्डल नाम का मन्दिर इसी शैली के अनुसार १६०० ई० के लगभग में बना था। इतिमादुद्दौला के मकबरे के निर्माण में इसी मन्दिर का अनुकरण किया गया है। जहांगीर का मकबरा लाहौर में रावी के पार बना हुआ है, जिसका निर्माण भी नूरजहां ने कराया था। यह मकबरा भी कला की दृष्टि से अनुपम है। यद्यपि जहांगीर ने इमारतों के निर्माण में विशेष दिलचस्पी नहीं दिखाई, पर बागों व उद्यानों का उसे बहुत शौक था। काश्मीर में डल झील के तट पर स्थित सुन्दर उद्यान व अजमेर में अनासागर के घाट उसके प्रकृति-सौन्दर्य-प्रेम के ज्वलन्त उदाहरण हैं।

मुगल बादशाहों में वास्तुकला की दृष्टि से शाहजहां का स्थान सर्वोच्च है। उस द्वारा निर्मित प्रासाद, दुर्ग, उद्यान, मसजिद आदि आगरा, दिल्ली, लाहौर, काबुल, कान्धार, काश्मीर, अजमेर, अहमदाबाद, मुखलीसपुर आदि कितने ही

स्थानों पर अब तक भी विद्यमान हैं। इन सबके निर्माण में कितना खर्च हुआ होगा, इसका अन्दाज कर सकना सुगम नही है, पर यह निश्चित है कि इनके लिये शाहजहां ने करोड़ों रुपये खर्च किये होंगे। शाहजहां की वास्तुकृतियों में सबसे महत्त्वपूर्ण आगरा का ताजमहल है, जिसे उसने अपनी प्रियतमा मुमताजमहल के चिरविश्राम के लिये बनवाया था। मुमताजमहल की मृत्यु सन् १६३० में हुई थी, और इसी समय शाहजहा ने इस विश्वविख्यात मकबरे का निर्माण शुरू करा दिया था। इसके लिये जहां बादशाह ने भारत के कुशल शिल्पियों को नियत किया था, वहा साथ ही पर्शिया, अरब, टर्की आदि से भी अनेक शिल्पियों को आमन्त्रित किया था। ताजमहल के निर्माण का कार्य प्रधानतया उस्ताद ईसा के सुपुर्द था, जिसे १००० रु० मासिक वेतन दिया जाता था। स्पेन के एक पादरी मानरीक ने १६४१ ई० में आगरा की यात्रा की थी। उसने लिखा है, कि ताज की रूपरेखा जरोनिमो बरोनियो नामक एक इटालियन शिल्पी ने तैयार की थी। इसी के आधार पर अनेक ऐतिहासिकों ने यह प्रतिपादित किया है, कि ताज की कल्पना यूरोपियन शिल्पियों के दिमाग से उत्पन्न हुई थी। स्मिथ के अनुसार ताजमहल यूरोपियन और एशियन प्रतिभा के सम्मिलित प्रयत्न का परिणाम है। पर बहुसख्यक ऐतिहासिक इस बात को स्वीकृत नही करते। उनका कथन है, कि जरोनिमो बरोनियो की मृत्यु १६४० में हो चुकी थी, और पादरी मानरीक को उससे मिलने का अवसर कभी प्राप्त ही नहीं हुआ था। अतः उसने जो सुनी-सुनाई बात अपने यात्रा-विवरण में लिखी है, उसकी प्रामाणिकता संदिग्ध है। मुसलिम लेखक ताजमहल को उस्ताद ईसा की कल्पना व प्रतिभा का परिणाम बताते हैं, और सम्भवतः यही बात ठीक भी है। पर यह असम्भव नही, कि ताजमहल के निर्माण में कतिपय यूरोपियन शिल्पियों का सहयोग भी प्राप्त रहा हो। इस युग में बहुत-से यूरोपियन यात्री, पादरी व कलाविज्ञ लोग भारत आने लगे थे, और मुगल-दरबार के साथ उनका घनिष्ठ सम्पर्क था। पर ताजमहल की कला में कोई ऐसा तत्त्व नहीं है, जिसे विदेशी व यूरोपियन समझा जा सके। सहसराम में विद्यमान शेरशाह के मकबरे की शैली ताज से बहुत-कुछ मिलती-जुलती है, और संगमरमर की जिस ढंग की जालियां ताज की अनुपम विशेषता है, वे राजपूताने के अनेक पुराने मन्दिरों में भी पाई जाती हैं। पर यह निःसंदिग्ध है, कि ताजमहल मुगल-युग की वास्तुकला की सर्वोत्कृष्ट कृति है, और सैकड़ों वर्ष बीत जाने के बाद इस बीसवीं सदी में भी वह संसार भर के कला-प्रेमियों के लिये आश्चर्य की वस्तु है।

आजकल की पुरानी दिल्ली (शाहजहानाबाद) शाहजहां की ही कृति है। वहां उसने लाल किले और जामा मसजिद का निर्माण कराया, जो सौन्दर्य की दृष्टि से अनुपम आकर्षण रखते है। लाल किले की मोती मसजिद, दीवाने-आम, दीवाने-खास आदि इमारते शाहजहां के सौन्दर्य और कला-प्रेम की परिचायक है। यद्यपि विशालता की दृष्टि से ये अकबर के समय की इमारतों का मुकाबला नही कर सकती, पर सौन्दर्य की दृष्टि से ये अनुपम है। और विविध प्रकार के अलंकारों द्वारा इन्हे इस ढंग से विभूषित कर दिया गया है, कि इन्हें प्रस्तर द्वारा निर्मित आभूषण समझा जा सकता है। शाहजहां ने अलकारमयी वास्तुकला द्वारा पृथिवी पर बहिश्त (स्वर्ग) को उतारने का स्वप्न लिया था, और इसमे उसे सफलता भी प्राप्त हुई थी। इसीलिये उसने दिल्ली के लाल किले में बने हुए दीवाने-खास पर पर्शियन भाषा का एक पद उत्कीर्ण करवाया था, जिसका अर्थ है, कि "यदि पृथिवी पर कही बहिश्त है, तो यह वहा है, केवल यहां है, अन्यत्र कहीं नही है।"

शाहजहा की मृत्यु के बाद मुगल-युग की वास्तुकला में ह्रास प्रारम्भ हो गया। औरङ्गजेब को ललित कलाओं का जरा भी शौक नही था, और इस्लाम के आदर्शों का अनुसरण कर वह सादगी मे विश्वास रखता था। इसीलिये अपने पूर्वजो के समान उसने किन्हीं विशाल व सुन्दर इमारतो के निर्माण का प्रयत्न नही किया। दिल्ली के लाल किले मे उसने अपने निजी प्रयोग के लिये सगमरमर की एक मसजिद का निर्माण करवाया था, जो अब तक भी विद्यमान है, और उसके सादे मिजाज का परिचय देती है। काशी में विश्वनाथ के मन्दिर को भूमिसात् करके उसी के भग्नावशेषों पर उसने एक मसजिद का निर्माण कराया था, जो इस मुगल बादशाह की धर्मान्धता का जीता-जागता प्रमाण है। लाहौर की बादशाही मसजिद भी औरङ्गजेब की ही कृति है।

औरङ्गजेब के बाद मुगल-साम्राज्य खण्ड-खण्ड हो गया, और उसके उत्तराधिकारी मुगल बादशाह इतने समृद्ध व वैभवपूर्ण नही थे, कि वे वास्तुकला पर ध्यान दे सकते। पर मुगल-साम्राज्य के भग्नावशेष पर जो अनेक हिन्दू व मुसलिम राज्य इस युग में कायम हुए, उनके राजाओं व नवाबों ने भवन-निर्माण की प्रक्रिया को जारी रखा। अमृतसर का सुवर्ण-मन्दिर (अकाल तख्त और गुरुद्वारा), लखनऊ के इमामबाड़े और हैदराबाद की आलीशान इमारतें इसी युग में निर्मित हुई।

(४) चित्रकला और संगीत

वास्तुकला के समान चित्रकला में भी मुगल-युग में बहुत उन्नति हुई। मुगलों की चित्रकला का उद्‌धव पर्शिया में हुआ था। पर पर्शिया के स्रोत से जो चित्रकला मुगलों द्वारा भारत में प्रविष्ट हुई, वह विशुद्ध पर्शियन नहीं थी। जब मंगोल लोगों ने पर्शिया को जीतकर उसे अपने साम्राज्य में मिला लिया, तो वे अपने साथ एक ऐसी चित्रकला को उस देश में ले गये, जो बौद्ध, बैक्ट्रियन और मंगोलियन प्रभावों के सम्मिश्रण का परिणाम थी। पर्शिया में आने पर पर्शियन तत्त्व भी इसमें सम्मिश्रित हो गया, और पर्शिया के तैमूर-वंशी शासकों के संरक्षण में इसका निरन्तर विकास होता रहा। मुगलविजेता बाबर तैमूर के वंश का था। तैमूर के सभी वंशज चित्रकला के प्रेमी थे। विशेषतया हीरात के शासक हुसैन बैकरा के संरक्षण में इस कला का असाधारण रूप से विकास हुआ था। उसके आश्रय में बिहजाद नाम का विख्यात चित्रकार रहता था, जिसकी गणना संसार के सर्वोत्कृष्ट कलावन्तों में की जाती है। बिहजाद ने चित्रकला के एक नये सम्प्रदाय का प्रारम्भ किया, जिसमें पर्शियन, चीनी, बौद्ध आदि कलाओं के सर्वोत्कृष्ट तत्त्वों का अत्यन्त सुन्दर रूप से सम्मिश्रण किया गया था। बिहजाद कला से बाबर भलीभांति परिचित था, और जब उसने भारत में अपना शासन स्थापित किया, तो इस कला का भारत में भी प्रवेश हुआ। उसके समय के अनेक ग्रन्थों की हस्तलिखित प्रतियों को इस कला के अनुसार चित्रित किये गये चित्रों द्वारा विभूषित किया गया, और ऐसी अनेक प्रतियां इस समय भी उपलब्ध होती हैं।

बाबर के समान हुमायूं भी चित्रकला का प्रेमी था। शेरशाह द्वारा परास्त होने के कारण वह भारत छोड़कर पर्शिया चले जाने के लिये विवश हुआ था। पर्शिया के शाह तहमास्प के पास रहते हुए वह अनेक चित्रकारों के सम्पर्क में आया, और उनकी कला से बहुत प्रभावित हुआ। भारत लौटने पर वह सैयद अली तबरीजी और ख्वाजा अब्दुस्समद नामक दो चित्रकारों को अपने साथ ले आया, जो कि बिहजाद द्वारा स्थापित चित्रकला-सम्प्रदाय के अनुयायी थे। इन पर्शियन चित्रकारों को उसने 'दास्ताने-अमीर हुमजा' नामक ग्रन्थ को चित्रित करने का कार्य सुपुर्द किया। इन दो चित्रकारों द्वारा चित्रित की गई यह पुस्तक अब तक भी सुरक्षित दशा में विद्यमान है। हुमायूं न केवल चित्रकारों का संरक्षक था, अपितु स्वयं भी चित्रकार था। उसने अपने पुत्र अकबर को भी इस कला की शिक्षा दी थी।

सैयद अली तबरीजी और ख्वाजा अब्दुस्समद भारत में ही स्थिर रूप से बस गये थे। हुमायूं और अकबर के राजदरबार में निवास करते हुए वे भारत के चित्रकारों के सम्पर्क में भी आये, और इस निकट सम्पर्क के कारण चित्रकला की उस शैली का विकास हुआ, जिसे 'मुगल शैली' कहा जाता है। इसमें बिहजाद की नवीन शैली और भारत की परम्परागत प्राचीन शैली का अत्यन्त सुन्दर रूप से सम्मिश्रण हुआ, और मुगल-युग में यह निरन्तर विकास को प्राप्त करती रही। अकबर के शासन-काल में इस शैली की बहुत उन्नति हुई। साहित्यिकों और कवियों के समान चित्रकारों को भी अकबर ने अपने दरबार में आश्रय दिया। हिन्दू और मुसलमान दोनों ही प्रकार के चित्रकार उसके संरक्षण में रहते हुए अपनी कला का चमत्कार प्रदर्शित करने के लिये तत्पर थे। इस युग के प्रमुख चित्रकारों में अब्दुस्समद, सैयद अली तबरीजी, फर्रुख बेग, दसवन्त, बसावन, सांवलदास, ताराचन्द और जगन्नाथ के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। अब्दुस्-समद और सैयद अली पर्शियन थे, जिन्हें हुमायूं अपने साथ भारत लाया था। उनके द्वारा भारत में बिहजाद की कला का प्रवेश हुआ था। भारतीय चित्रकारों में दसवन्त जाति से कहार था, पर चित्रण-कला की उसमें अपूर्व प्रतिभा थी। जब वह बालक ही था, अकबर का ध्यान उसकी प्रतिभा की ओर आकृष्ट हुआ, और उसकी शिक्षा के लिये अब्दुस्समद को नियत किया गया। इस पर्शियन कलाकार के तत्त्वावधान में दसवन्त की प्रतिभा का खूब विकास हुआ, और उसने इतनी उन्नति की, कि वह अपने युग के सबसे महान् कलावन्तों में गिना जाने लगा। हिन्दू-कला में बिहजाद-कला के तत्त्वों का समावेश कर उसने अपनी अनुपम प्रतिभा का परिचय दिया। अकबर के संरक्षण में जो चित्रकार इस ललित कला की उन्नति करने में तत्पर थे, उनकी संख्या सैकड़ों में थी। इनमें भी सौ चित्रकार बहुत प्रसिद्ध थे, और सतरह कलाकार तो ऐसे थे, जिन्हें अपनी कला का उस्ताद माना जाता था। यह बात ध्यान देने योग्य है, कि इन सतरह उस्तादों में तेरह हिन्दू थे। अबुल फजल ने इनके सम्बन्ध में लिखा है, कि ये हिन्दू चित्रकार इतने उच्च कोटि के हैं, कि संसार में मुश्किल से ही कोई उनकी समकक्षता कर सकता है। अकबर के युग के ये चित्रकार हस्तलिखित पुस्तकों को चित्रित करने, प्रासादों की दीवारों को विभूषित करने और वस्त्र व कागज पर चित्र बनाने में अपनी कला को अभिव्यक्त करते थे। अकबर के आदेश का पालन कर उन्होंने चंगेजनामा, जफरनामा, रज्मनामा, रामायण, नलदमयन्ती, कालियदमन आदि विविध प्रसिद्ध पुस्तकों को चित्रों

द्वारा विभूषित किया। हुमायूं द्वारा स्थापित पुस्तकालय में इस प्रकार की सैकड़ों पुस्तकें संगृहीत थीं, जिन्हें कि अकबर के आश्रय में रहनेवाले चित्रकारों ने विविध प्रकार के सुन्दर व कलात्मक चित्रों से सुशोभित किया था। जब अकबर ने फतहपुर सीकरी और आगरा को अपनी राजधानी बनाया, तो ये चित्रकार भी उसके साथ-साथ वहां गये, और वहां भी उन्होंने अपने कार्य को जारी रखा। इसमें सन्देह नहीं, कि अकबर को चित्रकला से अत्यधिक प्रेम था। उसका विचार था कि चित्रकार अपनी कला द्वारा ईश्वर की शक्ति को अभिव्यक्त करता है। वह अपनी कला द्वारा विविध रंगों से जिस जीवित-जागृत जगत् की सृष्टि करता है, उसमें भगवान् की शक्ति की ही अभिव्यक्ति होती है। अकबर के समय के अनेक मुसलिम धर्माचार्य कला के विरोधी थे, पर चित्रकारों की कला का चमत्कार देख कर उनकी आंखें खुल गई थीं।

अकबर के समान जहांगीर भी चित्रकला का प्रेमी था। उसके संरक्षण में जिन चित्रकारों ने बहुत प्रसिद्धि प्राप्त की, उनमें आगा रजा, अबुल हसन, मुहम्मद नादिर, मुहम्मद मुराद, उस्ताद मन्सूर, विशनदास, गोवर्धन और मनोहर के नाम उल्लेखनीय हैं। जहांगीर ने न केवल अपने दरबार में चित्रकारों को आश्रय दिया, पर यदि किसी अन्य चित्रकार की कलाकृति को उसके सम्मुख लाया जाता था, तो वह उसे अच्छा ऊंचा मूल्य देकर क्रय कर लेने में गौरव अनुभव करता था। चित्रकला से उसे इतना अधिक प्रेम था, कि वह प्रत्येक चित्र का ध्यान-पूर्वक निरीक्षण करके उसके गुण-दोषों का विवेचन करता था, और यह पहचान भी रखता था, कि कोई चित्र किस शैली के अनुसार व किस चित्रकार द्वारा निर्मित है।

शाहजहां को वास्तुकला से बहुत प्रेम था, पर चित्रकला का उसे अधिक शौक नहीं था। इसी कारण उसने दरबार के आश्रय में रहनेवाले चित्रकारों की संख्या में बहुत कमी कर दी, और अनेक सुप्रसिद्ध कलाकार राजाश्रय न मिलने के कारण बेरोजगार हो गये। मुगल-दरबार से निराश होकर इन कलावन्तों ने राजपूताने के विविध राजाओं और हिमालय के पार्वत्य प्रदेशों के राजाओं का आश्रय लिया, और वहां जाकर चित्रकला की उन शैलियों का विकास किया, जिन्हें 'राजपूत-शैली', 'कांगड़ा-शैली' व 'पहाड़ी-शैली' कहते हैं। शाहजहां के समय में चित्रकला की मुगल-शैली का ह्रास शुरू हो गया, और उसके स्थान पर राजपूत-शैली आदि उन्नति करने लगीं। पर्सी ब्राउन नामक कलाविज्ञ ने ठीक ही लिखा है, कि मुगल चित्रकला की आत्मा जहांगीर के साथ ही मृतप्राय

हो गई थी। शाहजहां को वास्तुकला, भवन-निर्माण और मणिमाणिक्य से बहुत अधिक प्रेम था। राजदरबार के शिष्टाचार को वह बहुत महत्त्व देता था, इसलिये कलावन्तों को उसके सम्पर्क में आने का विशेष अवसर नहीं मिलता था। मुगल-युग के चित्रकारों का प्रिय विषय राजदरबार का ऐश्वर्य ही था। इसी कारण वे अमीर-उमराओं के ऐश्वर्य, रत्नजटित परदों व बहुमूल्य वस्त्राभूषणों को अपने चित्रों में अंकित करने पर विशेष ध्यान देते थे। वे अपने चित्रों में रंगों का इतने कलात्मक रूप में प्रयोग करते थे, कि उनके चित्रों को देखकर यह प्रतीत होने लगता था, मानो उनमें रंगों के स्थान पर मणि-माणिक्य का प्रयोग किया गया है। चित्रकला के प्रति शाहजहां की उपेक्षा का यह परिणाम हुआ, कि कलावन्त लोग ऐसे चित्रों का निर्माण करने में प्रवृत्त हुए, जो कि छोटे राजाओं और सम्पन्न जनों को आकृष्ट कर सकें। अकबर, जहांगीर और शाहजहां के समय में चित्रों का व्यवसाय प्रायः नहीं होता था। चित्रकार लोग केवल बादशाह व बड़े अमीर-उमराओं की रुचि को दृष्टि में रखकर ही चित्र बनाते थे। पर शाहजहां की उपेक्षा और औरङ्गजेब की कला-द्वेषिता के कारण चित्रकार लोग ऐसे चित्र बनाने के लिये प्रवृत्त हुए, जिन्हें सर्वसाधारण लोग भी खरीद सकें। यही कारण है, कि अठारहवी सदी में भारत में चित्रों का बाकायदा व्यवसाय शुरू हो गया, और बहुत-से चित्रकार सम्पन्न लोगों की रुचि को दृष्टि में रखकर चित्रों के निर्माण में तत्पर हुए।

संगीत-कला—वास्तुकला और चित्रकला के समान संगीत-कला की भी मुगल-युग मे बहुत उन्नति हुई। लेन पूल के अनुसार प्रत्येक मुगल शाहजादे से यह आशा की जाती थी, कि वह संगीत में भी प्रवीण हो। बाबर को संगीत का बहुत शौक था। हुमायू के दरबार में प्रति सोमवार व बुधवार को संगीतज्ञ एकत्र होते थे, और बादशाह उनके गीतों को बड़े शोक के साथ सुनता था। १५३५ ई० में जब उसने माण्डू की विजय की, तो बहुत से कैदी उसके हाथ लगे। इन कैदियों के वध की आज्ञा देते समय जब उसे मालूम हुआ, कि कैदियों में बच्चू नाम का एक गायक भी है, तो उसने उसे अपने पास बुलाया। उसके संगीत को सुनकर वह इतना प्रसन्न हुआ, कि उसने उसे अपने दरबार में स्थान दे दिया। सूरवंशी अफगान सुलतान भी संगीत के प्रेमी थे। आदिलशाह सूरी एक भगत के संगीत पर इतना मुग्ध था, कि उसने उसे दसहजारी का सर्वोच्च मनसब प्रदान किया था। अकबर के दरबार में तो कितने ही संगीतज्ञों ने आश्रय प्राप्त किया हुआ था। अबुल फजल के अनुसार उसके संरक्षण में रहनेवाले संगीता-

चार्यों की संख्या ३६ थी, जिनमें भारतीयों के अतिरिक्त पर्शियन, तूरानी और काश्मीरी संगीतज्ञ भी थे। इनमें सबसे प्रधान स्थान मियां तानसेन का था, जो ग्वालियर के निवासी थे। वे हिन्दू-कुल में उत्पन्न हुए थे, पर मुसलमानों के सम्पर्क में आने के कारण उन्होंने इस्लाम को स्वीकार कर लिया था। ग्वालियर में उनकी कबर अब तक विद्यमान है, जिसे आजकल के संगीतज्ञ भी एक तीर्थ-स्थान मानते हैं। तानसेन भारत का सबसे प्रसिद्ध गायनाचार्य हुआ है, और उसके राग व रागिनियां आज तक भी भारत में सर्वत्र प्रचलित हैं। अकबर के समय के अन्त संगीतज्ञों में मालवा के बाज बहादुर का नाम भी उल्लेखनीय है, जो हिन्दी-काव्य और संगीत का विशेषज्ञ था। जहांगीर और शाहजहां ने भी संगीतज्ञों को आश्रय दिया, और उनके समय में भी इस कला की बहुत उन्नति हुई। पर औरङ्गजेब ललित कलाओं का कट्टर शत्रु था। उसने संगीत के विरुद्ध आज्ञा जारी की थी, दिल्ली के लोगों ने जिसके विरुद्ध रोष प्रगट करने के लिये संगीत का एक जनाजा भी निकाला था। औरङ्गजेब की नीति के कारण कलावन्तों को मुगल-दरबार का आश्रय मिलना बन्द हो गया, और चित्रकारों के समान संगीतज्ञ भी राजपूत राजाओं व अन्य श्रीमन्त लोगों का आश्रय प्राप्त करने के लिये विवश हुए। मुगल-साम्राज्य की शक्ति के क्षीण होने पर जो अनेक मुसलिम व हिन्दू राज्य भारत में कायम हुए थे, उनकी राजसभाओं में संगीतज्ञों को भी आश्रय प्राप्त हुआ था।

(५) भारतीय संस्कृति को मुगल-युग की देन

मुगल युग की संस्कृति और सभ्यता के विविध अंगों पर प्रकाश डालने के बाद अब इस बात की विशेष आवश्यकता नहीं रह गई है, कि भारतीय संस्कृति को मुगलों की देन के विषय पर पृथक् रूप से विचार किया जाय। पर उपसंहार के रूप में इसका संक्षेप के साथ उल्लेख करना उपयोगी होगा।

(१) भारत में राजनीतिक एकता की स्थापना में मुगल-शासन से बहुत सहायता मिली। धार्मिक और सांस्कृतिक दृष्टि से भारत एक देश है। पर राजनीतिक क्षेत्र में केवल चन्द्रगुप्त मौर्य, अशोक और गुप्तवंशी सम्राट् ही इस देश के बड़े भाग को एक शासन की अधीनता में लाने में समर्थ हुए थे। गुप्त-साम्राज्य के पतन के बाद भारत में अकेन्द्रीभाव (डीसेन्ट्रेलिजेशन) की प्रवृत्तियां फिर बलवती हो गई थीं। ६०० ई० से १२०० ई० तक भारत बहुत-से छोटे-बड़े राज्यों में विभक्त रहा। मुगलों ने उसके बहुत बड़े भाग

पर अपना शासन स्थापित कर एक बार फिर उसमें राजनीतिक एकता की स्थापना की, और उस राष्ट्रीय एकता के लिये मैदान तैयार कर दिया, जिसका चरमोत्कर्ष ब्रिटिश युग में हुआ।

(२) राजनीतिक एकता की स्थापना के साथ-साथ मुगलों के शासन में इस देश की सांस्कृतिक एकता के विकास में भी बहुत सहायता मिली। मुगल-शासन का प्रायः सब कार्य पर्शियन भाषा में होता था। सरकार के साथ सम्बन्ध रखनेवाले हिन्दू व मुसलमान सब पर्शियन भाषा का अध्ययन करते थे। साम्राज्य के सब सूबों का शासन एक पद्धति से होता था, और सब जगह बादशाहों की आज्ञायें समान रूप से लागू होती थीं। साम्राज्य में शान्ति और व्यवस्था के स्थापित होने के कारण भारत का आन्तरिक व्यापार भी निरन्तर उन्नति कर रहा था, और विविध प्रदेशों के लोगों को व्यापार व तीर्थ-यात्रा आदि द्वारा एक-दूसरे के निकट सम्पर्क मे आने का अवसर मिलता था। राज्य के कर्मचारियों की बहुधा एक सूबे से दूसरे सूबे में बदली होती रहती थी। सैनिक लोग तो उत्तर से दक्षिण में व दक्षिण से उत्तर में प्रायः आते-जाते रहते थे। इन सब बातों का परिणाम यह हुआ, कि भारत के विविध प्रदेशों के लोगों को एक-दूसरे के निकट सम्पर्क में आने का निरन्तर अवसर मिलता रहा, और उनमें एकता की अनुभूति उत्पन्न हुई।

(३) एक स्थान से दूसरे स्थान पर भ्रमण करनेवाले सन्त-महात्माओं और पीर-फकीरों ने एकता की अनुभूति में और अधिक सहायता की। दक्षिण के वल्लभाचार्य वृन्दावन में रहकर कृष्ण-भक्ति का प्रचार करने में तत्पर हुए और पंजाब के निवासी सिक्ख-गुरु भारत के विविध प्रदेशों में अपनी वाणी को सुनाते हुए परिभ्रमण करने लगे। मुसलिम पीरों और फकीरों का भी सर्वत्र समान रूप से आदर होने लगा। धर्म, वास्तुकला, चित्रकला, संगीत आदि सब क्षेत्रों में इस युग में समन्वय और एकता की प्रवृत्ति को बल मिला।

(४) मुगल बादशाहों का पर्शिया व अन्य मुसलिम देशों से घनिष्ठ सम्पर्क था। इसी कारण बहुत-से विद्वान् व कलावन्त इस युग में विदेशों से भारत आते रहते थे, और उनके ज्ञान व कला से इस देश को बहुत लाभ पहुंचता था। भारत के सम्पर्क में आकर मुसलिम देशों को इस देश के साहित्य, ज्योतिष, गणित, चिकित्सा-शास्त्र आदि का भी परिचय प्राप्त हुआ, और धीरे-धीरे भारत का यह ज्ञान पश्चिमी एशिया के परे यूरोप तक भी पहुंच गया। विदेशी व्यापार द्वारा भी भारत का विदेशों से सान्निध्य स्थापित हुआ। स्थलमार्गों द्वारा भारत का अन्य देशों के साथ कितना व्यापार होता था, इसका अनुमान केवल इस बात से किया जा सकता

है, कि जहांगीर के शासनकाल में अकेले बोलान के दर्रे से १४,००० ऊँट प्रतिवर्ष माल से लदकर भारत से बाहर आया-जाया करते थे। विदेशी व्यापार की इस प्रचुरता के कारण भारत का विदेशों के साथ घनिष्ठ सम्पर्क स्थापित होने में बहुत मदद मिली।

(५) हिन्दी-भाषा के विकास, इस्लाम और हिन्दू-धर्म में सामीप्य, वास्तुकला, चित्रकला और संगीत के क्षेत्र में मुगल-युग में जो कार्य हुआ, उसका उल्लेख विशद रूप से किया जा चुका है। निःसन्देह, इन क्षेत्रों में मुगल-युग की देन बहुत महत्त्वपूर्ण थीं।

(६) भारत की वेश-भूषा, रहन-सहन और खानपान पर भी मुगल-युग का प्रभाव बहुत स्पष्ट है। हिन्दी, बंगला, मराठी आदि भारतीय भाषाओं में पर्शियन और अरबी भाषाओं के बहुत-से शब्द इस युग में प्रविष्ट हुए, और धीरे-धीरे वे भारतीय भाषाओं के ही अंग बन गये। पर्शियन लिपि के प्रयोग के कारण भारत में एक नई लिपि का प्रचलन हुआ, जो धीरे-धीरे उत्तरी भारत की एक प्रधान लिपि बन गई। हिन्दी को लिखने के लिये भी इस लिपि का प्रयोग शुरू हुआ, और इसके कारण हिन्दी की एक पृथक् शैली ही विकसित हो गई, जिसे 'उर्दू' कहते हैं। हिन्दुओं के विवाह जैसे पवित्र संस्कार में भी अब सेहरा और जामा का प्रयोग होने लगा, जो मुसलमानों की देन है। भारत की पोशाक मे पायजामा, शेरवानी आदि का प्रवेश हुआ, और हिन्दू लोग भी इन्हें निःसंकोच रूप से प्रयुक्त करने लग गये। मुगल बादशाहों के दरबारियों की पोशाक एक-सी होती थी, और राजपूत आदि उच्च पदाधिकारी व मनसबदार भी उसी ढंग की पोशाक को पहनते थे, जैसी कि इस युग के मुसलमानों द्वारा धारण की जाती थी। शिवाजी तक की पोशाक मुसलिम अमीर-उमराओं की पोशाक के सदृश थी। आमोद-प्रमोद के तरीकों में भी इस युग में परिवर्तन हुआ। बाज द्वारा पक्षियों का शिकार करना, बटेरें लड़ाना, ताश खेलना और इसी प्रकार की अन्य अनेक बातें इस काल में मुगलों द्वारा भारत में प्रविष्ट हुई। हिकमत व यूनानी चिकित्सा-पद्धति भी मुसलमानों द्वारा ही भारत में आई, और कितने ही हिन्दू भी इसे सीखने के लिये प्रवृत्त हुए। यूनानी चिकित्सा प्राचीन भारतीय आयुर्वेद से अनेक अंशों में भिन्न है। मुगल-युग में इसका भारत में बहुत प्रचार हुआ। वर्तमान समय की अनेक भारतीय मिठाइयां भी इसी काल में भारत में प्रविष्ट हुई। बालूशाही, कलाकन्द, गुलाबजामुन, बरफी आदि कितनी ही मिठाइयों के नाम विदेशी हैं, और सम्भवतः मुसलिम युग से पूर्व के भारतीय इनसे अपरिचित थे।

इस्लाम और हिन्दू-धर्म के संपर्क के कारण मुगल-युग में एक ऐसी संस्कृति का प्रादुर्भाव हुआ, जो न विशुद्ध रूप से हिन्दू थी, और न मुसलमान। भारत की यह नई संस्कृति हिन्दू और मुसलमान दोनों संस्कृतियों के तत्त्वों के सान्निध्य व सामञ्जस्य का परिणाम थी। वास्तुकला, धर्म, भाषा, चित्रकला, संगीत, वेशभूषा, खानपान आदि सब क्षेत्रों में हिन्दुओं और मुसलमानों का यह सम्मिश्रण दृष्टिगोचर होता है। भारत के लिये न अफगान विदेशी रहे थे, और न मुगल। इस देश में स्थिर रूप से बस जाने के कारण वे पूर्णरूप से भारतीय बन गये थे, और उनके धर्म इस्लाम ने भी इस देश में आकर एक ऐसा रूप धारण कर लिया था, जो अरब व पर्शिया के इस्लाम से बहुत भिन्न था।

सहायक ग्रन्थ

Sarkar : India through the Ages.
Mazumdar etc. : An Advanced History of India.
Smith : Akbar, the Great Moghal.
Beni Prasad : History of Jahangir.
Smith : History of Fine Art in India and Ceylon.
Havell : Indian Sculpture and Painting.
Lane Poole : Mediaeval India.
Carpenter : Theism in Medieval India.
रायकृष्णदास : भारतीय चित्रकला

इकतीसवां अध्याय

ब्रिटिश आधिपत्य की स्थापना

(१) समुद्रमार्ग द्वारा यूरोप का भारत से सम्पर्क

पन्द्रहवीं सदी तक यूरोप के लोगों को बाहरी दुनिया से बहुत कम परिचय था। उस समय समुद्र में जो जहाज चलते थे, वे चप्पुओं द्वारा खेये जाते थे। दिग्दर्शक-यंत्र के अभाव के कारण मल्लाहों के लिये यह संभव नहीं था, कि वे महासमुद्रों में दूर तक आ-जा सकें। पन्द्रहवीं सदी में इस यंत्र का यूरोप में पहले-पहल प्रवेश हुआ। कागज के समान दिग्दर्शक-यंत्र भी अरब होता हुआ चीन से यूरोप गया था। साथ ही, इस समय जहाज पहले की अपेक्षा बड़े व मजबूत बनने लगे। चप्पुओं के साथ-साथ अब पाल का भी जहाजों में प्रयोग होने लगा। पाल से चलनेवाले जहाजों के लिये यह संभव था, कि वे दिग्दर्शक-यंत्र की सहायता से अनुकूल वायु होने की दशा में महासमुद्र को पार कर सकें। यूरोप और एशिया के बीच में व्यापार बहुत प्राचीन काल से चला आता था। इन दो महाद्वीपों के बीच का व्यापारिक मार्ग लाल सागर से ईजिप्त होता हुआ भूमध्यसागर पहुंचता था। एक दूसरा मार्ग पर्शिया की खाड़ी से बगदाद होता हुआ एशिया माइनर के बन्दरगाहों तक जाता था। पहले इन व्यापारिक मार्गों पर अरबों का अधिकार था। अरब लोग सभ्य थे, और व्यापार के महत्त्व को भलीभांति समझते थे। पर पन्द्रहवीं सदी में तुर्क लोग इन प्रदेशों के स्वामी हो गये, और इस कारण एशिया व यूरोप के मध्यवर्ती व्यापारिक मार्ग रुद्ध होने लगे। सन् १४५३ में जब तुर्क विजेता मुहम्मद द्वितीय ने कान्स्टेन्टिनोपल को भी जीत लिया, तब तो यूरोप के लोगों के लिये इन पुराने मार्गों से व्यापार कर सकना अत्यन्त कठिन हो गया।

अब यूरोपियन लोगों को एशिया के साथ व्यापार करने के नये मार्ग ढूंढ़ निकालने की चिन्ता हुई। उस समय भारत आदि प्राच्य देशों के साथ यूरोप का घनिष्ठ व्यापारिक संबंध था। विशेषतया, मसाले आदि पदार्थ बहुत बड़ी

मात्रा में प्राच्य देशों से यूरोप में जाते थे। इस व्यापार को जारी रखने के लिये अब नये मार्गों की खोज प्रारम्भ हुई। इस कार्य में पोर्तुगाल और स्पेन ने विशेष तत्परता प्रदर्शित की। पोर्तुगीज लोगों ने विचार किया, कि अफ्रीका का चक्कर काटकर प्राच्य देशों तक पहुंचा जा सकता है। इसी दृष्टि से अनेक पोर्तुगीज मल्लाहों ने समुद्र-तट के साथ-साथ यात्रा प्रारम्भ की। आखिर, १४९८ में वास्को डी गामा नामक पोर्तुगीज मल्लाह अफ्रीका का चक्कर काटकर एक नवीन मार्ग से पहलेपहल भारत पहुंचने मे समर्थ हुआ, और पोर्तुगीज व्यापारियों ने पूर्वी देशों के व्यापार को हस्तगत करने का प्रयत्न प्रारम्भ किया। इस व्यापार द्वारा पोर्तुगीज लोग बहुत समृद्ध हो गये, और उनकी देखादेखी अन्य यूरोपियन राज्य भी इसी सामुद्रिक मार्ग से एशिया आने-जाने लगे। हालैंड, फ्रांस, ब्रिटेन, आदि देशों में पूर्वी व्यापार को हस्तगत करने के लिये कम्पनियां खड़ी की गई। ये कम्पनियां भारत आदि एशियन देशों के बन्दरगाहों में अपनी व्यापारी कोठियां कायम करती थीं, और अधिक से अधिक व्यापार पर अपना प्रभुत्व स्थापित करने का उद्योग करती थीं।

सोलहवी और सतरहवी सदियों मे भारत में प्रतापी मुगल बादशाहों का शासन था। अतः इस काल में यूरोपियन लोग केवल व्यापार द्वारा ही संतुष्ट रहे। पोर्तुगीज लोगों के व्यापार का प्रधान केन्द्र भारत के पश्चिमी समुद्री तट पर स्थित गोआ नगरी थी, जो मुगल बादशाहों के क्षेत्र से बाहर थी। सुदूर दक्षिण में उस समय किसी एक शक्तिशाली भारतीय राजा का शासन नही था। पोर्तुगीज लोगों ने इस स्थिति से लाभ उठाया, और केवल व्यापार से ही संतुष्ट न रहकर उन्होंने गोआ व उसके समीपवर्ती प्रदेशों पर अपना आधिपत्य भी स्थापित करना शुरू किया। गोआ पहले बीजापुर के सुलतानों के अधीन था। उनकी सत्ता की उपेक्षा करके ही पोर्तुगीजों ने उसपर अधिकार किया था। पर पोर्तुगीज लोग भारत में अपनी सत्ता का अधिक विस्तार नहीं कर सके। वे धर्मान्ध ईसाई थे, और मुसलमानों व हिन्दुओं को जबर्दस्ती ईसाई बनाने के लिये प्रयत्नशील थे। उन्होंने अनेक हिन्दू-मंदिरों को ईसाई गिरजों के रूप में परिवर्तित किया, और इस कारण जनता उनसे बहुत असन्तुष्ट हो गई। शाहजहां के समय जब दक्षिण में मुगल आधिपत्य की स्थापना का उद्योग शुरू हुआ, तो पोर्तुगीजों से भी संघर्ष हुआ। पहले मुगलों और बाद में मराठों की शक्ति के उत्कर्ष के कारण पोर्तुगीज लोग भारत में अपनी राजनीतिक आकांक्षाओं को पूरा कर सकने में असमर्थ रहे।

(२) ब्रिटिश आधिपत्य की स्थापना

पोर्तुगीजों के अनुकरण में हालैंड, फ्रांस और इंगलैंड के जिन व्यापारियों ने भारत में व्यापार के उद्देश्य से आना शुरू किया, वे भी सोलहवीं और सतरहवीं सदियों में केवल व्यापार से ही संतुष्ट रहे। पर औरंगजेब के बाद जब मुगल-साम्राज्य की शक्ति क्षीण हो गई, और भारत में अनेक छोटे-बड़े राज्य कायम हो गये, तो इन यूरोपियन व्यापारियों ने देश की राजनीतिक दुर्दशा से लाभ उठाया, और व्यापार के साथ-साथ अपनी राजसत्ता भी स्थापित करनी शुरू की। हालैंड के व्यापारियों की भारत में सूरत, चिनसुरा, कासिम बाजार, पटना, कोचीन, नेगापटम आदि स्थानों पर बहुत-सी व्यापारी कोठियां थीं। उन्होंने इस देश के राजनीतिक मामलों में विशेषरूप से हस्तक्षेप करने का प्रयत्न नहीं किया। पर इंगलैंड और फ्रांस ने भारत की राजनीतिक अवस्था से पूरा-पूरा लाभ उठाया, और इस देश की विविध राजशक्तियों के आपसी झगड़ों में हस्तक्षेप करके अपनी सत्ता स्थापित करने का उद्योग शुरू किया। इस प्रसंग में यह ध्यान में रखना चाहिये, कि भारत को अपने प्रभुत्व में लाने के लिये इंगलैंड व फ्रांस ने अपने देशों से कोई सेनायें नही भेजी। उन्होंने भारत की विजय के लिये भारतीय सेनाओं का ही प्रयोग किया। भारत की राजनीतिक दुर्दशा से लाभ उठाकर अपनी सत्ता इस देश में स्थापित की जा सकती है, यह विचार सबसे पहले फ्रांस के लोगों में उत्पन्न हुआ था। डूप्ले पहला यूरोपियन राजनीतिज्ञ था, जिसने भारत में फ्रांस के आधिपत्य को स्थापित करने का स्वप्न लिया। पर फ्रेंच लोगों को अपने प्रयत्न में सफलता नही मिली। इसका प्रधान कारण यह था, कि अठारहवीं सदी में फ्रांस में बूर्बो वंश के स्वेच्छाचारी व निरंकुश राजाओं का शासन था, और भारत में फ्रेंच लोग अपनी शक्ति के विस्तार का जो प्रयत्न कर रहे थे, उसका संचालन फ्रांस की इस निरंकुश सरकार द्वारा ही होता था। इसके विपरीत, ब्रिटेन की ईस्ट इंडिया कम्पनी ब्रिटिश सरकार के नियंत्रण से प्रायः स्वतंत्र थी। उसके लिये यह अधिक सुगम था, कि वह समय और परिस्थिति के अनुसार स्वतंत्रता के साथ कार्य कर सके। डूप्ले के प्रधान प्रतिद्वन्द्वी क्लाइव को यह आवश्यकता नहीं थी, कि वह अपने प्रत्येक कार्य के लिये सरकार की अनुमति ले। पर डूप्ले को अपने कार्यों के लिये फ्रांस की सरकार का मुंह देखना पड़ता था, और इस युग की फ्रेंच सरकार सर्वथा विकृत और दुर्दशाग्रस्त थी। भारत के विविध राजाओं, नवाबों व मुगल सूबेदारों के पारस्परिक

झगड़ों का लाभ उठाकर ब्रिटेन की ईस्ट इंडिया कम्पनी भारत के अनेक प्रदेशों पर अठारहवीं सदी के अन्त से पूर्व ही अपना शासन स्थापित करने में किस प्रकार समर्थ हो गई, इसका वृत्तान्त लिखना इस इतिहास में संभव नहीं है, और न उसकी विशेष आवश्यकता ही है। उन्नीसवीं सदी के मध्य भाग तक प्रायः सम्पूर्ण भारत में अंग्रेजों का आधिपत्य स्थापित हो गया था, और देश में जो अनेक राजा व नवाब बचे भी रह गये थे, वे भी अंग्रेजों की अधीनता स्वीकृत करने लग गये थे।

भारत में अंग्रेजी शासन की नीव क्लाइव ने डाली। बाद में वारेन हेस्टिंग्स, कार्नवालिस, वेलेज्ली, हेस्टिंग्स और डलहौजी ने अंग्रेजी सत्ता का भारत में विस्तार किया। उन्नीसवी सदी के मध्य भाग तक भारत में ब्रिटिश आधिपत्य की जो स्थापना हो गई थी, उसका प्रधान श्रेय इन्हीं प्रतापी गवर्नर-जनरलों को है। ये ईस्ट इंडिया कम्पनी की ओर से भारत का शासन करने व ब्रिटिश सत्ता का विस्तार करने के लिये नियत किये गये थे, और इस देश की राजनीतिक दुरवस्था का लाभ उठाकर इन्हें अपने कार्य में असाधारण सफलता प्राप्त हुई थी।

यद्यपि भारत में राष्ट्रीय एकता की भावना का सर्वथा अभाव था, पर यहां की जनता इन विदेशी व विधर्मी शासकों से बहुत असंतुष्ट थी। ईस्ट इंडिया कम्पनी द्वारा नियुक्त शासक अपने भारतीय शासन को ब्रिटेन की आर्थिक समृद्धि का साधनमात्र समझते थे। उनकी आर्थिक नीति का संचालन इसी उद्देश्य से होता था, कि कम्पनी की आमदनी में निरन्तर वृद्धि होती रहे। साथ ही, अंग्रेज शासक भारत की पुरानी परम्पराओं और धार्मिक विश्वासों की जरा भी परवाह नहीं करते थे। इसका परिणाम यह हुआ, कि उनके शासन के विरुद्ध भावना इस देश में निरन्तर जोर पकड़ती गई। १८५७ में यह भावना एक राज्यक्रांति के रूप में परिवर्तित हो गई। पर ५७ की यह राज्यक्रांति सफल नहीं हो सकी। अंग्रेज लोग इसे कुचलने में समर्थ हुए, और भारत में अंग्रेजी शासन की जड़ें और भी मजबूत हो गई। सन् ५७ की क्रांति के बाद भारत का शासन ब्रिटिश सरकार ने अपने हाथों में ले लिया। ईस्ट इंडिया कम्पनी को क्षतिपूर्ति के रूप में एक भारी रकम ब्रिटेन की ओर से प्रदान कर दी गई, और यह रकम भारत के राष्ट्रीय ऋण में परिवर्तित कर दी गई। १९४७ तक भारत में ब्रिटिश शासन कायम रहा। इस विशाल देश में ब्रिटिश शासन स्थापित हो जाने के कारण ब्रिटिश साम्राज्य के विस्तार व शक्ति में बहुत वृद्धि हुई।

(३) भारतीय इतिहास का आधुनिक युग

अठारहवीं सदी के उत्तरार्ध में संसार के इतिहास में आधुनिक युग का सूत्रपात हुआ था। इसका प्रारम्भ यूरोप से हुआ था, जहां पहले व्यावसायिक क्रांति हुई, और बाद में राजनीतिक क्रांति। अठारहवीं सदी के पूर्वार्ध में इंगलैड, फ्रांस, जर्मनी, आदि यूरोपियन देशों का आर्थिक जीवन प्रायः वैसा ही था, जैसा कि दो हजार साल पहले सिकन्दर व सीजर के जमाने में था। उस समय यूरोप का किसान लकड़ी के हलों से जमीन जोतता था, खुरपी से उसकी नलाई करता था, और दरांती से फसल को काटता था। कारीगर तकुए व चरखे पर सूत कातते थे, व लकड़ी की खड्डियों पर कपड़े की बुनाई करते थे। लुहार लोग पुराने युग के घन व हथौड़े से अपना काम करते थे। लकड़ी की बनी हुई गाड़ियां असबाब ढोने व यात्रा करने के काम आती थीं। घोड़े की अपेक्षा तेज चलनेवाली किसी सवारी का उस समय के यूरोपियन लोगों को परिज्ञान न था, समुद्र को पार करनेवाले जहाज चप्पुओं व पाल से चलते थे। इस समय (अठारहवीं सदी के पूर्वार्ध में) यूरोप का आर्थिक व व्यावसायिक जीवन प्रायः वैसा ही था, जैसा कि भारत चीन आदि एशियन देशों का था।

पर अठारहवीं सदी के मध्यभाग व उत्तरार्ध में इस स्थिति में परिवर्तन आना शुरू हुआ। नये-नये वैज्ञानिक आविष्कारों के कारण यूरोप के आर्थिक जीवन में परिवर्तन आने लगा। इसी को इतिहास में 'व्यावसायिक क्रांति' कहा जाता है। इस क्रांति का प्रारम्भ अचानक व एकदम नहीं हो गया। वस्तुतः यह धीरे-धीरे विकसित हुई। पर इसके कारण मनुष्य के जीवन में एक मौलिक परिवर्तन आ गया है, एक नई सभ्यता का प्रारम्भ हो गया है। व्यावसायिक क्रांति का प्रारम्भ इंगलैंड में हुआ था। वहीं से शुरू होकर वह न केवल यूरोप में, अपितु सारे संसार में व्याप्त हो गई है। जिन वैज्ञानिक आविष्कारों ने यूरोप में व्यावसायिक क्रांति का सूत्रपात किया, उन्हें तीन भागों में बांटा जा सकता है—(१) ऐसे नवीन यान्त्रिक आविष्कार, जिनसे मानव-श्रम की बचत हो। (२) जल, कोयला, भाप और बिजली यान्त्रिक-शक्ति के काम आ सकते है, इस बात का परिज्ञान। (३) रसायन-शास्त्र की नवीन प्रक्रियाओं का आविष्कार। यहां हमारे लिये यह संभव नहीं है, कि हम अठारहवीं सदी की इस व्यावसायिक क्रांति पर विशदरूप से प्रकाश डाल सकें। पर ध्यान देने

योग्य बात यह है, कि व्यावसायिक क्रांति के कारण मानव समाज के आर्थिक जीवनमें जो महान् परिवर्तन हुआ,वह आधुनिक युग की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता है।

अठारहवीं सदी के अन्तिम भाग (१७८९) में फ्रांस में राज्यक्रांति हुई। इस राज्यक्रांति से पूर्व यूरोप के प्रायः सभी देशों में स्वेच्छाचारी व निरंकुश राजाओं का शासन था, जो अपनी इच्छा को ही कानून मानते थे। इंगलैंड के स्टुअर्ट राजा और फ्रांस के बूर्बो वंश के राजा पूर्णतया स्वेच्छाचारी थे, और उनके शासन का स्वरूप प्रायः वही था, जो भारत के मुगल बादशाहों का था। यद्यपि इंगलैंड में सतरहवीं सदी के मध्य भाग में ही राज्यक्रांति के परिणामस्वरूप वैध राजसत्ता का प्रादुर्भाव हो चुका था, पर अठारहवीं सदी की ब्रिटिश पार्लिया-मेन्ट जनता का नाममात्र का ही प्रतिनिधित्व करती थी। जिसे हम लोकतंत्र-वाद कहते हैं, उसका ब्रिटेन में भी सूत्रपात वस्तुतः अठारहवीं सदी के अन्तिम भाग में व उन्नीसवी सदी के पूर्वार्ध में ही हुआ था। यूरोप के अन्य देशों में तो स्वेच्छाचारी और निरंकुश शासनों का अन्त उन्नीसवी सदी में ही हुआ।

जिस प्रकार व्यावसायिक क्रांति द्वारा यूरोप के आर्थिक जीवन में नवयुग का सूत्रपात हुआ, वैसे ही फ्रांस की राज्यक्रांति ने यूरोप के राजनीतिक जीवन में एक नये युग का प्रारम्भ किया। फ्रांस की राज्यक्रांति द्वारा जो नई प्रवृत्तियां प्रारम्भ हुई, वे लोकतंत्रवाद और राष्ट्रीयता की थीं। भाषा, धर्म, रीति-रिवाज, ऐति-हासिक परम्परा आदि की दृष्टि से जो लोग एक हों, उनका अपना पृथक् राज्य होना चाहिये, और इस राज्य में किसी एक राजा या किसी एक कुलीन श्रेणि का शासन न होकर सर्वसाधारण जनता का शासन होना चाहिए, ये विचार संसार के इतिहास में फ्रांस की राज्यक्रांति की देन है।

व्यावसायिक क्रांति और राज्यक्राति के कारण यूरोप के इतिहास में 'आधु-निक युग' का प्रारम्भ हुआ। पर विचार व वैज्ञानिक आविष्कार किसी एक देश व भूभाग तक सीमित नहीं रह सकते। गणित, ज्योतिष, चिकित्सा-शास्त्र आदि के क्षेत्र में भारत ने जो आविष्कार किये थे, वे धीरे-धीरे अरब और यूरोप में चले गये थे। चीन द्वारा आविष्कृत छापाखाना, कागज, दिग्दर्शक-यंत्र आदि को समयान्तर में अन्य सब देशों ने अपना लिया था। इसी प्रकार अठारहवी सदी में व्यावसायिक क्रांति और राज्यक्रांति के कारण जो नई प्रवृत्तियां प्रारम्भ हुई थी, वे केवल यूरोप तक ही सीमित नहीं रह सकीं। धीरे-धीरे वे अन्य देशों में भी गई, और संसार के प्रायः सब देशों में उनके कारण आधुनिक युग का सूत्रपात हुआ।

बारूद का पहलेपहल आविष्कार मंगोल लोगों ने किया था। इस आविष्कार के कारण मंगोल लोगों के हाथ में एक ऐसी शक्ति आ गई थी, जो किसी अन्य जाति व देश के पास नहीं थी। इसी कारण वे प्रशान्त महासागर से कैस्पियन सागर तक विस्तृत विशाल साम्राज्य की स्थापना में समर्थ हुए थे। अठारहवीं सदी के नये वैज्ञानिक आविष्कारों के कारण पश्चिमी यूरोप के हाथों में भी ऐसे साधन आ गये थे, जिनसे कि इंगलैंड, फ्रांस, हालैंड आदि पाश्चात्य देश एशिया व अफ्रीका के विविध प्रदेशों को अपने आधिपत्य में लाने में समर्थ हो गये थे। उन्नीसवीं सदी के मध्य भाग तक एशिया के अधिकांश प्रदेश पाश्चात्य देशों के प्रभाव व आधिपत्य में आ चुके थे। भारत में ब्रिटिश लोगों का शासन अठारहवीं सदी में ही स्थापित होना शुरू हो गया था, और १७५७ में प्लासी की लड़ाई के परिणामस्वरूप बंगाल पर अंग्रेजी प्रभुत्व कायम हो गया था। १७५७ से १८५७ तक पूरी एक सदी अंग्रेजों को भारत में अपनी सत्ता स्थापित करने के संघर्ष में लगानी पड़ी। उन्नीसवीं सदी के मध्य भाग तक भारत में अंग्रेजी राज्य की नींव पर्याप्त रूप से सुदृढ़ हो गई थी।

अंग्रेजी शासन के परिणामस्वरूप भारत के इतिहास में एक नये युग का प्रारम्भ हुआ, जिसे हमने 'आधुनिक युग' कहा है। जिस प्रकार व्यावसायिक क्रांति और राजनीतिक क्रांति के कारण यूरोप में एक ऐसे नये युग का सूत्रपात हुआ था, जिसके परिणामस्वरूप आधुनिक यूरोप मध्यकालीन यूरोप से बहुत भिन्न व बहुत अधिक उन्नत हो गया, उसी प्रकार अंग्रेजी शासन के कारण भारत में उन सब प्रवृत्तियों (व्यावसायिक क्रांति, राजनीतिक जागरण, धार्मिक सुधार आदि) का प्रादुर्भाव हुआ, जो इस देश में भी नवयुग व आधुनिकता को लाने में समर्थ हुई। यह नहीं समझना चाहिए, कि अंग्रेजी राज्य के अभाव में ये नई प्रवृत्तियां भारत में प्रादुर्भूत न होतीं। जापान कभी किसी पाश्चात्य देश के अधीन नहीं रहा। उन्नीसवी सदी के मध्य भाग में जापान की भी प्रायः वही दशा थी, जो अठारहवीं सदी में भारत की थी। पर जब जापानी लोगों ने एक बार यह अनुभव कर लिया, कि वे ज्ञान-विज्ञान आदि के क्षेत्र में पाश्चात्य लोगों से बहुत पीछे रह गये हैं, तो वे भी अपनी उन्नति के लिये तत्पर हो गये, और आधी सदी के स्वल्प काल में ही यूरोपियन लोगों के समकक्ष हो गये। यह ठीक है, कि राजनीतिक दृष्टि से अठारहवीं सदी के भारत की दशा जापान से बहुत भिन्न थी। अनेक छोटे-बड़े राज्यों की सत्ता और उनके राजाओं के निरन्तर संघर्ष के कारण इस देश के लिये

उन्नतिपथ पर आरूढ़ होना उतना सुगम नहीं था, जितना कि जापान के लिये था। पर चीन में भी किसी विदेशी राजशक्ति का प्रत्यक्ष शासन स्थापित नहीं हुआ था; वहां की राजनीतिक अवस्था प्रायः वैसी ही थी, जैसी कि ब्रिटिश शासन से पूर्व भारत की थी। फिर भी चीनी लोग आधुनिक युग के ज्ञान-विज्ञान को अपनाकर अपनी उन्नति में समर्थ हुए। ध्यान देने योग्य बात यह है, कि ज्ञान-विज्ञान व विचार किसी एक देश व जाति की सम्पत्ति होकर नहीं रह सकते। वे वायु के समान होते है, जो शीघ्र ही सर्वत्र फैल जाते है। आधुनिक युग के ज्ञान-विज्ञान का प्रादुर्भाव पश्चिमी यूरोप के देशों में हुआ था। बाद में उसे पूर्वी यूरोप के देशों ने अपनाया, और फिर वे एशिया में भी प्रसरित हो गये। इतिहास का यही क्रम है। यदि भारत पर अंग्रेजी राज्य कायम न भी होता, तो भी इस देश में उन ज्ञान-विज्ञानों का प्रवेश हो जाता, जो इंगलैंड और फ्रांस में प्रादुर्भूत हुए थे, और उनके कारण यहां नवयुग व आधुनिकता का भी प्रारम्भ हो जाता। पर हमें यह स्वीकार करना होगा, कि अंग्रेजी शासन की स्थापना के कारण पश्चिम के ज्ञान-विज्ञान व राजनीतिक प्रवृत्तियों के भारत में प्रविष्ट होने की प्रक्रिया में सहायता अवश्य मिली। आज जो भारत व्यावसायिक व राजनीतिक क्षेत्र में अच्छा महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है, उसका कारण वे प्रवृत्तियां है, जो अंग्रेजी शासन के समय में इस देश में बलवती होनी शुरू हो गई थी। अंग्रेज शासकों ने जान-बूझकर इन प्रवृत्तियों का प्रारम्भ किया हो, यह सत्य नही है। अंग्रेजों की आर्थिक नीति यह थी, कि भारत इंगलैंड की आर्थिक समृद्धि का साधनमात्र बनकर रहे। इसीलिये ईस्ट इंडिया कम्पनी ने बंगाल के वस्त्र-व्यवसाय को नष्ट करने का प्रयत्न किया, ताकि इगलैंड के कारखानों में तैयार हुआ कपड़ा इस देश में सुगमता के साथ बिक सके। बीसवीं सदी के प्रारम्भ तक अंग्रेजों का यही प्रयत्न था, कि भारत में कल-कारखानों का विकास न होने पाए, और इस देश का आर्थिक जीवन इस ढंग का बना रहे, जिससे कि इंगलैंड अपने कारखानों के लिये आवश्यक कच्चे माल को सस्ती कीमत पर भारत से प्राप्त करता रह सके। पर अंग्रेजों की इस नीति के बावजूद भी यह संभव नहीं था, कि यूरोप की व्यावसायिक क्रांति का भारत पर कोई प्रभाव न पड़ता। इसीलिये उन्नीसवीं सदी का अन्त होने से पूर्व ही यहां कल-कारखाने स्थापित होने शुरू हो गये, और बीसवीं सदी के शुरू के स्वदेशी आन्दोलन ने भारत की व्यावसायिक क्राति को बहुत सहायता पहुंचाई।

पर यह निर्विवाद है कि, भारत में नवयुग व 'आधुनिक युग' के प्रारम्भ

होने में ब्रिटिश शासन द्वारा अनेक रूपों में मदद मिली। इसे हम निम्नलिखित प्रकार से स्पष्ट कर सकते हैं--(१) ब्रिटिश युग में सम्पूर्ण भारत एक शासन की अधीनता में आ गया। औरंगजेब के बाद मुगल-साम्राज्य की शक्ति के क्षीण होने पर भारत में जो बहुत-से छोटे-बडे राज्य स्थापित हो गये थे, उन सबकी स्वतंत्र सत्ता का अन्त कर अंग्रेजों ने एक केन्द्रीय शक्तिशाली सरकार की स्थापना की। इस कारण भारत में एक सदी के लगभग समय तक इस ढंग की शांति और व्यवस्था कायम हो गई, जैसी कि शायद मोर्य-युग के बाद कभी नहीं हुई थी। (२) अंग्रेजी राज्य के समय में भारत पर कोई ऐसे विदेशी आक्रमण नहीं हुए, जो इस देश की शांति और व्यवस्था को भंग कर सकते। बीसवीं सदी के दो महायुद्धों के अवसर पर भी भारत विदेशी सेनाओं द्वारा आक्रान्त होने से बचा रहा, क्योंकि अंग्रेजों द्वारा संगठित भारतीय सेना और ब्रिटेन की सामुद्रिक शक्ति इस देश की रक्षा के लिये जागरूक थीं। (३) सम्पूर्ण भारत में एक सुव्यवस्थित व सुसंगठित सरकार स्थापित कर अंग्रेजों ने भारत में वही कार्य किया, जो लुई १४ वें जैसे शक्तिशाली राजा ने फ्रांस में, हेनरी आठवें ने इंगलैड में, फिलिप द्वितीय ने स्पेन में और पीटर ने रूस में किया था। इन राजाओं से पूर्व फ्रांस आदि यूरोपियन देशों में भी बहुत-से छोटे-छोटे राजा व सामन्तों की सत्ता थी, जो निरन्तर युद्धों में व्यस्त रहते थे। शक्तिशाली केन्द्रीय शासन के अभाव में राज्य के अन्दर शांति व व्यवस्था कायम नहीं हो पाती थी। फ्रांस में लुई चौदहवें ने विविध सामन्त राजाओं को अपना वशवर्ती बनाया, और एक सुदृढ़ व शक्तिशाली केन्द्रीय शासन की स्थापना की। भारत में अकबर सदृश शक्तिशाली मुगल बादशाहों ने भी यही प्रयत्न किया था। यदि औरंगजेब अपनी धार्मिक नीति को परिवर्तित न करता, तो शायद मुगलों द्वारा सम्पूर्ण भारत में एक सुदृढ़ व शक्तिशाली केन्द्रीय सरकार की स्थापना हो जाती, और विदेशी राजशक्तियों के लिये इस देश पर अपना आधिपत्य कायम करना संभव न होता। पर औरंगजेब की नीति के कारण अठारहवीं सदी में भारत में सर्वत्र अव्यवस्था और अराजकता उत्पन्न हो गई। इस स्थिति का अन्त कर सम्पूर्ण भारत में एक सुव्यवस्थित केन्द्रीय सरकार की स्थापना अंग्रेजों का एक ऐसा महत्त्वपूर्ण कार्य था, जिससे इस देश में नवयुग के सूत्रपात में बहुत अधिक सहायता मिली। (४) अंग्रेजी राज्य की स्थापना से भारत में अंग्रेजी भाषा का भी प्रवेश हुआ। अंग्रेजों ने अपनी भाषा को ही सरकारी कार्य के लिये प्रयुक्त किया, और विवश होकर उन सब भारतीयों को अंग्रेजी भाषा सीखनी पड़ी, जो राज्य-

कार्य में ब्रिटिश सरकार के सहयोगी बने। अंग्रेजी के प्रवेश के कारण उस सब ज्ञान-विज्ञान व विचारधारा का स्रोत भारत के लिये खुल गया, जिसका विकास इस युग में इंगलैंड व यूरोप के अन्य देशों में हो रहा था। इससे न केवल भारत की वैज्ञानिक व व्यावसायिक उन्नति में सहायता मिली, अपितु राष्ट्रीयता, लोकतंत्र-वाद, समाजवाद आदि के नये विचार भी इस देश में प्रसारित हुए। ब्रिटिश शासन और अंग्रेजी भाषा के प्रसार के कारण भारत का अन्य देशों के साथ घनिष्ठ संबन्ध स्थापित हुआ। (५) अपने शासन को भारत में भलीभांति स्थापित रखने के लिये अंग्रेज भी सैनिक शक्ति पर निर्भर करते थे। पर इस सुविशाल देश में शांति और व्यवस्था कायम रखने के लिये और विदेशी आक्रमणों से इसकी रक्षा करने के लिये केवल अंग्रेजी सेना ही पर्याप्त नहीं हो सकती थी। अंग्रेजों ने भारत की विजय भारतीय सैनिकों की सहायता से ही की थी। भारत में भृत सैनिकों को प्राप्त कर सकना उनके लिये बहुत सुगम था। इस कारण ब्रिटिश शासन की स्थापना के बाद भी अंग्रेजों ने भारतीय सैनिकों को अच्छी बड़ी संख्या में अपनी सेना में भरती किया। धीरे-धीरे भारतीयों की एक ऐसी सेना तैयार हो गई, जो शस्त्र-संचालन व युद्ध-नीति के सब आधुनिक तरीकों से अवगत थी। अंग्रेजों का प्रयत्न था, कि यह सेना देश-भक्ति और राष्ट्रीयता की भावनाओं से दूर रहे। बहुत समय तक वे अपने इस प्रयत्न में सफल भी हुए। पर भारतीय जनता में राष्ट्रीय चेतना के प्रादुर्भाव होने के साथ-साथ सेना में भी देशभक्ति की भावना उत्पन्न होने लगी, और द्वितीय महायुद्ध (१६३६-४५) तक यह स्थिति आ गई, कि अंग्रेजों के लिये भारत में अपने आधिपत्य को कायम रखने के कार्य में भारतीय सैनिकों पर निर्भर रह सकना कठिन हो गया।

ये सब बातें थीं, जिन्होंने ब्रिटिश युग में भारत में 'आधुनिकता' व नवीन युग का सूत्रपात करने में सहायता की। इसी प्रसंग में यह भी ध्यान में रखना चाहिये, कि भारत में मध्यकाल का अन्त होकर आधुनिक युग का प्रादुर्भाव पूर्णतया उस ढंग से नहीं हुआ, जैसा कि यूरोप में हुआ था। यूरोप में नवयुग की स्थापना में निम्नलिखित प्रवृत्तियों ने सहायता पहुंचाई थी—(१) विद्या का पुनः जागरण (रनैसांस)—तेरहवीं सदी से ही यूरोप में अनेक ऐसे विचारक उत्पन्न होने शुरू हो गये थे, जो ईसाई चर्च के प्रमाणवाद के विरुद्ध थे, और जो बुद्धि-स्वातन्त्र्य व वैज्ञानिक विधि से सत्य की खोज के पक्षपाती थे। रोजर बेकन (१२१०-१२६३) सदृश अनेक विचारकों ने इस बात पर जोर देना शुरू किया था, कि हमें पुरानी

लकीर का फकीर न होकर अपनी बुद्धि से काम लेना चाहिये। सत्य को जानने का यह साधन नहीं है, कि हम प्राचीन धर्मग्रंथों को कंठस्थ करें, व उनके शब्दार्थ पर बहस करते रहें। इसके लिये हमें अपने दिमाग को प्रमाणवाद से मुक्त कर वैज्ञानिक परीक्षणों के लिये तत्पर होना चाहिये। बुद्धि-स्वातन्त्र्य के इसी आन्दोलन के परिणामस्वरूप यूरोप के अनेक विचारक परीक्षणों द्वारा सत्य की खोज के लिये प्रवृत्त हुए। कोपर्निकस (१४७३–१५४३) और गेलेलियो (१५६४–१६४२) जैसे व्यक्तियों ने परीक्षण द्वारा अनेक ऐसे मन्तव्यों का खंडन किया, जो ईसाई धर्मग्रंथों पर आश्रित थे। ईसाई चर्च ने इन स्वतंत्र विचारकों को कड़े से कड़े दण्ड दिये, पर इन सब अत्याचारों के बावजूद भी यूरोप में बुद्धि-स्वातन्त्र्य और वैज्ञानिक खोज की प्रवृत्ति रुकी नहीं, और धीरे-धीरे यूरोप के लोगों ने उन वैज्ञानिक तथ्यों का पता कर लिया, जिनके कारण संसार में नवयुग का प्रारम्भ हुआ। (२) पन्द्रहवी सदी में यूरोप में धार्मिक सुधारणा (रिफर्मेशन) का आन्दोलन शुरू हुआ, जिसके कारण ईसाई चर्च का आधिपत्य बहुत-कुछ शिथिल हो गया, और ईसाई धर्म में अनेक ऐसे नये सम्प्रदाय शुरू हुए, जिनमें नवचेतना और अनुपम स्फूर्ति थी। (३) बुद्धि-स्वातन्त्र्य और वैज्ञानिक खोज की प्रवृत्ति के कारण अठारहवीं सदी में व्यावसायिक क्रांति का सूत्रपात हुआ, जिसने यूरोप के आर्थिक व सामाजिक जीवन में क्रांतिकारी परिवर्त्तन किये। (४) इंगलिश राज्यक्रांति (सतरहवीं सदी) और फ्रांस की राज्यक्रांति (अठारहवीं सदी) ने यूरोप में लोकतंत्रवाद और राष्ट्रीयता की प्रवृत्तियों को जन्म दिया, जिनके कारण सर्वसाधारण जनता को सामाजिक जीवन और राजनीति में समुचित स्थान प्राप्त करने का अवसर मिला।

भारत के इतिहास में नवयुग का सूत्रपात होने में न इतना समय लगा, और न ही ये सब प्रवृत्तियां भिन्न-भिन्न कालों में प्रगट हुई। अंग्रेजों के आधिपत्य के कारण अकस्मात् ही भारत का सम्पर्क एक ऐसे देश के साथ हो गया, जो ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में संसार का शिरोमणि था, और जो व्यावसायिक उन्नति और लोकतंत्र-शासन में अन्य देशों का अग्रणी था। इसीलिये विद्या के पुनर्जागरण और धार्मिक सुधारणा से पूर्व ही यहां यातायात के साधनों में उन्नति प्रारम्भ हो गई। १८५३ में भारत में रेलवे का प्रयोग शुरू हो गया, और नई व पक्की सड़कों के निर्माण द्वारा स्थलमार्गों में बहुत उन्नति हुई। नई-नई नहरें निकालकर जमीन की सिंचाई प्रारम्भ की गई, जो कृषि की उन्नति में सहायक

हुई। रेलवे, पोस्ट-आफिस, तार आदि के प्रयोग से भारत के आर्थिक जीवन में परिवर्त्तन आने लगा, और बाद में वस्त्र, लोहा, कोयला, जूट आदि के कारखानों द्वारा व्यावसायिक क्रांति के चिह्न भी इस देश में प्रगट होने लगे। अंग्रेजी शिक्षा के प्रवेश के कारण भारतीयों ने अनुभव किया, कि हम लोग ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में पाश्चात्य देशों की तुलना में बहुत पीछे रह गये हैं। इस अनुभव ने दो प्रवृत्तियों को जन्म दिया—कुछ विचारक यह सोचने लगे, कि पाश्चात्य देशों ने परीक्षणों द्वारा जिन तथ्यों का पता किया है, वे प्राचीन भारतीयों को ज्ञात थे। सूर्य स्थिर है, पृथिवी उसके चारों ओर घूमती है; विविध नक्षत्र, तारा, ग्रह आदि गुरुत्वाकर्षण के कारण ही अपनी-अपनी जगह पर स्थित है—ये सब वैज्ञानिक तथ्य वेद-शास्त्रों में प्रतिपादित है। अतः यूरोप के नये ज्ञान-विज्ञान को सीखना किसी नये तथ्य को अवगत करना नहीं है, अपितु विस्मृत व उपेक्षित सत्यों की ओर फिर से अपने ध्यान को आकृष्ट करना है। अन्य विचारकों ने सोचा, कि हमें अपनी सब शक्ति को पाश्चात्य ज्ञान-विज्ञान को अवगत करने में ही लगाना चाहिये, पुराने शास्त्रो को कण्ठस्थ करने व उनके अनुशीलन में ही अपने जीवन को व्यतीत कर देने से कोई विशेष लाभ नही है। दोनों प्रकार के विचारकों के चिन्तन का परिणाम एक सदृश ही हुआ। भारत में नये ज्ञान-विज्ञान को सीखने की प्रवृत्ति बल पकड़ने लगी, और प्रमाणवाद का अन्त होकर बुद्धि-स्वातन्त्र्य की ओर लोगों का ध्यान आकृष्ट हुआ। भारत के विविध धर्मों व सम्प्रदायों में सुधार की प्रवृत्ति भी इस समय मे शुरू हुई, और ब्राह्म-समाज, आर्य-समाज आदि के रूप में अनेक ऐसे नये धार्मिक आन्दोलनों का प्रादुर्भाव हुआ, जिनका उद्देश्य धर्म के क्षेत्र में सुधार करना था। इन नये धार्मिक आन्दोलनों के कारण भारत की पुरानी सामाजिक रूढ़ियों व परम्पराओं में भारी परिवर्त्तन हुआ, और पुराने सिद्धान्तों व मन्तव्यों की इस ढंग की व्याख्या प्रारम्भ हुई, जो नवयुग की विचारधारा के अनुकूल है। भारत एक राष्ट्र है, उसका अपना स्वतंत्र राज्य होना चाहिये, और इस राज्य का शासन लोकतंत्रवाद के अनुसार होना चाहिये—ये विचार भी इस युग में उत्पन्न हुए, और इनके परिणामस्वरूप ब्रिटिश शासन का अन्त कर स्वराज्य की स्थापना के लिये आन्दोलन शुरू हुआ। महात्मा गांधी जैसे नेताओं के नेतृत्व में सर्वसाधारण जनता में स्वराज्य की भावना ने इतना प्रबल रूप धारण कर लिया, कि अंग्रेजों के लिये भारत पर शासन कर सकना कठिन हो गया, और १९४७ में भारत ब्रिटिश शासन से स्वतंत्र हो गया।

आधुनिक युग की प्रवृत्तियों का प्रादुर्भाव व उनकी सफलता ही भारतीय इतिहास के ब्रिटिश युग की सबसे महत्त्वपूर्ण विशेषता है। इसीलिये हमने इस इतिहास में उन युद्धों व घटनाओं का उल्लेख नहीं किया है, जिनसे अंग्रेजों ने भारत में अपने आधिपत्य की स्थापना की थी। अगले अध्यायों में हम इस विषय पर विशदरूप से प्रकाश डालेंगे, कि भारत में किस प्रकार पुनर्जागरण शुरू हुआ, धार्मिक सुधार के कौन-से नये आन्दोलन जारी हुए, किस प्रकार व्यावसायिक क्रांति हुई, और किस प्रकार स्वराज्य व लोकतंत्रवाद के लिये संघर्ष हुआ। इन सब बातों के कारण ब्रिटिश शासन में भारत में उसी ढंग का आधुनिक युग प्रादुर्भूत हो गया है, जैसा कि पाश्चात्य देशों में हुआ था।

बत्तीसवां अध्याय

भारत का नवजागरण

(१) नवीन शिक्षा

भारतीय इतिहास के ब्रिटिश युग की एक मुख्य विशेषता यह है, कि इस काल में देश में नवजागरण का प्रारम्भ हुआ। संसार के प्रायः सभी देशों में मध्यकाल 'अन्धकार का युग' था, जिसमें मानव-समाज विविध प्रकार की रूढ़ियों में बंधा हुआ था, और मनुष्य सत्यासत्य का निर्णय करते हुए अपनी बुद्धि का प्रयोग न कर शास्त्रीय प्रमाणवाद पर निर्भर रहता था। ब्रिटिश युग से पूर्व भारत में भी यही दशा थी। इस दशा का अन्त कर नवयुग का प्रारम्भ करने में वह नवीन शिक्षा बहुत सहायक हुई, जिसका सूत्रपात ब्रिटिश शासन द्वारा ही भारत में हुआ था।

अठारहवीं सदी के मध्य भाग में जब बंगाल पर अंग्रेजों का आधिपत्य स्थापित हुआ, तो वहां शिक्षा के प्रधान केन्द्र वे मदरसे व पाठशालायें थीं, जिनका संचालन धर्मसंस्थाओं द्वारा होता था। इनमें मुख्यतया अरबी, फारसी व संस्कृत की शिक्षा दी जाती थी। गणित, इतिहास, भूगोल आदि आधुनिक विषयों के पठन-पाठन की इनमें कोई भी व्यवस्था नहीं थी। पुराने धर्मशास्त्रों व प्राचीन भाषाओं के ग्रंथों में जो कुछ ज्ञान उपलब्ध था, विद्यार्थी केवल उसे ही प्राप्त कर सकते थे। शुरू-शुरू में जब बंगाल पर अंग्रेजों का शासन स्थापित हुआ, तो उन्होंने भी नवीन शिक्षा-पद्धति पर कोई ध्यान नहीं दिया। अंग्रेज लोग समझते थे, कि भारतीयों के लिये वही शिक्षा-पद्धति उपयुक्त है, जो परम्परागत रूप से इस देश में चली आ रही है। अरबी, फारसी व संस्कृत के अध्ययन से ही इस देश के लोगों का काम चल सकता है, उन्हें नये ज्ञान-विज्ञान को सीखने की कोई आवश्यकता नहीं है। अठारहवीं सदी में इंगलैंड में भी शिक्षा का कार्य प्रधानतया ईसाई चर्च के ही हाथों में था, और आक्सफोर्ड

अरबी व फारसी की शिक्षा ही अधिक उपयुक्त है, और सरकार को उसी के लिये अपनी शक्ति का उपयोग करना चाहिये। पर मैकाले सदृश अनेक विचारक यह प्रतिपादित करते थे, कि शासन-कार्य की सुविधा के लिये यह आवश्यक है, कि कुछ भारतीय अंग्रेजी भाषा और अंग्रेजी विचारसरणी से भली-भांति परिचित हों। इस विशाल देश में शासन का कार्य चलाने के लिये बहुत-से भारतीय कर्मचारियों का सहयोग भी आवश्यक होगा, और ये तभी अपना कार्य भली-भांति कर सकेंगे, जब कि अंग्रेजी भाषा व इंगलिश संस्थाओं से ये भलीभांति परिचित होंगे। शुरू में पहला मत अधिक प्रबल रहा, और इसी कारण उन्नीसवीं सदी के प्रथम चरण तक सरकार की ओर से शिक्षा-संबंधी जो भी प्रयत्न हुए, उन सबका उद्देश्य भारत की प्राचीन भाषाओं व उनके साहित्य का अध्ययन था। पर बाद में जब ब्रिटिश शासन अधिक विस्तृत हो गया, तो आवश्यकता से विवश होकर सरकार की ओर से अनेक ऐसी शिक्षा-संस्थाएं भी स्थापित की गई, जिनमें अंग्रेजी भाषा के साथ-साथ आधुनिक ज्ञान-विज्ञान की शिक्षा की भी व्यवस्था थी। १८५७ में कलकत्ता यूनिवर्सिटी की स्थापना की गई, जो ब्रिटिश युग की प्रथम भारतीय यूनिवर्सिटी थी। १८५७ और १८८७ के बीच के तीस वर्षों में बम्बई, मद्रास, लाहौर और इलाहाबाद में चार नई यूनिवर्सिटियां कायम हुई, जिनमें इंगलैंड की विविध यूनिवर्सिटियों में दी जानेवाली शिक्षा को दृष्टि में रखकर अध्ययन-अध्यापन का प्रबन्ध किया गया। साथ ही, बहुत-से स्कूल व कालेज भी इस काल में स्थापित किये गये, जिनके द्वारा भारतीयों को नवीन शैली की शिक्षा प्राप्त करने का सुवर्णीय अवसर प्राप्त हुआ।

इस प्रसंग में यह भी ध्यान में रखना चाहिये, कि अंग्रेजों द्वारा शुरू की गई इस नवीन शिक्षा का लाभ मुख्यतया मध्य श्रेणि के लोगों ने उठाया, क्योंकि इससे उन्हें अपने जीवन की उन्नति का अवसर प्राप्त होता था। अंग्रेज शासकों को सरकार का संचालन करने के लिये ऐसे कर्मचारियों की आवश्यकता थी, जो उनकी भाषा को समझते हों, और जो छोटे राजकीय पदों को संभालकर उनके आदेशों को क्रिया में परिणत करने की सामर्थ्य रखते हों। अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त करके कोई भी नवयुवक इस समय सुगमता से सरकारी नौकरी प्राप्त कर सकता था। लोग इस नई शिक्षा का यही लाभ समझते थे, कि इसे प्राप्त कर उन्हें अपने योगक्षेम का साधन प्राप्त हो जायगा। मैकाले सदृश अंग्रेज शिक्षाविज्ञ भारतीयों को शिक्षित करने का यही प्रयोजन समझते थे। वे भारत में

शिक्षित लोगों की एक ऐसी श्रेणि उत्पन्न करने के लिये उत्सुक थे, जो रंग में तो काली हो, पर भाषा, विचार, मानसिक चिन्तन, वेश-भूषा व रहन-सहन की दृष्टि से अंग्रेजों के सदृश हो । इसमें उन्हें सफलता भी प्राप्त हुई, और शुरू-शुरू में जिन भारतीयों ने अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त की, वे अंग्रेजी बोलने, अंग्रेजों की तरह रहने और अपने विदेशी शासकों का सब प्रकार से अनुकरण करने में गौरव अनुभव करने लगे। कुलीन वर्ग के वे लोग, जो ब्रिटिश शासन की स्थापना से पूर्व राजशक्ति के प्रयोग में हाथ बटाते थे, अंग्रेजी शिक्षा को अच्छी निगाह से नहीं देखते थे। इसीलिये उन्होंने इन नई शिक्षा-संस्थाओं से लाभ उठाने का प्रयत्न नहीं किया। धार्मिक संकीर्णता व कट्टरता के कारण मुसलमानों को भी इस नई शिक्षा के प्रति कोई रुचि नहीं थी । परिणाम यह हुआ, कि भारतीय जनता के ये वर्ग अंग्रेजी शिक्षा के लाभों से वंचित रह गये।

अंग्रेज शासकों ने भारत में नई शिक्षा का सूत्रपात चाहे किसी भी उद्देश्य से किया हो, पर यह संभव नहीं था, कि अंग्रेजी साहित्य के विचारों का भारतीयों पर कोई प्रभाव न पड़ता । उन्नीसवी सदी के मध्य भाग तक इंगलैड में लोकतंत्र-वाद और जनसाधारण के अधिकार के आन्दोलन अच्छा प्रबल रूप धारण कर चुके थे। १८३२ के सुधार कानून (रिफार्म एक्ट) द्वारा इंगलैड में वोट के अधिकार को अधिक विस्तृत करने का प्रयत्न किया गया । १८३३ में इंगलैंड मे दास-प्रथा का अन्त करने के लिये कानून बनाया गया । १८३८ में इंगलैंड में चार्टिस्ट आन्दोलन ने जोर पकड़ा, और जनता लोकतंत्रवाद की स्थापना के लिये उतावली हो उठी। १७८९ और १८३० में फ्रांस को केन्द्र बनाकर राज्यक्रांति की जो लहर यूरोप मे प्रादुर्भूत हुई थी, इंगलैंड की जनता और अंग्रेजी साहित्य को उसने प्रभावित किया, और अंग्रेजी भाषा में इस प्रकार के साहित्य की रचना हुई, जो स्वतंत्रता और लोकतंत्रवाद की भावनाओं से अनुप्राणित था। अंग्रेजी भाषा द्वारा इस साहित्य का भी भारत में प्रवेश हुआ, और इस देश के अंग्रेजी पढ़े-लिखे लोग अपने देश की सामाजिक व राजनीतिक दुर्दशा को अनुभव करने लगे। उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध में जब भारत में अनेक विश्वविद्यालय कायम हुए, तो उनमें शिक्षा प्राप्त करनेवाले विद्यार्थी जहां आधुनिक युग के ज्ञान-विज्ञान से परिचय प्राप्त करने में समर्थ हुए, वहां साथ ही उन्हें उन विचार-धाराओं का भी ज्ञान हुआ, जो इस युग में इंगलैंड व यूरोप के अन्य देशों में विकसित हो रही थीं ।

गणित, भूगोल, इतिहास, रसायनशास्त्र, इंजीनियरिंग, चिकित्साशास्त्र,

साहित्य आदि आधुनिक विषयों का ज्ञान प्राप्त कर लेने के कारण भारत में एक ऐसे शिक्षित वर्ग का विकास हुआ, जिसके लोग जहां एक तरफ सरकारी नौकरी प्राप्त कर अपने वैयक्तिक उत्कर्ष के लिये उत्सुक थे, वहां साथ ही जो यह भी अनुभव करते थे, कि भारत को भी इंगलैड, फ्रांस, जर्मनी आदि पाश्चात्य देशों के समान उन्नति-पथ पर आरूढ़ होना चाहिये। अपने देश की सामाजिक, आर्थिक व राजनीतिक दुर्दशा को ये तीव्रता के साथ अनुभव करते थे, और इस बात के लिये उत्सुक थे, कि भारत में भी नवयुग का सूत्रपात हो, और भारतीयों का कार्य केवल अंग्रेजी सरकार रूपी यन्त्र का पुर्जा बनकर रहना ही न रहे, अपितु अपने देश के शासन-सूत्र के संचालन में भी उनका हाथ हो। इसी अनुभूति का यह परिणाम हुआ, कि भारत में सामाजिक और धार्मिक सुधार के अनेक आन्दोलनों का प्रारम्भ हुआ, और उन्नीसवी सदी का अन्त होने से पूर्व ही यहां स्वराज्य-आन्दोलन का भी सूत्रपात हो गया।

(२) धार्मिक सुधारणा

समाज और धर्म के क्षेत्र में सुधार के जो विविध आन्दोलन उन्नीसवीं सदी में भारत मे शुरू हुए, वे सब नवीन शिक्षा के ही परिणाम नहीं थे। इसमें सन्देह नहीं, कि अंग्रेजी भाषा और पाश्चात्य साहित्य को पढ़कर अनेक सुधारकों ने ऐसे आन्दोलनों का सूत्रपात किया, जिनका उद्देश्य भारत के समाज व धर्म में आमूल चूल परिवर्तन करना था। पर साथ ही आर्यसमाज सदृश अनेक ऐसे आन्दोलन भी इस युग में शुरू हुए, जो हिन्दू-धर्म की बुराइयों व कुरीतियों को दूर कर सच्चे व सनातन धर्म की स्थापना के लिये प्रयत्नशील थे। हम इस प्रकरण में इन दोनों प्रकार के सुधार-आन्दोलनों पर अत्यन्त संक्षेप के साथ प्रकाश डालने का यत्न करेंगे।

ब्राह्म-समाज—१८२८ ई० में राजा राममोहन राय ने 'ब्राह्म-सभा' नाम से एक नई संस्था की स्थापना की, जिसमें वे सब लोग सम्मिलित हो सकते थे, जो ईश्वर में विश्वास रखते हों, और मूर्तिपूजा के विरोधी हों। इस सभा के लिये कलकत्ता में एक भवन का निर्माण किया गया, जिसका स्वामित्व ट्रस्टियों की एक समिति के सुपुर्द कर दिया गया। १८३० में इस भवन के सेल डीड (विक्रय-पत्र) का निर्माण करते हुए राजा राममोहनराय ने लिखा था, कि नसल, जाति व धर्म का भेदभाव रखे बिना सब प्रकार के लोग इस भवन में आकर एक ईश्वर की उपासना कर सकते हैं, और इस उपासना के लिये किसी प्रतिमा,

मूर्ति व कर्मकांड का प्रयोग नही किया जायगा। १८२८ में स्थापित हुई इस ब्राह्म सभा से ही ब्राह्मसमाज का उद्‌भव माना जाता है, और जनता का यह विश्वास है, कि राजा राममोहनराय ही इस समाज के आदिसंस्थापक थे। पर वस्तुतः ब्राह्मसमाज की स्थापना उनकी मृत्यु के बाद हुई थी। राजा राममोहनराय अन्तिम क्षण तक अपने को हिन्दू मानते थे, यज्ञोपवीत धारण करते थे, और उन द्वारा स्थापित ब्राह्म सभा में वेदमंत्रों द्वारा ईश्वर की उपासना की जाती थी।

ब्राह्मसमाज के वास्तविक संस्थापक श्री देवेन्द्रनाथ टैगोर (रवीन्द्रनाथ टैगोर के पिता) थे। वे १८४३ मे ब्राह्म-आन्दोलन में शामिल हुए, और उनके प्रयत्न से इस आन्दोलन ने एक पृथक् समाज व सम्प्रदाय का रूप धारण कर लिया। उन्होंने 'तत्त्व-बोधिनी पत्रिका' नाम से एक नवीन पत्रिका का प्रकाशन प्रारम्भ किया, और 'महानिर्वाणतंत्र' के आधार पर एक नई दीक्षाविधि का सूत्रपात किया, जिसके अनुसार ब्राह्मसमाज के सदस्यों को दीक्षा दी जानी शुरू की गई। पर देवेन्द्रनाथ टैगोर वेदो मे विश्वास रखते थे, और उन्ही को सब धर्मो का आदिस्रोत मानते थे। कुछ समय बाद ब्राह्मसमाज में अनेक ऐसे व्यक्ति प्रविष्ट हुए, जो वेदों की प्रामाणिकता के स्थान पर बुद्धि और तर्क को अधिक महत्त्व देने के पक्षपाती थे। इनके नेता श्री अक्षयकुमार दत्त थे। दत्त महोदय और उनके साथी वेदों की अपोरुषेयता मे संदेह प्रगट करते थे, और पाश्चात्य विचारसरणी के अनुसार सामाजिक सुधार के आन्दोलन को चलाना चाहते थे। इन लोगों के कारण धीरे-धीरे ब्राह्मसमाज हिन्दू-धर्म व समाज से दूर हटने लगा, और उसमे एक पृथक् सम्प्रदाय के रूप मे परिवर्तित हो जाने की प्रवृत्ति का प्रारम्भ हुआ। सन् १८५७ मे श्री केशवचन्द्र सेन ब्राह्मसमाज में सम्मिलित हुए, और उनके कारण इस नये सम्प्रदाय में नवीन स्फूर्ति और उत्साह का संचार हुआ। केशवचन्द्र की प्रेरणा से वहुत-से ऐसे लोग ब्राह्मसमाज में शामिल हुए, जिन्होंने कि सांसारिक उत्कर्ष व सुख को लात मारकर अपनी समाज के सिद्धान्तों के प्रचार में ही अपने जीवन को लगा देने का संकल्प कर लिया। इन उत्साही लोगों के प्रयत्न का यह परिणाम हुआ, कि सन् १८६५ में भारत के विविध प्रदेशों में ब्राह्मसमाज की ५४ शाखायें स्थापित हो गई, जिनमें से ५० बंगाल में, दो उत्तर-पश्चिमी सीमाप्रान्त में, एक पंजाब में और एक मद्रास में थी। केशवचन्द्र सेन के नेतृत्व में ब्राह्मसमाज ने बहुत उन्नति की, पर कुछ समय बाद देवेन्द्रनाथ टैगोर से उनका मतभेद हो गया। केशवचन्द्र सेन और

उनके साथी अन्तर्जातीय विवाह और विधवा-विवाह के पक्षपाती थे, और उनका प्रचार करना अपना कर्त्तव्य समझते थे। उनका यह भी कहना था, कि यज्ञोपवीत धारण करनेवाले पुराने ढंग के ब्राह्मण पंडितों को ब्राह्मसमाज की वेदी से उपदेश देने का अवसर नहीं मिलना चाहिये। ये लोग 'आधुनिकता' के पक्षपाती थे, और ब्राह्मसमाज को एक नवीन ढंग का धार्मिक सम्प्रदाय बना देने के लिये प्रयत्नशील थे। देवेन्द्रनाथ टैगोर इस बात से सहमत नहीं हुए। वे ब्राह्मसमाज को हिन्दू-धर्म का ही एक अंग बनाये रखना चाहते थे।

केशवचन्द्र सेन और देवेन्द्रनाथ टैगोर के मतभेद ने इतना उग्र रूप धारण किया, कि ब्राह्मसमाज दो दलों में विभक्त हो गया। देवेन्द्रनाथ के अनुयायियों से पृथक् होकर दूसरे दल ने अपना पृथक् संगठन बना लिया। केशवचन्द्र सेन इसके प्रधान नेता थे। उनके नेतृत्व में ब्राह्मसमाज ने असाधारण उन्नति की, और देवेन्द्रनाथ टैगोर का 'आदिब्राह्मसमाज' पीछे रह गया। बहुसंख्यक ब्राह्म-समाजियों ने केशवचन्द्र सेन का साथ दिया। यद्यपि केशवचन्द्र और उनके अनुयायी 'आधुनिकता' के पक्षपाती थे, पर वे अपने मज्जातन्तुगत संस्कारों से ऊपर नहीं उठ सके। बाद में चैतन्य द्वारा प्रचारित भक्ति-धारा के प्रवाह में बहकर उन्होंने संकीर्तन को महत्त्व देना शुरू किया, और ब्राह्म लोग केशव-चन्द्र सेन की उसी ढंग से पूजा करने लगे, जैसे कि मध्ययुग में सन्त-गुरुओं की पूजा होती थी। प्रगतिशील ब्राह्मसमाजियों को यह बात पसन्द नहीं आई। उन्होंने आन्दोलन करना शुरू किया, कि ब्राह्मसमाज के नियमों को स्पष्टरूप से निर्धारित करना और उसके सिद्धान्तों व मन्तव्यों का स्पष्ट रूप से प्रतिपादन करना अनिवार्य है। इसके बिना समाज में ऐसे तत्त्व प्रविष्ट हुए बिना नहीं रहेंगे, जो ब्राह्म आन्दोलन के मूल सिद्धान्तों के विपरीत हों। साथ ही, प्रगतिशील ब्राह्म-समाजियों ने अनेक ऐसी बातें भी कहनी शुरू कीं, जो केशवचन्द्र सेन को स्वीकार्य नहीं थी। वे कहते थे, स्त्रियों को भी उसी ढंग की उच्चशिक्षा प्राप्त करने का अव-सर होना चाहिये, जैसी कि पुरुष प्राप्त करते हैं। स्त्रियों और पुरुषों को स्वतंत्र रूप से मिलने का अवसर मिलना चाहिये, और परदा-प्रथा का पूर्ण रूप से अन्त कर देना चाहिये। १८७८ ई० में केशवचन्द्र सेन ने चौदह वर्ष की आयु की अपनी कन्या का विवाह कूच बिहार के महाराजा के साथ कर दिया। ये महाराजा कट्टर सनातनी थे। ब्राह्मसमाजियों को अपने नेता की यह बात बिलकुल भी पसन्द नहीं आई। वे उनके विरुद्ध उठ खड़े हुए, और प्रगतिशील

ब्राह्मसमाजियों ने 'साधारण 'ब्राह्मसमाज' नाम से अपना एक पृथक् संगठन बना लिया। केशवचन्द्र सेन की ब्राह्मसमाज की वही गति हुई, जो कि देवेन्द्रनाथ टैगोर की 'आदिब्राह्मसमाज' की हुई थी।

साधारण ब्राह्मसमाज ने आगे चलकर बहुत उन्नति की। इसके अनुयायी सामाजिक सुधार पर बहुत बल देते थे। वे बाल-विवाह के विरोधी थे, विधवा-विवाह का समर्थन करते थे, परदे को हटाकर स्त्रियों को उच्च शिक्षा देना परम आवश्यक समझते थे, और बहुविवाह को मानव-समाज के लिये अत्यन्त हानिकारक मानते थे। सब धर्मों के प्रति सम्मान की भावना रखते हुए वे विविध धर्मों के धर्मग्रंथो को पढ़ना उपयोगी समझते थे, और इस प्रकार विश्व-बन्धुत्व की भावना को प्रोत्साहित करते थे। विविध जातियों में विवाह-संबंध स्थापित करना और खानपान-विषयक संकीर्ण विचारों का विरोध करना भी वे अपना कर्त्तव्य समझते थे। इसमें संदेह नहीं, कि साधारण ब्राह्मसमाज के आन्दोलन ने बंगाल में हिन्दू-धर्म की पुरानी रूढ़ियों व कुरीतियों को दूर करने में बहुत उपयोगी कार्य किया। ईसाई व मुसलमानों को अपने समाज में शामिल करने में यद्यपि उन्हें सफलता नही हुई, पर हिन्दू लोगों में उन्होंने एक ऐसा वर्ग अवश्य उत्पन्न कर दिया, जो पुरानी रूढ़ियों का विरोध करके एक उन्नत प्रकार का सामाजिक जीवन बिताने का पक्षपाती था। शुरू में बंगाल के सनातनी हिन्दुओं ने ब्राह्मसमाज का बहुत विरोध किया। वे इस समाज के सदस्यों को विधर्मी व विजातीय समझने लगे। पर धीरे-धीरे उनकी मनोवृत्ति में अन्तर आने लगा। शिक्षा के प्रसार के साथ-साथ अन्य हिन्दुओं ने भी अनुभव किया, कि बालविवाह बुरी बात है, और स्त्री-शिक्षा व विधवा-विवाह सामाजिक उन्नति के लिये उपयोगी हैं। उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध में ब्राह्मसमाज के मन्तव्य बहुत क्रांतिकारी माने जाते थे। पर बीसवीं सदी में हिन्दू-धर्म के प्रायः सभी प्रगतिशील लोग उनका समर्थन करने लगे। इसका परिणाम यह हुआ, कि सुशिक्षित हिन्दुओं और ब्राह्मसमाजियों में भेद कम होता गया। ब्राह्मसमाज के आन्दोलन से हिन्दू-धर्म में सुधार की प्रक्रिया को बहुत बल मिला। ब्राह्मलोग मूर्तिपूजा के विरोधी थे, विविध देवी-देवताओं की पूजा का विरोध कर वे एक ईश्वर की उपासना का प्रचार करते थे। हिन्दू-धर्म ईश्वर में विश्वास रखता है, पर साथ ही यह मानता है, कि विविध देवी-देवता सर्वशक्तिमान् भगवान् की विविध शक्तियों के प्रतीक हैं। यह विश्वास हिन्दूधर्म में इतना बद्धमूल है, कि ब्राह्म आन्दोलन इसमें शिथिलता नहीं ला सका। बंगाल के हिन्दू आज

स्त्री-शिक्षा के पक्षपाती हैं, बाल-विवाह के विरोधी हैं, सामाजिक सुधार के संबंध में वे ब्राह्मों के अनेक मन्तव्यों को स्वीकार कर चुके हैं। पर विविध देवी-देवताओं के रूप में भगवान् की पूजा करने की बात का वे त्याग नहीं कर सके हैं।

प्रार्थना-समाज—राजा राममोहनराय ने धर्म और समाज में सुधार का जो आन्दोलन शुरू किया था, उसका प्रभाव महाराष्ट्र पर भी पड़ा। इसी आन्दोलन से प्रभावित होकर १८४९ ई० में महाराष्ट्र में 'परमहंस-सभा' की स्थापना हुई। पर इस सभा को अपने कार्य में विशेष सफलता नहीं हुई। केशवचन्द्र सेन के नेतृत्व में जब ब्राह्म आन्दोलन ने बहुत जोर पकड़ा, तो उससे प्रभावित होकर १८६७ ई० में महाराष्ट्र में एक नई संस्था की स्थापना की गई, जिसे 'प्रार्थना-समाज' कहते थे। महाराष्ट्र के लोगों को हिन्दू-धर्म के प्रति प्रगाढ़ अनुराग था। नामदेव, ज्ञानदेव, तुकाराम, रामदास आदि सन्तों ने वहां की जनता में हिन्दू-धर्म के प्रति श्रद्धा की भावना को बहुत बढ़ा दिया था। इस कारण वे ब्राह्मसमाज जैसी संस्था के अनुयायी नहीं बन सकते थे, क्योंकि इस संस्था के लोग अपने को हिन्दू-धर्म से पृथक् समझते थे। पर महाराष्ट्र के लोग यह अनुभव करते थे, कि हिन्दू-धर्म में अनेक सुधार आवश्यक हैं। अछूतोद्धार, जातिभेद का विरोध, अन्तर्जातीय विवाह व खानपान, स्त्री-शिक्षा, विधवा-विवाह आदि को वे हिन्दू-जाति की उन्नति के लिये उपयोगी समझते थे। हिन्दू-धर्म के सिद्धान्तों के विषय में किसी प्रकार का परिवर्तन करने व उनमें संशोधन करने की आवश्यकता प्रार्थना-समाज के सदस्यों को अनुभव नहीं होती थी। उनका ध्यान हिन्दुओं की सामाजिक कुरीतियों को दूर करने पर ही केन्द्रित था। इसीलिये उन्होंने अनेक अनाथालयों, विधवाश्रमों और कन्यापाठशालाओं की स्थापना की, और अछूतों की दशा को सुधारने के लिये एक 'दलितोद्धार मिशन' कायम किया। महाराष्ट्र व उसके समीप के प्रदेशों में प्रार्थना-समाज ने बहुत महत्त्वपूर्ण कार्य किया, और उसके प्रयत्न से हिन्दू-जाति की सामाजिक दशा के सुधरने में बहुत सहायता मिली। इस समाज के प्रधान नेता महादेव गोविन्द रानाडे थे, जो ब्रिटिश सरकार की सेवा में न्यायाधीश (जस्टिस) के पद पर नियुक्त थे। जस्टिस रानाडे के समाज-सुधार-संबंधी विचार बहुत सुलझे हुए थे। उनका मन्तव्य था, कि सामाजिक सुधार के उत्साह में हमें यह नहीं भूल जाना चाहिये, कि मनुष्य और समाज का अपने भूतकाल के साथ घनिष्ठ संबंध होता है। पुरानी परम्पराओं को एकदम तोड़ देना मनुष्य के लिये

संभव नहीं होता। अतः सुधारक का यह कर्त्तव्य है, कि वह मानव-समाज के भूत-काल को दृष्टि में रखते हुए और उसके मज्जातन्तुगत संस्कारों व पुरानी प्रथाओं का आदर करते हुए उनमें परिष्कार का प्रयत्न करे।

आर्यसमाज——उन्नीसवी सदी में प्राचीन हिन्दू-धर्म में नवजीवन का संचार करने और हिन्दू-जाति की सामाजिक दशा में सुधार करने के लिये जिन विविध आन्दोलनों का सूत्रपात हुआ, उनमें आर्यसमाज का स्थान सबसे अधिक महत्त्व का है। जो कार्य बंगाल में राजा राममोहनराय (१७७२-१८३३) ने किया, वही उत्तरी भारत में स्वामी दयानन्द (१८२४-१८८३) ने किया। दयानन्द काठियावाड़ के एक ब्राह्मणकुल में उत्पन्न हुए थे। बुद्ध और वर्धमान महावीर के समान उन्हें भी युवावस्था में ही सांसारिक जीवन से वैराग्य हो गया था, और वे घर-बार का परित्याग कर सत्य की खोज में निकल पड़े थे। ईश्वर का क्या स्वरूप है, हिन्दू-धर्म का वास्तविक रूप क्या है, और ईश्वर का ज्ञान व मोक्ष की प्राप्ति का क्या साधन है——इन बातों की जिज्ञासा को लेकर उन्होंने भारत में दूर-दूर तक भ्रमण किया, बहुत-से साधु महात्माओं व विद्वानों का सत्संग किया, और अनेक प्रकार से तपस्या की। भारत-भ्रमण में जनता की वास्तविक दशा को देखते हुए और वेदादि प्राचीन धर्मग्रंथो का अनुशीलन करते हुए उन्होने अनुभव किया, कि हिन्दू-धर्म का जो रूप उन्नीसवी सदी के मध्य भाग में विद्यमान था, वह प्राचीन आर्य-धर्म से बहुत भिन्न था। दयानन्द अंग्रेजी भाषा से सर्वथा अपरिचित थे, न वे ईसाई मिशनरियों के सम्पर्क में आये थे, और न ही उन्हे पाश्चात्य साहित्य के अध्ययन का अवसर मिला था। केवल वेदशास्त्रों का अनुशीलन करके वे इस परिणाम पर पहुचे, कि बालविवाह सर्वथा अनुचित है, विशेष परिस्थितियों में विधवा-विवाह शास्त्रसम्मत है, और समाज में ऊंच-नीच का भेदभाव आर्यधर्म के विपरीत है। जाति-भेद उस वर्णव्यवस्था का विकृत रूप है, जिसमें कि गुण-कर्म-स्वभाव के अनुसार मानव-समाज को चार भागों में विभक्त किया गया था, और प्रत्येक मनुष्य को यह अवसर था कि वह अपनी योग्यता व गुणों के अनुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि वर्ण प्राप्त कर सके। स्त्रियों को पुरुषों के समान ही शिक्षा दी जानी चाहिये ; छूत और अछूत का भेद धर्म-विरुद्ध है, प्राचीन आर्य समुद्र को पार कर दूर-दूर तक यात्रा करते थे, और अब भी भारतीयों को अपने संकीर्ण विचारों का परित्याग कर देश-विदेश की यात्रा करनी चाहिये। ईश्वर एक है और सबको उस एक ईश्वर की ही उपासना करनी चाहिये। मूर्तिपूजा वेदों

मे विहित नहीं है, और निराकार ईश्वर की प्रतिमा बनाई ही नही जा सकती। ईश्वर मानव रूप धारण कर कभी अवतार नही लेता ; राम और कृष्ण सदृश अवतार माने जानेवाले व्यक्ति वस्तुतः महापुरुष थे, जिनका हमें उचित आदर तो करना चाहिये, पर उन्हें ईश्वर का अवतार नहीं मानना चाहिये। मृत्यु के बाद जीवात्मा पुनः जन्म ग्रहण करता है, अतः श्राद्ध द्वारा उसे जल या भोजन पहुंचाने का प्रयत्न करना सर्वथा निरर्थक है। मदिरों में मूर्ति पर अर्घ्य चढाना ईश्वर की पूजा का समुचित साधन नहीं है ; इसके लिये मनुष्य को ईश्वर की उपासना करनी चाहिये और दैवी गुणो को अपने अन्दर लाने का प्रयत्न करना चाहिये। हिन्दूधर्म-विषयक दयानन्द के ये विचार सचमुच क्रांतिकारी थे। इनके प्रतिपादन के लिये उन्होंने अनेक ग्रंथ लिखे, जिनमें 'सत्यार्थ-प्रकाश' मुख्य है। वेदो की शिक्षा को सर्वसाधारण जनता तक पहुंचाने के लिये उन्होंने वैदिक संहिताओं का हिन्दी-भाषा मे अनुवाद किया। भारतीय इतिहास में यह पहला अवसर था, जब कि किसी विद्वान् ने 'अपौरुषेय' और 'अखिल धर्म मूल' वेदो का लोक-भाषा मे अनुवाद करने का उपक्रम किया था। दयानन्द की मातृभाषा गुजराती थी, पर उन्होंने अपनी पुस्तकें हिन्दी में लिखी, क्योंकि वे समझते थे, कि हिन्दी-भाषा द्वारा ही वे अपने विचारों को उत्तरी भारत की सर्वसाधारण जनता तक पहुचा सकते है। दयानन्द पहले लेखक थे, जिन्होंने हिन्दी मे बड़े-बड़े ग्रंथो की रचना की। अपने विचारों व सिद्धान्तों का प्रचार करने के लिये उन्होंने 'आर्यसमाज' की स्थापना की, जिसकी शाखाएं शीघ्र ही भारत के प्रायः सभी प्रधान नगरो मे खुल गई। दयानन्द ने हिन्दू-धर्म की बुराइयों को दूर कर केवल सुधार का ही प्रयत्न नही किया, अपितु यह भी प्रतिपादित किया कि अन्य धर्मो के अनुयायी भी आर्यसमाज में प्रवेश कर हिन्दू-जाति के अंग बन सकते हैं। प्राचीन समय मे हिन्दू-धर्म में वह पावनी शक्ति विद्यमान थी, जिसके कारण वह यवन, शक, हूण आदि विदेशी व विधर्मी जातियों को आत्मसात् कर सका था। इस्लाम के प्रवेश के बाद हिन्दू-धर्म में इतनी संकीर्णता आ गई थी, कि हिन्दू लोग किसी विधर्मी को अपने अंदर लीन नही कर सकते थे। साधारण प्रकार की धार्मिक व सामाजिक मर्यादाओं का अतिक्रमण करने के कारण हिन्दुओं को धर्मभ्रष्ट मान लिया जाता था। मुसलमान व ईसाई इस स्थिति का लाभ उठा रहे थे, और बहुत-से हिन्दू हर साल अन्य धर्मों में दीक्षित होने के लिये विवश होते थे। दयानन्द ने कहा, कि प्रत्येक मनुष्य को आर्य-समाज में प्रविष्ट होने का अवसर है। कोई भी मनुष्य

'शुद्धि' द्वारा हिन्दू बन सकता है। किसी समय वेदों का धर्म सारे संसार में प्रचलित था, और आर्य-समाज को यह यत्न करना चाहिये, कि एक बार फिर वैदिक धर्म का देश-देशान्तर व द्वीप-द्वीपान्तर में प्रचार कर दे। निःसंदेह, दयानन्द के ये विचार एकदम क्रांतिकारी और मौलिक थे।

दयानन्द केवल वेदों के अगाध विद्वान् और सुधारक ही नहीं थे, भारत की राजनीतिक दुर्दशा का भी उन्होंने तीव्रता के साथ अनुभव किया। उन्होंने अपने अनुयायियों का ध्यान भारत के उस लुप्त गौरव की ओर आकृष्ट किया, जब इस देश के चक्रवर्ती सम्राट् भारत से बाहर के प्रदेशों को भी अपनी अधीनता में ले आने के लिये प्रयत्नशील रहते थे, और जब भारत को 'जगत्-गुरु' की स्थिति प्राप्त थी। उन्होंने कहा, आपसी फूट के कारण ही भारत का प्राचीन गौरव नष्ट हो गया, और यह देश पहले मुसलमानों द्वारा आक्रान्त हुआ, और बाद में अंग्रेजों के। विदेशी शासन का अन्त कर भारत को 'स्वराज्य' के लिये प्रयत्न करना चाहिये, यह आवाज पहलेपहल दयानन्द ने ही उठाई। उन्होंने यह सिद्धान्त भी प्रतिपादित किया, कि 'सुशासन' कभी 'स्वशासन' का स्थान नहीं ले सकता। विदेशी राज चाहे कितना ही उत्कृष्ट व सुशासित क्यों न हो, स्वराज्य उसकी अपेक्षा अधिक अच्छा है। पाश्चात्य विचारसरणी व पाश्चात्य भाषाओं से पूर्णतया अपरिचित होते हुए भी दयानन्द ने जो इस ढंग के विचार जनता के सम्मुख रखे, उन्हें पढ़कर आश्चर्यचकित हुए बिना नहीं रहा जाता। गरीबी और अमीरी की समस्या को हल करने के लिये भी दयानन्द ने सर्वथा मौलिक विचारों का प्रतिपादन किया। उन्होंने लिखा, कि यह जाति-नियम और राजनियम होना चाहिये, कि सात वर्ष की आयु होने पर सब बालकों और बालिकाओं को शिक्षणालयों में भेज दिया जाय, ताकि सबको योग्यता-प्राप्ति का समानरूप से अवसर मिल सके। शिक्षणालयों में राजा या रंक सबकी सन्तान को एकसदृश भोजन, शय्या, वस्त्र व शिक्षा मिलनी चाहिये, और शिक्षा की समाप्ति पर सबको योग्यता के अनुरूप कार्य दिया जाना चाहये। निःसंदेह, दयानन्द एक मौलिक विचारक थे, और उन्होंने प्राचीन वेदशास्त्रों के आधार पर हिन्दू-धर्म का एक ऐसा स्वरूप जनता के सम्मुख उपस्थित किया, जिसके कारण हिन्दू-धर्म क्रियात्मक क्षेत्र में भी संसार के उन्नत धर्मों की समकक्षता में आ गया।

दयानन्द की शिक्षाओं का प्रसार करने के लिये आर्यसमाज ने जहां बहुत-से भजनोपदेशकों और धर्म-प्रचारकों को नियत किया, वहां बहुत-से

विद्यालयों, कालेजों, अनाथालयों, विधवाश्रमों, चिकित्सालयों और आश्रमों की भी स्थापना की। ईसाई चर्च के प्रचार-कार्य को दृष्टि में रखकर आर्य-समाज ने उपदेशक-मंडलियां तैयार कीं, जो विविध नगरों और ग्रामों में घूम-घूमकर जनता को वैदिक धर्म का सन्देश देती थीं, सामाजिक कुरीतियों के विरुद्ध प्रचार करती थीं, और विधर्मी लोगों को आर्यसमाजी व हिन्दू बनाने के लिये प्रयत्नशील रहती थीं। स्त्री-शिक्षा के क्षेत्र में आर्य-समाज ने अनुपम कार्य किया। आर्यसमाज के प्रायः सभी मंदिरों के साथ पुत्री-पाठशालाओं की स्थापना की गई। अछूतोद्धार आर्यसमाज का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कार्य था। कितने ही चमार व भंगी आर्यसमाज के सम्पर्क में आकर 'पंडित' व 'ठाकुर' बन गये। पहाड़ों के मेघ और शिल्पकार आर्यसमाज द्वारा 'महाशय' बना दिये गये, और वे यज्ञोपवीत धारण कर यज्ञ हवन करने में तत्पर हो गये।

वैदिक साहित्य के अध्ययन-अध्यापन ने लिये आर्यसमाज ने गुरुकुलों की स्थापना की, जिनमें निःशुल्क शिक्षा की पद्धति का आश्रय लिया गया, और सब 'ब्रह्मचारियों' को एकसमान वस्त्र, भोजन व शय्या देने की व्यवस्था की गई। गुरुकुलों द्वारा भारत के प्राचीन ज्ञान के अनुशीलन में बहुत सहायता मिली, और इनमें पढ़े हुए विद्यार्थी वेदशास्त्रों की नये रूप से व्याख्या करने में समर्थ हुए। दयानन्द सरस्वती के बाद आर्यसमाज के मुख्य नेताओं में स्वामी श्रद्धानन्द और महात्मा हंसराज के नाम विशेषरूप से उल्लेखनीय हैं। स्वामी श्रद्धानन्द गुरुकुल शिक्षा-प्रणाली के प्रवर्तक थे। पर आर्यसमाज में ऐसे लोगों की भी कमी नहीं थी, जो आधुनिक ज्ञान-विज्ञान की शिक्षा को प्राचीन वेदशास्त्रों के अनुशीलन की अपेक्षा अधिक महत्त्व देते थे। इनके नेता महात्मा हंसराज थे। उन्होंने लाहौर में दयानन्द ऐंग्लो वैदिक कालेज की स्थापना की, और समयान्तर में इसी प्रकार के अनेक कालेज भारत के अन्य नगरों में भी खोले गये। इन कालेजों में विद्यार्थियों का रहन-सहन आर्य-समाज के आदर्शों के अनुसार होता था, और नये ज्ञान-विज्ञान के साथ-साथ उन्हें वैदिक धर्म की भी शिक्षा दी जाती थी। गुरुकुलों की शिक्षा में प्राचीन वेद-शास्त्रों को प्रमुख स्थान दिया गया, पर आधुनिक ज्ञान-विज्ञानों की उपेक्षा नहीं की गई। इन संस्थाओं की शिक्षा में एक महत्त्व की बात यह थी कि गणित, रसायनशास्त्र, इतिहास, अर्थशास्त्र आदि आधुनिक विज्ञानों की शिक्षा भी हिन्दी के माध्यम द्वारा दी जाती थी। इसमें सन्देह

नहीं, कि आर्यसमाज द्वारा स्थापित गुरुकुल शिक्षा के क्षेत्र में क्रांतिकारी व राष्ट्रीय आदर्शों का अनुसरण करते थे। जिस समय सरकारी स्कूलों में शिक्षा का माध्यम अंग्रेजी था, गुरुकुलों में उच्चशिक्षा के लिये भी हिन्दी को माध्यम के रूप में प्रयुक्त किया जाता था।

धर्म तथा सामाजिक सुधार के क्षेत्र में आर्य-समाज ने जो कार्य किया, उसका भारत के नवजागरण में बहुत महत्वपूर्ण स्थान है। सदियों तक विदेशी व विधर्मी लोगों के शासन में रहने के कारण हिन्दू जनता में हीन भावना का विकास हो गया था। दयानन्द ने उसका ध्यान हिन्दू-जाति और आर्य-धर्म के प्राचीन गौरव की ओर आकृष्ट करके उसमें नई स्फूर्ति का संचार किया, और उसमें यह आकांक्षा उत्पन्न की, कि एक बार फिर हिन्दू लोग अपने लुप्त गौरव को प्राप्त करें। वेद ससार का सबसे प्राचीन धर्मग्रंथ है, सब धर्मो का उद्भव आर्य-धर्म से ही हुआ है, आर्य-जाति संसार की सर्वश्रेष्ठ जाति है, और भारतीय सभ्यता व संस्कृति अब भी संसार को शाति का मार्ग प्रदर्शित कर सकती है—इन विचारों ने हिन्दू लोगों में अपूर्व उत्साह उत्पन्न किया, और वे अपनी कुरीतियों को दूर करने व उन्नति-पथ पर आरूढ़ होने के लिये उद्यत हो गये।

रामकृष्ण मिशन—जिस समय ऋषि दयानन्द उत्तरी भारत मे हिन्दू जाति में नवजीवन का संचार करने के लिये प्रयत्न कर रहे थे, बंगाल में एक अन्य महात्मा का प्रादुर्भाव हुआ, जिनका नाम रामकृष्ण परमहंस (१८३४–१८८६) था। ये कलकत्ता के समीप के एक मंदिर में निवास करते थे, और वहां योग-ध्यान में व्यापृत रहते थे। इन्होंने किसी नये समाज व संस्था की स्थापना नहीं की। इनके अध्यात्म-चिन्तन, उच्च त्यागमय जीवन और पवित्र आदर्शों ने बहुत-से लोगों को अपनी ओर आकृष्ट किया, और कलकत्ता के बहुत-से सुशिक्षित नवयुवक इनके दर्शनों के लिये आने लगे। इनमें नरेन्द्रनाथ दत्त नाम के तेजस्वी व प्रतिभाशाली नवयुवक का नाम विशेषरूप से उल्लेखनीय है। ये ही आगे चलकर स्वामी विवेकानन्द के नाम से प्रसिद्ध हुए, और इन्होंने रामकृष्ण परमहंस की शिक्षाओं का देश-विदेश में प्रसार करने के लिये अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कार्य किया। स्वामी विवेकानन्द का व्यक्तित्व अनुपम था, उनकी विद्वत्ता अगाध थी, और उनमें वह तेजस्विता विद्यमान थी, जो अध्यात्मशक्ति के कारण उत्पन्न होती है। १८९३ में वे शिकागो की विश्व-धर्मपरिषद् (पार्लिया-मेन्ट आफ रिलिजन्स) में शामिल हुए, और वहां भारतीय अध्यात्म-ज्ञान

पर उनका जो व्याख्यान हुआ, उसे सुनकर लोग चकित रह गये। तीन साल के लगभग समय तक वे अमेरिका में रहे, और वहां वेदान्त, अध्यात्म आदि विषयों पर प्रवचन करते रहे। कुछ ही समय में पाश्चात्य जगत् में उनका बहुत नाम हो गया, और वहां की जनता हिन्दू-धर्म और उसके अध्यात्मवाद को आदर की दृष्टि से देखने लगी। विवेकानन्द रामकृष्ण परमहंस के शिष्य थे, और उन द्वारा उपदिष्ट अध्यात्मवाद का ही प्रतिपादन करते थे। रामकृष्ण की शिक्षाओं के अनुसार जन-समाज की सेवा करने के लिये 'रामकृष्ण मिशन' की स्थापना की गई, जिसकी शाखायें कुछ समय में ही भारत तथा विदेशों में अनेक स्थानों पर कायम हो गई। रामकृष्ण मिशन के सदस्य जहां अपने गुरु द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों व मन्तव्यों का उपदेश करते हैं, वहां साथ ही चिकित्सा-लय, शिक्षणालय आदि खोलकर जनता की सेवा भी करते हैं। रामकृष्ण के अनु-सार ईश्वर एक है, और अध्यात्मवाद का अनुसरण कर ब्रह्म में लीन होना ही मनुष्य का चरम ध्येय है। पर विविध देवी-देवताओं के रूप में विश्व की सर्वोपरि शक्ति की पूजा की जा सकती है, और प्रतिमापूजन द्वारा मनुष्य अध्यात्म-शक्ति का विकास कर सकता है। रामकृष्ण विविध धर्मो व सम्प्रदायों की आधारभूत एकता पर भी विश्वास रखते थे। उनका मन्तव्य था, कि विविध धर्म उन विविध मार्गो के समान हैं, जो मनुष्य को एक ही मजिल की तरफ ले जाते हैं। जिस प्रकार जल के पानी, वाटर, आब आदि कितने ही नाम हैं, वैसे ही हरि, अल्लाह, कृष्ण आदि एक ही सत्ता के बोधक हैं। ईश्वर एक है, पर एक होते हुए भी वह अपने को विविध रूपों में अभिव्यक्त करता है। निर्गुण और सगुण दोनों रूपों से उसकी उपा-सना की जा सकती है।

इस युग के अन्य अनेक धार्मिक आन्दोलनों के समान रामकृष्ण मिशन ने भी हिन्दू जनता को बहुत अधिक प्रभावित किया। भारत की अशिक्षित, रोगग्रस्त, पददलित और पीड़ित जनता की सेवा करना और उसकी स्थिति को उन्नत करना इस मिशन का मुख्य उद्देश्य है। स्वामी विवेकानन्द जहां भारत के अध्यात्मवाद का देश-विदेश में प्रचार करते थे, वहां साथ ही वर्तमान भारत की दुर्दशा की ओर भी वे संसार का ध्यान आकृष्ट करते थे। उनका विश्वास था, कि भौतिक सुखों के पीछे पागल हुई आधुनिक दुनिया को भारत का अध्यात्मवाद सच्ची शांति का संदेश दे सकता है। पर यह तभी संभव है, जब भारत अपनी तमोमयी निद्रा से जागकर संसार में अपने लिये उपयुक्त स्थान

प्राप्त कर ले। स्वामी विवेकानन्द का दृष्टिकोण न केवल अन्तर्राष्ट्रीय था, पर साथ ही राष्ट्रीय भी था। इसीलिये उनके मिशन द्वारा भारत के नव-जागरण में बहुत सहायता मिली।

थियोसोफिकल सोसायटी—सन् १८७५ में मदाम ब्लावत्स्की और कर्नल आलकोट ने अमेरिका में थियोसोफिकल सोसायटी की स्थापना की थी। १८७९ और १८८६ में ये भारत भी आये, और इन्होंने भारत के विविध धार्मिक आन्दोलनों के साथ सम्पर्क स्थापित किया। आर्यसमाज के प्रवर्तक दयानन्द सरस्वती से भी इनका सम्पर्क हुआ, और कुछ समय के लिये इन्होंने यह भी प्रयत्न किया, कि आर्यसमाज और थियोसोफिकल सोसायटी परस्पर मिलकर एक हो जावें, और साथ मिलकर ही कार्य करें। पर दयानन्द वेदों की अपौरुषेयता पर बहुत बल देते थे, और इसी कारण ब्लावत्स्की व आलकोट का उनके साथ मेल नहीं हो सका। आर्यसमाज के साथ मिलकर एक हो जाने के विषय में निराश होकर इन्होंने मद्रास के अदयार नामक स्थान पर अपना केन्द्र स्थापित किया, और भारत के विविध प्रदेशों में अपने सिद्धान्तों का प्रचार शुरू किया। प्रारम्भ में इस सोसायटी को विशेष सफलता नहीं मिल सकी, पर जब १८९३ में श्रीमती एनीबीसेन्ट ने स्थिररूप से भारत में बसकर थियोसोफिकल आन्दोलन का संचालन शुरू किया, तो इसकी शक्ति बहुत बढ़ गई, और बहुत-से शिक्षित लोग इसकी ओर आकृष्ट हुए। श्रीमती बीसेन्ट का कहना था, कि भारत अपनी सब समस्याओं का हल सुगमतापूर्वक कर सकता है, बशर्ते कि वह अपने प्राचीन आदर्शों और संस्थाओं का पुनरुद्धार कर ले। भारत के लिये यह आवश्यक है, कि उसके निवासियों में आत्मसम्मान की भावना जागृत हो, वे अपने गौरवमय भूतकाल पर गर्व करें, और अपने भविष्य की उज्ज्वलता में विश्वास रखें। इसके बिना भारतीयों में देशभक्ति का विकास हो सकना संभव नहीं है। भारत में नवराष्ट्र का निर्माण तभी हो सकेगा, जब कि इस देश के लोग अपने धर्म, सभ्यता व संस्कृति के लिये गर्व अनुभव करने लगेंगे। निःसंदेह, श्रीमती बीसेन्ट के इन विचारों से भारतीय जनता में स्फूर्ति और आशा का संचार हुआ। श्रीमती बीसेन्ट लिखने और बोलने की अपूर्व योग्यता रखती थीं। उनके भाषण को सुनते हुए श्रोतागण मन्त्र-मुग्ध हो जाते थे। भारत से उन्हें सच्चा प्रेम था, और वे स्वराज्य-आन्दोलन के साथ हार्दिक सहानुभूति रखती थीं। इसीलिये जनता ने उन्हें राष्ट्रीय महासभा (इंडियन नेशलन कांग्रेस) का अध्यक्ष भी निर्वाचित किया था।

श्रीमती बीसेन्ट के प्रयत्न से थियोसोफिकल सोसायटी की शाखायें भारत के अनेक नगरों में स्थापित हुई, और उनके सम्पर्क में आकर सुशिक्षित लोगों ने अपने देश की प्राचीन सभ्यता और संस्कृति को गौरव की दृष्टि से देखना शुरू किया। श्रीमती बीसेन्ट द्वारा ही बनारस में सेन्ट्रल हिन्दू स्कूल की स्थापना हुई, जो कुछ समय बाद ही एक कालेज के रूप में परिवर्तित हो गया। १९१५ ई० में इसी कालेज को केन्द्र बनाकर पंडित मदनमोहन मालवीय ने हिन्दू-विश्वविद्यालय की स्थापना की, जो संस्था जहां आधुनिक ज्ञान-विज्ञान की उच्चतम शिक्षा प्रदान करती है, वहां साथ ही प्राचीन भारतीय संस्कृति पर भी बल देती है। हिन्दू विश्वविद्यालय भारत की उस नई जागृति का मूर्त रूप है, जो बीसवीं सदी के प्रारम्भ तक भली-भांति प्रादुर्भूत हो चुकी थी।

नये धार्मिक आन्दोलनों का परिणाम—ब्राह्मसमाज, प्रार्थना-समाज, आर्य-समाज आदि के रूप में जो अनेक नये धार्मिक आन्दोलन उन्नीसवीं सदी में चल रहे थे, उन्होंने हिन्दू-जाति में एक नई जागृति उत्पन्न कर दी। जो लोग पुराने सनातन हिन्दू-धर्म के अनुयायी थे, उनपर भी इन आन्दोलनों का प्रभाव पड़ा। उत्तरी भारत में आर्यसमाज के अनुकरण में सनातन धर्म सभाओं का संगठन शुरू हुआ, जिनके प्रचारक आर्यसमाजी उपदेशकों के समान ही अपने मन्तव्यों का प्रचार करने में तत्पर हुए। सनातनी लोगों ने भी गुरुकुलों के समान ऋषिकुलों की स्थापना की, और इनमें अपने दृष्टिकोण के अनुसार वेदशास्त्र, पुराण आदि के पठन-पाठन की व्यवस्था की। युक्ति और तर्क द्वारा पौराणिक सिद्धान्तों की पुष्टि के लिये इन्होंने उद्योग शुरू किया, क्योंकि वे भी अब भलीभांति अनुभव करने लगे थे, कि आधुनिक युग में कोई धार्मिक सिद्धान्त तब तक जनता में प्रचलित नहीं रह सकता, जब तक कि तर्क द्वारा उसका पक्षपोषण न किया जाय। आर्य-समाजियों के समान सनातनियों ने भी स्त्री-शिक्षा के लिये संस्थायें खोलीं, और दयानन्द एंग्लो-वैदिक कालेज के अनुकरण में अनेक सनातन-धर्म कालेजों की स्थापना की। सुधारवादियों और सनातनियों के ये सब प्रयत्न जहां शिक्षित वर्ग में नव-जागरण उत्पन्न कर रहे थे, वहां साथ ही अशिक्षित जनता में भी वे धर्म के ज्ञान और सत्यासत्य के विवेचन की प्रवृत्ति को विकसित कर रहे थे। आर्य-समाजी और सनातनी—दोनों के उपदेशक ग्रामों में जाकर उपदेश देते थे, भजन गाते थे और शास्त्रार्थ करते थे। अशिक्षित जनता को भी इन भजनों

और शास्त्रार्थों से धर्म के तत्त्वों पर विचार करने का अवसर मिलता था, और उसमें नये उत्साह का संचार होता था।

जनता को अपने धार्मिक सिद्धान्तों के प्रति आकृष्ट करने के लिये इन संस्थाओं ने जहां चिकित्सालय, विधवाश्रम, अनाथालय आदि खोले, वहां साथ ही आर्यवीर दल, महावीर दल आदि स्वयंसेवक दलों का भी संगठन किया। ये दल मेलों, उत्सवों आदि के अवसर पर जनता की सेवा करते थे, और हिन्दू-संगठन का आदर्श देश के सम्मुख उपस्थित करते थे।

महाराष्ट्र में प्रार्थना-समाज के आदर्श से प्रभावित होकर १८८४ में 'दक्खन एजुकेशन सोसायटी' का निर्माण हुआ। इस सोसायटी का उद्देश्य यह था, कि ऐसी शिक्षण-संस्थाओं की स्थापना की जाय, जिनमें पढ़े हुए विद्यार्थी देश-सेवा को ही अपना ध्येय मानें। इस सोसायटी की ओर से पूना में फर्ग्युसन कालेज और सांगली में विलिगडन कालेज की स्थापना की गई, और उनमें कार्य करने के लिये जो प्रोफेसर नियत किये गये, उन्हें जीवन-निर्वाह के लिये केवल ७५ रु० मासिक वेतन देने की व्यवस्था की गई। केवल ७५ रु० मासिक लेकर जो प्रोफेसर इन कालेजों में कार्य करते थे, वे अपने विद्यार्थियों के सम्मुख भी त्याग और सेवा के आदर्शो को उपस्थित कर सकते थे। उत्तरी भारत में जब गुरुकुलों और दयानन्द कालेजों की स्थापना हुई, तो उनके शिक्षकों ने भी इसी आदर्श को अपनाया, और नाममात्र वेतन लेकर शिक्षण का कार्य शुरू किया। निःसंदेह, इस समय भारत में नवजागरण उत्पन्न हो रहा था, और बहुत-से शिक्षित लोग धर्म, देश और जाति की सेवा के लिये कार्य-क्षेत्र में प्रवेश कर रहे थे।

देश-सेवा के उद्देश्य से जो अनेक अन्य संस्थायें इस समय कायम होनी शुरू हुईं, उनमें पूना की 'सर्वेन्ट्स आफ इंडिया सोसायटी' का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इसके संस्थापक श्री गोपालकृष्ण गोखले थे। दक्खन एजुकेशन सोसायटी के सदस्य रूप में २० वर्ष तक ७५ रु० मासिक पर सेवा-कार्य समाप्त कर १९०५ में उन्होंने इस नई सोसायटी की स्थापना की। इसका उद्देश्य इस प्रकार के राष्ट्रीय प्रचारक (मिशनरी) उत्पन्न करना था, जो सब प्रकार के वैध उपायों द्वारा भारतीय जनता के हित-साधन में अपने सम्पूर्ण जीवन को व्यतीत करने के लिये उद्यत हों। बाद में लाला लाजपतराय ने पंजाब में 'सर्वेन्ट्स आफ पीपुल सोसायटी' के नाम से इसी ढंग की एक अन्य संस्था कायम की। भारत के शिक्षित वर्ग में जनता की निष्काम-भाव से सेवा करने की

जो प्रवृत्ति इस युग में शुरू हुई, उसकी मूल प्रेरणा उन धार्मिक आन्दोलनों द्वारा ही प्राप्त की गई थी, जो इस काल में भारत के विविध प्रदेशों में जारी थे।

इस्लाम में जागृति—हिन्दू-धर्म में जो नवजागरण हो रहा था, उसने इस्लाम को भी प्रभावित किया। ब्रिटिश शासन की स्थापना के समय मुसलिम लोग अंग्रेजी भाषा और पाश्चात्य शिक्षा से घृणा करते थे। उन्हें वे दिन भूले न थे, जब भारत पर अनेक मुसलिम राजवंशों का शासन था। उनका यह भी विश्वास था, कि ज्ञान के क्षेत्र में जो कुछ भी जानने योग्य है, वह सब कुरान में विद्यमान है। कुरान व हदीसों के अतिरिक्त अन्य भी कोई ज्ञान हो सकता है, यह बात उन्नीसवी सदी के पूर्वार्ध तक भारतीय मुसलमानों की समझ में नही आती थी। मुसलिम युग में स्थापित हुए अनेक मदरसे अब तक भी विद्यमान थे, और मसजिदों में अरबी, फारसी व मुसलिम धर्मग्रंथों का पठन-पाठन जारी था। इसीलिये शुरू में मुसलमानों ने अंग्रेजी भाषा व पाश्चात्य ज्ञान-विज्ञान की उपेक्षा की। पर धीरे-धीरे इस स्थिति में परिवर्तन आना शुरू हुआ। मुसलमानों में अनेक ऐसे समझदार व्यक्ति पैदा हुए, जिन्होंने अनुभव किया कि पाश्चात्य ज्ञान-विज्ञान से अपरिचित रह जाने के कारण मुसलिम लोग हिन्दुओं के मुकाबले में बहुत पिछड़ गये है, और उन्हें भी अग्रेजी भाषा और उसके साहित्य से परिचय प्राप्त करना चाहिये। इस विचार को मुसलमानों के सम्मुख रखने का प्रधान श्रेय सर सैयद अहमद खां को है, जिन्होंने १८७५ में अलीगढ़ में एंग्लो-ओरियन्टल कालेज की स्थापना की थी। इस कालेज में मुसलमान युवकों को आधुनिक ज्ञान-विज्ञान की शिक्षा दी जाती थी, और साथ ही अरबी, फारसी व मुसलिम साहित्य के उच्च अध्ययन का भी समुचित प्रबन्ध था। बाद में अलीगढ़ का यह कालेज मुसलिम सस्कृति और इस्लाम के नवजागरण का प्रधान केन्द्र बन गया। इसकी महत्ता इतनी बढ़ गई, कि १९२० में इसे मुसलिम यूनिवर्सिटी के रूप में परिवर्तित कर दिया गया।

इस्लाम के प्राचीन साहित्य और धर्म का अध्ययन करने के लिये अनेक ऐसी संस्थायें भी इस युग में स्थापित हुईं, जिनमें आधुनिक ज्ञान-विज्ञानों की उपेक्षा कर पुरानी परिपाटी का अनुसरण किया जाता था। इनमें देवबन्द (जिला सहारनपुर) का मदरसा सर्वप्रधान है। इस ढंग की संस्थाओं का उद्देश्य जहां इस्लाम के धार्मिक साहित्य का अनुशीलन था, वहां साथ ही मुसलिम धर्म का प्रचार करने के लिये कार्यकर्त्ताओं को तैयार करना भी था।

अलीगढ़ कालेज के समान इन संस्थाओं ने भी बहुत उन्नति की, और शीघ्र ही ये इस्लाम की नवचेतना की केन्द्र बन गईं।

हिन्दू, मुसलिम और ईसाई—सब धर्म इस काल में नई स्फूर्ति व नये जीवन से अनुप्राणित थे। सबका प्रयत्न था, कि अपने सिद्धान्तों का प्रचार करें, और अधिक से अधिक लोगों को अपने प्रभाव में लाने के लिये तत्पर हों। इसीलिये उनमें बहुधा शास्त्रार्थ व मुबाहसे होते रहते थे। इनको सुनने के लिये जनता हजारों की संख्या में एकत्र होती थी, और विविध धर्माचार्यों के विचारों को सुनकर आनन्द अनुभव करती थी। इस युग के शास्त्रार्थों व मुबाहसों से साम्प्रदायिक कटुता का अभाव होता था। धर्म के क्षेत्र में लोग सहिष्णु थे, और वे नये-नये विचार सुनने के लिये सदा उत्सुक रहते थे।

ब्रिटिश सरकार और सामाजिक सुधार—भारत के ब्रिटिश शासकों की यह नीति थी, कि वे धर्म और समाज के मामले में तटस्थ रहें। इस युग में यूरोप के विविध राज्यों की सरकारें भी इन मामलों में तटस्थता की नीति का ही अनुसरण करती थी। पर ब्रिटिश सरकार की यह नीति देर तक कायम नही रह सकी। उन्नीसवीं सदी के शुरू तक हिन्दू लोगों में अनेक ऐसी कुरीतियां प्रचलित थीं, जिनकी उपेक्षा कर सकना किसी भी सभ्य सरकार के लिये सम्भव नहीं था। राजा राममोहनराय जैसे सुधारक भी सरकार पर इन कुरीतियों को दूर करने के निमित्त राजशक्ति का उपयोग करने के लिये जोर दे रहे थे। इन कुरीतियों में सर्वप्रधान सती-प्रथा थी, जिसके विरुद्ध अकबर ने भी राजाज्ञा प्रकाशित की थी। राजा राममोहनराय की प्रेरणा व प्रयत्न से १८२९ ई० में ब्रिटिश सरकार ने सती होने को गैरकानूनी घोषित कर दिया, और यह व्यवस्था की, कि जो कोई व्यक्ति किसी स्त्री को सती होने के लिये प्रेरित या विवश करे, उसे सजा दी जाय। सती-प्रथा को बन्द करने से पूर्व अंग्रेजी सरकार ने पुत्रप्राप्ति के लिये सन्तान को बलि देने व कन्यावध की प्रथा को रोकने के संबंध में भी अनेक कानून बनाये थे।

(३) नये साहित्य का विकास

नई शिक्षा के प्रसार और नवीन धार्मिक आन्दोलनों का एक महत्त्वपूर्ण परिणाम यह हुआ, कि ब्रिटिश युग में हिन्दी आदि विविध भाषाओं में नवीन साहित्य का निर्माण प्रारम्भ हुआ। भारत में कागज का प्रवेश मुसलिम युग

में ही हो चुका था, और चिकने व बढ़िया कागज पर सुन्दर रीति से लिखी हुई पुस्तकें भी बाजार में बिकने लगी थीं। लकड़ी की तख्तियों पर अक्षरों को उत्कीर्ण कर उनके ठप्पे से कागज की छपाई भी ब्रिटिश युग से पूर्व भारत में शुरू हो चुकी थी। पर अठारहवीं सदी में छापेखाने (प्रिंटिंग प्रेस) का भी भारत में प्रवेश हुआ, और मशीन द्वारा पुस्तकों व पत्र-पत्रिकाओं को अच्छी बड़ी संख्या में छाप सकना संभव हो गया। छापेखाने के प्रवेश के कारण साहित्य की वृद्धि में बहुत अधिक सहायता मिली, और बहुत-सी नई पुस्तिकायें व पत्र-पत्रिकायें बाजार में बिकने के लिये आने लगीं। नये विचारों के प्रचार में कागज और उसपर छपी हुई पुस्तकें बहुत सहायक सिद्ध हुई, और सर्वसाधारण जनता के लिये ज्ञान-वृद्धि कर सकना बहुत सुगम हो गया। ईसाई मिशनरियों ने अपने धर्म का प्रचार करने के लिये भारतीय भाषाओं में बाइबल का अनुवाद किया, और अनेक छोटी-छोटी पुस्तिकायें प्रकाशित करनी शुरू कीं। अठारहवीं सदी का अन्त होने से पूर्व ही बंगाली भाषा में बाइबल का अनुवाद प्रकाशित हो चुका था। इस समय तक भारत के साहित्यिक अपनी रचनायें प्रायः पद्य में ही किया करते थे। छापेखाने के अभाव में बड़े गद्य-ग्रंथों का लिखना बहुत क्रियात्मक नही था। पर फिर भी अनेक लेखक अपने विचारों को प्रगट करने के लिये गद्य का उपयोग करने लगे थे, और चौदहवीं सदी से ही हिन्दी आदि लोकभाषाओं मे अनेक छोटी-छोटी पुस्तके गद्य में भी लिखी जाने लगी थीं। पर इन पुस्तकों का विषय या तो धर्म होता था, और या कथा-कहानियां। आधुनिक शैली के गद्य-ग्रंथ अठारहवीं सदी के पूर्वार्ध तक भारत की लोक-भाषाओं में प्रायः नहीं लिखे गये थे।

अंग्रेजी शासन के स्थापित होने पर जब भारत में नवजागरण का प्रारम्भ हुआ, तो हिन्दी, बंगाली, उर्दू आदि में गद्य-ग्रंथों की रचना की प्रवृत्ति बहुत बढ़ गई, और एक नये ढंग के साहित्य का निर्माण शुरू हुआ, जिसने नवजागरण में बहुत सहायता पहुंचाई। भारत में सबसे पूर्व बंगाल अंग्रेजों के शासन में आया था। वहीं पर सबसे पहले नई शिक्षा का प्रारम्भ हुआ था। इसलिये उन्नीसवीं सदी मे वहां अनेक ऐसे लेखक उत्पन्न हुए, जिन्होंने बहुत सी अंग्रेजी पुस्तकों का बंगाली में अनुवाद किया, और कुछ स्वतंत्र व मौलिक पुस्तकों की भी रचना की। इन लेखकों में कृष्णमोहन बैनर्जी (१८१३–१८८५), राजेन्द्रलाल मित्रा (१८२१–१८९२), प्यारेचन्द्र मित्रा (१८१५–१८८३) और ईश्वरचन्द्र विद्यासागर (१८२०–१८९१) के नाम विशेषरूप से उल्लेखनीय हैं। ये सब

लेखक अंग्रेजी भाषा के ज्ञाता थे, और पाश्चात्य साहित्य से परिचय रखते थे। इनके प्रयत्न से बंगाल के लोगों को पाश्चात्य विचारसरणी से परिचय प्राप्त करने का अवसर मिला। अंग्रेजी शिक्षा के प्रभाव के कारण बंगाल के अनेक साहित्यिक बंगाली भाषा में नवीन शैली के काव्य, नाटक व उपन्यास लिखने में भी प्रवृत्त हुए। इस प्रकार के साहित्यिकों में माइकेल मधुसूदनदत्त (१८२७–१८७३), दीनबन्धु मित्रा (१८३०–१८७४) और बंकिमचन्द्र चट्टोपाध्याय सर्वप्रधान हैं। ईश्वरचन्द्र विद्यासागर जैसे लेखकों ने बंगाली भाषा की गद्य-शैली को परिष्कृत रूप देने में महत्त्वपूर्ण कार्य किया, और बंकिमचन्द्र चट्टोपाध्याय ने ऐसे मौलिक उपन्यास लिखे, जो विश्वसाहित्य में बहुत ऊंचा स्थान रखते हैं। उनके 'आनन्दमठ' ने बंगाल में देशभक्ति और राष्ट्रीय स्वतंत्रता की भावना को विकसित करने में बहुत सहायता की। ब्रिटिश शासन का अन्त कर राष्ट्रीय स्वतंत्रता की स्थापना के लिये जो क्रांतिकारी आन्दोलन बंगाल में शुरू हुआ, उसकी प्रेरणा इसी 'आनन्दमठ' से ली गई थी। बंगाल के क्रांतिकारी आनन्दमठ का धर्मग्रंथ के समान अध्ययन करते थे, और उसके अन्यतम गीत 'वन्दे मातरम्' को अपना 'मंत्र' व 'सूक्त' समझते थे। भारत में राष्ट्रीय आन्दोलन के विकास के साथ-साथ बंकिम के 'वन्दे मातरम्' का भी प्रचार होने लगा, और बाद मे यह भारत का राष्ट्रीय गीत बन गया। माइकेल मधुसूदन दत्त ने ईसाई मिशनरियों के सम्पर्क में आकर क्रिश्चियन धर्म-को अपना लिया था। अंग्रेजी शिक्षा के प्रभाव से वे बोलचाल रहन-सहन आदि में पूर्णतया अंग्रेजों का अनुकरण करते थे। अंग्रेजी भाषा पर उनका अधिकार था, अतः शुरू में उन्होंने अंग्रेजी के माध्यम से ही अपनी साहित्यिक प्रतिभा का परिचय दिया। पर उन्नीसवीं सदी के यूरोपियन साहित्य में राष्ट्रीयता और देशभक्ति की भावनाओं का जो प्राबल्य था, मधुसूदन दत्त भी उससे प्रभावित हुए बिना नहीं रहे। बाद में उन्होंने बंगाली भाषा में काव्य-रचना शुरू की, और उन जैसे उच्च शिक्षाप्राप्त व आधुनिक विचारसरणी से परिचित कवि द्वारा बंगाली में ऐसे काव्य की सृष्टि हुई, जिसे एक सदी के लगभग समय बीत जाने पर आज भी अत्यन्त आदर की दृष्टि से देखा जाता है। दीनबन्धु मित्रा नाटककार थे, और उन्होंने बंगाली भाषा में आधुनिक शैली के नाटक लिखने की जिस परम्परा का प्रारम्भ किया, आगे चलकर द्विजेन्द्रलाल राय सदृश साहित्यिकों ने उसे पूर्णता तक पहुंचा दिया।

इस युग के अन्य बंगाली साहित्यकारों में अक्षयकुमार दत्त, राज-

नारायण बोस, देवेन्द्रनाथ टैगोर, हेमचन्द्र बैनर्जी और नवीनचन्द्र सेन के नाम भी उल्लेखनीय हैं। नवीन शिक्षा के प्रसार के कारण बंगाल में इस समय साहित्य-सृजन की एक ऐसी परम्परा का प्रारम्भ हो गया था, जिसके कारण जहां बंगाली साहित्य असाधारण रूप से उन्नति कर रहा था, वहां जनता को भी नये विचारों से परिचय प्राप्त करने का अनुपम अवसर मिल रहा था। बंगाल की साहित्यिक प्रतिभा का सर्वोत्कृष्ट रूप रवीन्द्रनाथ टैगोर (१८६१–१९४१) के रूप में प्रगट हुआ, जिनकी ख्याति न केवल भारत में अपितु अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में भी सर्वत्र फैल गई। १९१३ में उनकी प्रसिद्ध पुस्तक 'गीतांजलि' पर नोबेल पुरस्कार प्रदान किया गया, और विश्व भर के साहित्यिकों ने उनके प्रति अपनी श्रद्धांजलि भेंट की। गद्य, पद्य, नाटक, निबन्ध रचना, संगीत, चित्रकला—सब पर रवीन्द्रनाथ का समान रूप से अधिकार था, और उनकी कृतियां विश्व-साहित्य का स्थायी अंग बन गई हैं। इतिहास में उनकी गणना सदा अमर व 'अमर्त्य' साहित्यिकों में की जायगी। शरच्चन्द्र चट्टोपाध्याय आदि कितने ही अन्य साहित्यकार भी आधुनिक युग में बंगाल में हुए। इनके नामों का निर्देश करना भी इस इतिहास में संभव नहीं है। पर ध्यान देने योग्य बात यह है, कि भारत के नवजागरण में इन साहित्यकारों का बहुत महत्वपूर्ण स्थान है, और आज जनता में जो नई स्फूर्ति व चेतना उत्पन्न हो गई है, उसका श्रेय अनेक अंशों में इन्हीं को दिया जाना चाहिये।

बंगाली भाषा के समान हिन्दी में भी ब्रिटिश युग में साहित्य का बहुत विकास हुआ। उन्नीसवीं सदी के शुरू में ईसाई मिशनरियों द्वारा हिन्दी में भी बाइबल का अनुवाद प्रकाशित किया गया। मिशनरियों द्वारा जो अनेक स्कूल इस युग में स्थापित किये जा रहे थे, उनमें अंग्रेजी के साथ-साथ हिन्दी, उर्दू आदि भारतीय भाषाओं की भी शिक्षा दी जाती थी। मिशनरियों ने आवश्यकता अनुभव की, कि भारतीय भाषाओं में पाठ्य-पुस्तकें तैयार की जानी चाहियें। इसीलिये १८३३ ई० में उन्होंने आगरा में 'स्कूल बुक सोसायटी' की स्थापना की, और उसकी ओर से इतिहास आदि विषयों पर अनेक हिन्दी पुस्तकें प्रकाशित हुई। १८५७ की राज्यक्रांति से पूर्व ही ईसाई मिशनरियों की ओर से मिर्जापुर में 'आरफेन प्रेस' नाम से एक मुद्रणालय कायम हो चुका था, जिससे शिक्षा-संबंधी अनेक पुस्तकें प्रकाशित की गई थीं। उन्नीसवीं सदी के प्रारम्भिक भाग में कलकत्ता के फोर्ट विलियम कालेज की ओर से हिन्दी और उर्दू में गद्य की पुस्तकें लिखवाने की व्यवस्था की

गई थी, और हिन्दी में पुस्तकें लिखने के लिये लल्लूजी लाल और सदल मिश्र को नियत किया गया था। मुंशी सदासुखलाल और इंशाअल्ला खां सदृश व्यक्ति स्वतंत्र रूप से भी इस युग में गद्यग्रंथ लिखने के लिये तत्पर थे। इस प्रकार उन्नीसवीं सदी के पूर्वार्ध में ही हिन्दी के गद्य-साहित्य का निर्माण प्रारम्भ हो गया था। स्वामी दयानन्द सरस्वती ने अपने ग्रंथों को हिन्दी में लिखकर हिन्दी-गद्य-साहित्य के विकास के लिये बहुत महत्त्वपूर्ण कार्य किया। उन्नीसवीं सदी के मध्य भाग में उन्होंने जिस प्रकार के विशाल ग्रंथ हिन्दी-भाषा में लिखे, वे वस्तुतः हिन्दी-साहित्य के लिये नई बात थे। स्वामीजी हिन्दी को आर्यभाषा कहते थे, और अपने अनुयायियों से आशा करते थे, कि वे हिन्दी में ही अपना सब कार्य किया करें।

उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध के हिन्दी लेखकों में पंडित श्रद्धाराम फुल्लौरी, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, राजा शिवप्रसाद, राजा लक्ष्मणसिंह, पंडित प्रतापनारायण मिश्र, पंडित बालकृष्ण भट्ट, ठाकुर जगमोहनसिंह और श्री बदरीनारायण चौधरी के नाम विशेषरूप से उल्लेखनीय हैं। इनमें भी भारतेंदु हरिश्चन्द्र का स्थान सर्वोच्च है। हरिश्चन्द्र उत्कृष्ट कवि, सफल नाटककार और मंजे हुए गद्य-लेखक थे। अनेक संस्कृत नाटकों का उन्होंने हिन्दी में अनुवाद किया, और बहुत-से मौलिक ग्रंथों की रचना की। भारतेंन्दु हरिश्चन्द्र भारत की दुर्दशा को अनुभव करते थे, और देशभक्ति की भावना उनमें उत्कट रूप से विद्यमान थी। उनकी पुस्तकों ने पाठकों का ध्यान नवयुग की विचारसरणी की ओर आकृष्ट किया, और उनमें नई स्फूर्ति का संचार किया।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के बाद हिन्दी-साहित्य की चौमुखी उन्नति हुई। कितने ही साहित्यिकों ने बंगला, संस्कृत, अंग्रेजी आदि के उत्कृष्ट ग्रंथों का अनुवाद कर या मौलिक ग्रंथ लिखकर हिन्दी-साहित्य की श्रीवृद्धि की। उपन्यास, नाटक, काव्य, निबन्ध आदि सब प्रकार का साहित्य हिन्दी में प्रकाशित होना शुरू हुआ। यहां हमारे लिये यह संभव नहीं है, कि इन साहित्यकारों का संक्षेप के साथ भी परिचय दे सकें। हिन्दी के पाठक उनसे भलीभांति परिचित हैं। इन साहित्यिकों में किशोरीलाल गोस्वामी, महावीरप्रसाद द्विवेदी, बालमुकुन्द गुप्त, रूपनारायण पांडेय, ज्वालाप्रसाद मिश्र, रामकृष्ण वर्मा, देवकीनन्दन खत्री, गोपालराम गहमरी, अयोध्यासिंह उपाध्याय, चन्द्रधर शर्मा गुलेरी, प्रेमचन्द, पद्मसिंह शर्मा, जयशंकर प्रसाद आदि का स्थान बहुत

महत्त्वपूर्ण है। इनके प्रयत्न से हिन्दी-साहित्य बहुत समृद्ध हो गया। आधुनिक युग के हिन्दी-साहित्यिकों में प्रेमचन्द का स्थान सर्वोच्च है। उनके उपन्यास व कहानी-संग्रह विश्व-साहित्य की विभूतियां हैं, और उनकी गणना संसार के सर्वोत्कृष्ट आधुनिक साहित्यिकों में की जा सकती है।

भारत के नवजागरण के परिणामस्वरूप हिन्दी-साहित्य के उत्कर्ष की जो प्रक्रिया बीसवीं सदी के प्रारम्भ में शुरू हुई थी, वह अब तक भी पूर्ण वेग के साथ जारी है। वर्तमान समय के हिन्दी-साहित्यिकों में मैथिलीशरण गुप्त, राहुल सांकृत्यायन, रामनरेश त्रिपाठी, महादेवी वर्मा, सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला', यशपाल आदि का बहुत ऊंचा स्थान है, और इनकी कृतियां हिन्दी-साहित्य के लिये गौरव की वस्तु हैं। न केवल साहित्य के क्षेत्र में, अपितु इतिहास, अर्थ-शास्त्र, राजनीतिशास्त्र, रसायन, चिकित्साशास्त्र, भौतिक विज्ञान आदि आधुनिक विषयों पर भी हिन्दी में उत्कृष्ट ग्रंथों की रचना तेजी के साथ हो रही है, और वह समय दूर नहीं है, जब कि संसार की अन्य उन्नत भाषाओं के समान हिन्दी-भाषा का वाङमय भी अत्यन्त उन्नत दशा को प्राप्त हो जायगा। यह बात भारत के नवजागरण का एक महत्त्वपूर्ण अंग है।

गुजराती, मराठी, उर्दू, तामिल, तेलुगु आदि अन्य भाषाओं की भी ब्रिटिश युग में बहुत उन्नति हुई। हाली, मुहम्मद इकबाल, अकबर आदि कवियों ने उर्दू में इस प्रकार के काव्य की रचना की, जिससे भारत के नवजागरण में बहुत सहायता मिली। इकबाल का 'सारे जहां से अच्छा हिन्दोस्तां हमारा' गीत उत्तरी भारत के घर-घर में गाया जाने लगा, और उसने सर्वसाधारण जनता में राष्ट्रीय चेतना को उत्पन्न करने में बहुत सहायता की। हाली ने अपने काव्य द्वारा इस्लाम के लुप्त गौरव की ओर पाठकों का ध्यान आकृष्ट किया, और भविष्य में फिर उन्नति करने के लिये उन्हें प्रेरणा दी। मराठी भाषा के आधुनिक साहित्यिकों में लोकमान्य तिलक, केलकर, फड़के, हरिनारायण आपटे आदि के नाम बहुत प्रसिद्ध हैं। गुजराती में रमनलाल बसन्तलाल देसाई और कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी ने बहुत-से साहित्यिक ग्रंथ लिखे। धूमकेतु, चन्द्रवदन मेहता, चुन्नीलाल, बलवन्तराम आचार्य आदि साहित्यिकों की गुजराती रचनाओं ने भी बहुत प्रसिद्धि प्राप्त की। उत्तरी भारत की विविध भाषाओं के समान दक्षिण की तामिल और तेलुगु भाषाओं में भी ब्रिटिश युग में नये साहित्य का निर्माण हुआ। भारत के इन साहित्यकारों का परिचय इस पुस्तक में दे सकना न संभव है, और न उसकी आवश्यकता ही है।

ध्यान देने योग्य बात केवल यह है, कि ब्रिटिश शासन की स्थापना होने के बाद भारत में नवजागरण की जो प्रक्रिया प्रारम्भ हुई थी, उसमें नवीन साहित्य ने बहुत सहायता पहुंचाई, और नवयुग का यह साहित्य स्वयं भी भारत के इस नवजागरण का एक महत्त्वपूर्ण परिणाम है। भारत के इस नवीन साहित्य में न निराशा की भावना है, और न ही जनता को मोहनिद्रा में सुलानेवाले विलास की अभिव्यक्ति। भारत का यह नया साहित्य प्रगतिशील है। इसे पढ़कर देश की दुर्दशा की अनुभूति होती है, और साथ ही अपने उत्कर्ष की उत्कट अभिलाषा इससे उत्पन्न होती है। स्त्रियों की हीन दशा, अछूतों की समस्या, भारत का प्राचीन गौरव, ऊंच-नीच की भावना और जातिभेद की बुराई, जमींदारी प्रथा के दोष आदि विषय थे, जिन्हें लेकर इस युग के पहले साहित्यिकों ने अपनी रचनायें लिखीं। विदेशी शासन के विरुद्ध भावना उत्पन्न करने में इस साहित्य ने बहुत उपयोगी कार्य किया। जब भारत में स्वराज्य स्थापित हो गया, तो भारत के साहित्यिक उन समस्याओं की ओर जनता का ध्यान आकृष्ट करने के लिये तत्पर हुए, जो पूंजीपतियों के शोषण व गरीब-अमीर के भेद के रूप में अब तक भी हमारे देश में विद्यमान हैं। भारत के उज्ज्वल भविष्य का यह ज्वलन्त प्रमाण है।

(४) कला और संगीत

जिस प्रकार अफगान और मुगल लोगों के सम्पर्क से भारत की वास्तुकला, चित्रकला, संगीत व नृत्यकला में अनेक नवीन तत्त्वों का प्रवेश हुआ था, उसी प्रकार अब ब्रिटिश लोगों के सम्पर्क द्वारा भी हुआ। नवजागरण के युग में जिस नई चित्रकला का विकास भारत में हुआ, उसका प्रधान श्रेय हैवेल और अवनीन्द्रनाथ टैगोर को है। श्री हैवेल कलकत्ता के 'स्कूल आफ आर्ट्स' के आचार्य (प्रिंसिपल) थे। उन्हें भारत की प्राचीन चित्रकला से बहुत प्रेम था, और उसके तत्त्वों को नवयुग के भारतीयों के सम्मुख उपस्थित करने के संबंध में उन्होंने बहुत महत्त्वपूर्ण कार्य किया। अवनीन्द्रनाथ टैगोर ने चित्रकला की शिक्षा पाश्चात्य कलाकारों द्वारा प्राप्त की थी, पर उन जैसे प्रतिभाशाली व भावुक भारतीय कलाकार का हृदय पाश्चात्य कला का अनुसरण करने मात्र से संतोष अनुभव नहीं कर सकता था। हैवेल के सम्पर्क में आकर उन्हें भारत की प्राचीन व मध्यकालीन चित्रकला का बोध हुआ, और उसके प्रमुख तत्त्वों को अपनी कला में समावेश करने के उन्होंने एक ऐसी नई

शैली का विकास किया, जो आज तक भारत के प्रगतिशील कलाकारों के लिये आदर्श व अनुकरणीय बनी हुई है। सुरेन्द्र गांगुली, नन्दलाल बोस, असितकुमार हालदार आदि प्रसिद्ध कलाकारों ने अवनीन्द्रनाथ टैगोर के सम्पर्क से ही अपनी कला का विकास किया। अवनीन्द्रनाथ ने कलकत्ता में 'इंडियन सोसायटी आफ ओरियन्टल आर्ट' (प्राच्य कला की भारतीय परिषद्) का संगठन किया, जिसका प्रधान उद्देश्य भारतीय कला की प्राचीन परम्परा का पुनरुद्धार करना था। कला के क्षेत्र में भारत का यह पुनर्जागरण था। इससे पूर्व पाश्चात्य लोगों का अन्धानुकरण कर जो चित्रकला भारत में विकसित होने लगी थी, उसमें भारत की हार्दिक अनुभूति की अभिव्यक्ति नहीं हो पाती थी। रविवर्मा के चित्र इस कला के उदाहरण हैं। यद्यपि रविवर्मा के चित्रों का विषय भारत के प्राचीन आख्यान है, पर उन्हें देखकर कोई मनुष्य प्राचीन वातावरण में नहीं पहुंच पाता। उनकी आलोचना करते हुए हैवेल ने लिखा है—रविवर्मा के चित्रों में महाभारत के वीर पुरुषों की आकृति आजकल के खिदमतगारों के समान, राधा और सीता की आकृति वर्तमान समय की आयाओं के सदृश और राक्षस स्त्रियों का रूप आजकल की कुली स्त्रियों के समान बनाया गया है, जो वास्तविकता के सर्वथा प्रतिकूल है। अवनीन्द्रनाथ टैगोर और उसकी शिष्यमंडली द्वारा इस दशा में परिवर्तन आया, और इस प्रकार के चित्र बनने शुरू हुए, जो न केवल भारत की प्राचीन परम्परा के अनुरूप है, पर साथ ही जो इस देश की आत्मा को भी अभिव्यक्त करते हैं। अवनीन्द्रनाथ और हैवेल ने जिस रूप में भारत की प्राचीन व मध्यकालीन चित्रकला के सौन्दर्य को प्रगट किया, उससे पाश्चात्य कलाकार भी इसकी ओर आकृष्ट हुए, और वे इसकी उत्कृष्टता को स्वीकार करने लगे। विदेशियों का ध्यान भारत की चित्र-कला की ओर आकृष्ट करने में आनन्द कुमारस्वामी ने भी बहुत महत्वपूर्ण कार्य किया। उन्होंने अमेरिका और यूरोप में भारतीय कला के संबंध में बहुत-से व्याख्यान दिये, और इसी विषय पर अनेक पुस्तकों की भी रचना की। पाश्चात्य जगत् के कलाकार अब इस बात को स्वीकार कर चुके हैं, कि वास्तुकला और चित्रकला के क्षेत्र में भारतीयों ने अनुपम प्रतिभा का प्रदर्शन किया था, और उनकी कलात्मक कृतियां वस्तुतः अत्यन्त उत्कृष्ट है। हैवेल, अवनीन्द्रनाथ और कुमारस्वामी के प्रयत्नों का ही यह परिणाम है, कि अब पाश्चात्य देशों में ऐसी अनेक संस्थायें कायम हो गई हैं, जो भारतीय कला का विशेषरूप से अनुशीलन करने में तत्पर रहती हैं।

अवनीन्द्रनाथ टैगोर व उनकी शिष्यमडली के अतिरिक्त अन्य भी अनेक ऐसे कलाकार इस युग में उत्पन्न हुए, जिन्होंने स्वतंत्ररूप से भारतीय चित्रकला का विकास किया। इनमें अब्दुल रहमान चुगताई और अमृत शेरगिल के नाम उल्लेखनीय हैं। कलकत्ता, शान्तिनिकेतन बोलपुर, लखनऊ आदि स्थानों पर अनेक ऐसी संस्थायें भी इस युग में कायम हुई, जिन्होंने चित्रकला के विकास के संबंध में महत्त्वपूर्ण कार्य किया।

चित्रकला के समान संगीत और नाट्य के क्षेत्र में भी ब्रिटिश युग के भारत में नवजागरण हुआ। पंडित विष्णुनारायण भटखंडे ने बम्बई की ज्ञानोत्तेजक मंडली द्वारा संगीत के प्रचार में बहुत कार्य किया। उन्हीं के प्रयत्न से १९१६ में अखिल भारतीय संगीत सम्मेलन का बड़ौदा में प्रथम अधिवेशन हुआ, और उसके बाद अन्य स्थानों पर भी इस सम्मेलन के अधिवेशन हुए। भटखंडे ने बड़ौदा मे संगीत के उत्कर्ष के लिये एक नई संस्था की भी स्थापना की। विष्णु दिगम्बर ने गान्धर्व महाविद्यालय की स्थापना कर संगीत के प्रति जनता में बहुत अधिक रुचि उत्पन्न की। उनके अनेक शिष्य आजकल भारत के प्रधान संगीताचार्य माने जाते है। विष्णु दिगम्बर द्वारा गाया हुआ 'रघुपति राघव राजाराम, पतितपावन सीताराम' गीत आज भारत के घर-घर में गाया जाता है। रवीन्द्रनाथ टैगोर द्वारा बंगाल में संगीत की एक नई परम्परा का प्रारम्भ हुआ, जो 'रवीन्द्रसंगीत' के नाम से प्रसिद्ध है। जालन्धर में नियमपूर्बक संगीत-सम्मेलन संगठित होते रहे, जिनसे उत्तरी भारत के संगीत-प्रेमियों को बहुत प्रोत्साहन मिला। सिनेमा के प्रवेश के कारण भारत के प्राचीन संगीत को कुछ धक्का अवश्य लगा, और जनता की रुचि कलात्मक संगीत की ओर से हटकर फिल्मी गीतों की ओर बढ़ने लगी। पर प्राचीन व मध्यकालीन कला के अनुयायी ऐसे संगीताचार्य अब भी भारत में विद्यमान है, जो सर्वसाधारण जनता को भी अपनी कला द्वारा मन्त्रमुग्ध करने की सामर्थ्य रखते है। सुरुचिसम्पन्न लोग इनकी कला का आदर करते हैं, और शिक्षा के प्रसार के साथ-साथ कलात्मक संगीत के प्रति जनता की रुचि में निरन्तर वृद्धि हो रही है।

अन्य क्षेत्रों में नवजागरण के साथ ही नृत्य की कत्थक, कथाकली, भारत-नाट्यम्, मैनपुरी आदि पुरानी शैलियों के प्रति भी जनता की रुचि बढ़ रही है। उदयशंकर, रामगोपाल आदि नृत्याचार्यों के प्रयत्न से न केवल भारत में अपितु विदेशों में भी भारत की नृत्यकला का आदर होने लगा है।

अंग्रेजी शासन की स्थापना के साथ ही भारत में पाश्चात्य वास्तुकला का भी प्रवेश हुआ। भारत में अंग्रेजों की पहली राजधानी कलकत्ता थी। विक्टोरिया मेमोरियल आदि जो नई इमारतें अंग्रेजों द्वारा कलकत्ता में बनवाई गईं, उनका निर्माण पाश्चात्य वास्तुकला के अनुसार ही किया गया था। दिल्ली को राजधानी बनाने के बाद अंग्रेजों ने वहां भी बहुत-सी नई इमारतें बनवाईं। नई दिल्ली के रूप में एक नया नगर ही इस युग में बस गया, जो दिल्ली के तुगलकाबाद, शाहजहानाबाद आदि के समान भारतीय इतिहास के एक नवीन युग का प्रतिनिधि है। इस नगर में वाइसरीगल लॉज, पार्लियामेन्ट हाउस आदि जो प्रसिद्ध इमारतें हैं, वे सब पाश्चात्य वास्तुकला के अनुरूप हैं। नई दिल्ली नगरी का आयोजन भी पाश्चात्य कला के अनुसार ही किया गया है। बम्बई, मद्रास, लखनऊ, लाहौर आदि अन्य बड़े नगरों में भी इस काल में पाश्चात्य वास्तुकला के अनुसार नई-नई इमारतों का निर्माण हुआ, और बहुत-से भारतीय भी अपने भवनों का निर्माण करने के लिये इसी नवीन कला का अनुसरण करने लगे। पर यह संभव नही था, कि नवजागरण का प्रभाव वास्तुकला पर न पड़ता। अनेक कल्पनाशील व्यक्तियों ने इस क्षेत्र में भी भारत की प्राचीन कला का पुनरुद्धार करने का प्रयत्न किया। रवीन्द्रनाथ टैगोर के शांति-निकेतन में अनेक इमारतों में भारतीय कला का उपयोग किया गया, और दिल्ली आदि के बिड़ला-मंदिरों में भी इस कला के अनेक विशिष्ट तत्त्वों को अपनाया गया। इसमें सन्देह नहीं, कि भवन-निर्माण जैसे कार्य में आधुनिक युग की प्रवृत्तियों की उपेक्षा कर सकना संभव नहीं है। पर भारत की जलवायु को दृष्टि में रखते हुए यह भी संभव नहीं है, कि इस देश की इमारतें इंगलैंड व फ्रांस जैसे शीतप्रधान देशों की नकल मात्र हों। इसलिये वास्तुकला के क्षेत्र में पुरानी परिपाटी का अनुसरण क्रियात्मक दृष्टि से भी उपयोगी है। साथ ही, जहां तक कला का संबंध है, भारत के आधुनिक भवनों में उसका उपयोग सौंदर्य की वृद्धि में अवश्य सहायक होता है। यही कारण है, कि प्रगतिशील लोग वास्तुकला के क्षेत्र में भी प्राचीन परम्परा के उपयोगी व कलात्मक तत्त्वों के प्रयोग के पक्षपाती हैं।

चित्रकला, संगीत, नाट्य, वास्तुकला आदि सभी क्षेत्रों में जो नई उन्नति बीसवीं सदी के पूर्वार्ध में हुई, वह भारत के उस नवजागरण की प्रक्रिया का ही परिणाम थी, जो इस देश को उन्नति-पथ पर आरूढ़ करने में समर्थ हुई है।

सहायक ग्रंथ

Andrews C. F. : Indian Renaissance.
Grierson : Modern vernacular Literature of Hindustan.
Strachey : India, its Administration and Progress.
Sarkar : India through the Ages.
Vidyarthi : India's Culture through the Ages.
Mazumdar etc. : An Advanced History of India.

तेतीसवां अध्याय

ब्रिटिश युग में भारत की भौतिक उन्नति

(१) नई भौतिक उन्नति

संसार के इतिहास में आधुनिक युग की एक मुख्य विशेषता यह है, कि इस काल में मनुष्य ने प्रकृति पर विजय प्राप्त कर उसका उपयोग अपनी सुख-समृद्धि के लिये किया। अत्यन्त प्राचीन काल में मनुष्य अपने को प्रकृति के सम्मुख असहाय अनुभव करता था। जल,वायु, अग्नि, सूर्य आदि प्रकृति के तत्त्वों को वह आश्चर्य के साथ देखता था, और उनके सामने सिर झुका देने में ही अपना हित व कल्याण समझता था। इसीलिये इन सब प्राकृतिक शक्तियों में उसने देवत्व की भावना की, और अनेक प्रकार के विधि-विधानों व अनुष्ठानों से उन्हें संतुष्ट करने का प्रयास किया। वायु, अग्नि आदि जीवित-जागृत सत्तायें हैं, जो कुपित होकर मनुष्य का अनर्थ कर सकती है, अतः उन्हे संतुष्ट रखने मे ही मनुष्य का लाभ है——ये विचार प्रस्तर-युग व उसके बाद के मनुष्यों में प्रायः सर्वत्र विद्यमान थे। पर धीरे-धीरे मनुष्य ने इन प्राकृतिक तत्त्वों का उपयोग शुरू किया। अग्नि को वह भोजन पकाने व अस्त्र-शस्त्रों के निर्माण के लिये प्रयुक्त करने लगा। जल और वायु की शक्ति से उसने चक्कियां चलाई। पर आधुनिक युग से पूर्व मनुष्य प्रकृति पर उस प्रकार से विजय नहीं पा सका था, जैसी कि उसने अठारहवीं सदी के बाद प्राप्त की है। वैज्ञानिक परीक्षणों द्वारा मनुष्य ने यान्त्रिक शक्ति का आविष्कार किया, और भाप, बिजली, गैस आदि की शक्तियों का प्रयोग वह आर्थिक उत्पत्ति के लिये करने में तत्पर हुआ। यही कारण है, जो पिछली दो सदियों में मनुष्य ने भौतिक क्षेत्र में इतनी अधिक उन्नति की है।

समाज और राजनीति के क्षेत्रों में भी आधुनिक युग में जो कुछ प्रगति हुई है, उसका आधारभूत कारण मनुष्य की यह भौतिक उन्नति ही है। व्यावसायिक क्रान्ति के कारण मनुष्य बड़े पैमाने पर आर्थिक उत्पत्ति करने में समर्थ हुआ।

यान्त्रिक शक्ति से चलनेवाले विशालकाय कारखानों में कार्य करने के लिये हजारों मजदूर बड़े नगरों में एकत्र होने लगे। इस नई परिस्थिति के कारण व्यावसायिक जीवन का स्वरूप ही एकदम परिवर्तित हो गया। अपने घर पर बैठकर स्वतन्त्र रूप से कार्य करनेवाले शिल्पियों का स्थान अब कारखानों में काम करनेवाले मजदूरों ने लिया, जो पूजीपतियों के वशवर्ती होकर आर्थिक उत्पत्ति में तत्पर हुए। इस नई दशा में विचारशील मनुष्यों ने यह सोचना शुरू किया, कि विविध मनुष्यों में परस्पर किस प्रकार का सम्बन्ध होना चाहिये। इसी कारण 'समाजवाद' आदि नई विचारधाराओं का विकास हुआ, जो मानव-समाज के स्वरूप को ही परिवर्तित कर देने के लिय प्रयत्नशील है। छापेखाने, कागज आदि के आविष्कार के कारण विद्या व ज्ञान केवल कतिपय व्यक्तियों तक ही सीमित नहीं रह गये, और सर्वसाधारण जनता को शिक्षित होने व नये विचारों से परिचित होने का अवसर मिला। राजाओं के एकतन्त्र शासन व कुलीन वर्ग के विशेषाधिकारों के विरुद्ध भावना उसमें उत्पन्न हुई, और लोकतन्त्रवाद का विकास हुआ।

रेल, तार, रेडियो, हवाई जहाज आदि के आविष्कार के कारण देश और काल पर विजय स्थापित हुई, और संसार के विभिन्न देश एक दूसरे के बहुत समीप आ गये। इन्हीं भौतिक साधनों का यह परिणाम है, कि आज अमेरिका में जो नया आविष्कार होता है, वह शीघ्र ही भारत, चीन, अफ्रीका आदि में भी पहुंच जाता है, और रूस व जर्मनी से जो नई विचारधारा शुरू होती है, वह शीघ्र ही अन्य देशों के विचारकों को भी प्रभावित करती है।

भौतिक उन्नति के इस युग में यह सर्वथा स्वाभाविक था, कि भारत में भी उन सब नये साधनों का उपयोग शुरू होता, जिनका आविष्कार यूरोप में अठारहवीं सदी में प्रारम्भ हुआ था, और जिनमें बाद के काल में निरन्तर उन्नति होती गई। विज्ञान व विचार हवा के सदृश होते है, जो कभी किसी एक देश तक सीमित नहीं रह सकते। आधुनिक युग में भारत में जो भौतिक उन्नति हुई, उसका श्रेय प्रायः ब्रिटिश शासकों को दिया जाता है। पर इस उन्नति के लिये ब्रिटिश शासकों का रुख सहायक न होकर बाधक था। यह सत्य है, कि अंग्रेजों ने भारत में रेलवे का निर्माण किया, डाक-तार आदि की व्यवस्था की, अनेक नई सड़कें बनवाई, और नई नहरें भी खुदवाई। पर इन सब कार्यों में उनका उद्देश्य अपने शासन को सुदृढ़ व सुव्यवस्थित करना था। भारतीय जनता की भौतिक उन्नति की उन्हें कोई विशेष चिन्ता नहीं थी। वे भारत को इङ्गलैण्ड की आर्थिक समृद्धि का साधन

समझते थे। इसी कारण उनकी नीति यह थी, कि इस देश में व्यवसायों का विकास न होने पावे। यहां केवल कच्चे माल की ही उत्पत्ति हो, जिसे सस्ती कीमत पर खरीद कर वे इङ्गलैण्ड के कारखानों को समृद्ध व उन्नत बनाने के लिये प्रयुक्त कर सकें। उन्नीसवी सदी के अन्त तक अंग्रेजों का यही प्रयत्न रहा, कि भारत से कपास, जूट आदि सस्ते मूल्य पर खरीदकर उसे इङ्गलैण्ड के कारखानों में तैयार माल के रूप में परिणत किया जाय, और फिर उसे ऊँची कीमत पर भारत में बेचा जाय। बीसवी सदी में इस नीति में परिवर्तन आया, पर इसका कारण अंग्रेजों का भारत-प्रेम नहीं था। १९१४--१८ के महायुद्ध के अवसर पर युद्ध की आवश्यकताओं से विवश होकर अंग्रेजों ने भारत की व्यावसायिक उन्नति पर ध्यान दिया, और इस देश में उस भौतिक उन्नति का सूत्रपात हुआ, जिसके कारण आज भारत व्यावसायिक क्षेत्र में एशिया के सर्वाधिक उन्नत देशों में गिना जाता है।

पर इसमें सन्देह नही, कि उन्नीसवीं सदी में ही भारत में भौतिक उन्नति की दृष्टि से नवयुग के चिह्न प्रगट होने शुरू हो गये थे। ये चिह्न निम्नलिखित क्षेत्रों में प्रगट हुए--(१) रेलवे--भारत में पहलेपहल रेलवे का निर्माण १८५३ ई० में हुआ। शुरू में जो रेलवे लाइनें बनीं, वे केवल बम्बई, कलकत्ता और मद्रास के समीपवर्ती प्रदेशों में थी। बाद में इनकी बहुत वृद्धि हुई। भारत के विविध क्षेत्रों में रेलवे का निर्माण करने के लिये इङ्गलैण्ड में अनेक कम्पनियां खोली गईं, जिन्हें सरकार की ओर से यह गारण्टी दी गई, कि यदि उनका मुनाफा पांच प्रतिशत से कम होगा, तो उसे भारतीय सरकार की ओर से पूरा कर दिया जायगा। अपने रुपये के सूद व मुनाफे के विषय में निश्चिन्त होकर अंग्रेज पूंजीपतियों ने भारतीय रेलवे कम्पनियों में दिल खोलकर रुपया लगाया, और इस कारण इस देश में रेलवे का विस्तार बड़ी तेजी के साथ होने लगा। उन्नीसवीं सदी के अन्त तक भारत में रेलवे लाइनों का एक जाल-सा बिछ गया था। बीसवीं सदी में रेलवे का और अधिक विस्तार हुआ, और अब वह समय आ चुका है, जब कि यातायात की दृष्टि से भारत को संसार के उन्नत देशों में गिना जा सकता है। निःसन्देह, रेलवे के कारण भारत में यातायात की बहुत सुविधा हो गई, और इससे देश के आन्तरिक और विदेशी व्यापार में बहुत सहायता मिली। (२) रेलवे लाइनों के साथ-साथ अंग्रेजी सरकार ने पक्की सड़कों के निर्माण पर भी ध्यान दिया। भारत में सड़कें पहले भी विद्यमान थीं, और यातायात व व्यापार के लिये उनका उपयोग भी होता था। पर कंकड़ व तारकोल द्वारा जिस ढंग की नई सड़कें इस युग में बनीं, उनसे मोटरकार आदि यान्त्रिक शक्ति से चलनेवाले यानों के लिये भी उनका उपयोग

सुगम हो गया। (३) रेलवे के विस्तार से पूर्व भारत में जलमार्गों का बहुत महत्त्व था। गंगा आदि नदियों में चलनेवाली नौकाओं से माल को एक स्थान से दूसरे स्थान पर पहुंचाने में बहुत सहायता मिलती थी। इसी प्रकार समुद्रतट के साथ-साथ उस समय बहुत-से जहाज चला करते थे। अंग्रेजी शासन में रेलों के चलने के कारण इन जलमार्गों का महत्त्व बहुत कम हो गया। समुद्रतट के साथ-साथ व्यापार के लिये जहाजों का प्रयोग इस युग में भी जारी रहा, पर ये जहाज भारतीयों के हाथ से निकलकर अंग्रेजी कम्पनियों के स्वामित्व में आ गये। भारत के विदेशी व्यापार के लिये भी भाप की शक्ति से चलनेवाले विशालकाय जहाजों का प्रयोग शुरू हुआ। पर ये जहाज भी अंग्रेजों की ही सम्पत्ति थे। यद्यपि भारत के आन्तरिक व बाह्य जलमार्ग व उनपर चलनेवाले जहाज ब्रिटिश युग में भारतीयों के स्वामित्व में नहीं रहे, पर यह स्वीकार करना होगा, कि भाप की शक्ति से संचालित विशालकाय जहाजों के कारण भारत के विदेशी व्यापार में बहुत सहायता मिली, और इससे उसकी भौतिक उन्नति भी पहले की अपेक्षा अधिक हो गई। (४) भारत जैसे कृषिप्रधान देश के लिये सिंचाई का महत्त्व बहुत अधिक है। प्राचीन और मध्य काल में भी अनेक राजाओं ने सिचाई के लिये नहरें निकालने की बात पर बहुत ध्यान दिया था। ब्रिटिश शासकों ने भी भारत की इस समस्या को महत्त्व दिया। इसी कारण १८७४ में आगरा कैनाल का, १८७८ में गंगा की नहर का और १८८२ में पश्चिमी यमुना कैनाल का निर्माण हुआ। गंगा-यमुना द्वारा सिंचित प्रदेशों में खेती की सिचाई के कार्य में इन नहरों से बहुत सहायता मिली। १८९० ई० में चनाब नदी से एक बड़ी नहर पंजाब में निकाली गई, जिससे बीस लाख एकड़ परती पड़ी हुई जमीन की सिंचाई का प्रबन्ध हुआ। चनाब और रावी नदियों के बीच का बहुत-सा प्रदेश इस नहर के निकलने से पूर्व ऊजड़ पड़ा हुआ था। १९०१ तक इस प्रदेश में ८,००,००० मनुष्य आबाद हो गये थे, जो इस नहर की उपयोगिता का स्पष्ट प्रमाण है। बीसवीं सदी में ब्रिटिश सरकार ने सिंचाई की समस्या पर और अधिक ध्यान दिया। इसके परिणामस्वरूप पंजाब में सतलज वेली प्रोजेक्ट, सिन्ध में सक्खर बैरेज, मद्रास में कावेरी-रिजर्वोयर, बाम्बे में लायड-डाम और उत्तर-प्रदेश में शारदा कैनाल का निर्माण किया गया। नहरों के अतिरिक्त ट्यूब वेल बनाने पर भी सरकार ने ध्यान दिया, और इन सब प्रयत्नों के कारण कृषि की बहुत उन्नति हुई। (५) डाक, तार व टेलीफोन के सम्बन्ध में जो उन्नति ब्रिटिश युग में हुई, उसका विशदरूप से उल्लेख कर सकना यहां सम्भव नहीं है। ये सब जहां ब्रिटिश शासन की सुव्यवस्था

के लिये अत्यन्त उपयोगी थे, वहां साथ ही जनता को भी इनसे लाभ उठाने का अवसर मिलता था। भौतिक उन्नति की अन्य अनेक बातों के समान डाक, तार व टेलीफोन भी आधुनिक युग की ही देन है। पाश्चात्य देशों में भी इनका विकास इसी युग में हुआ था। अंग्रेजी शासन में भारत को जिस प्रकार रेलवे प्राप्त हुई, वैसे ही डाक, तार व टेलीफोन की सुविधा भी प्राप्त हुई। इनसे भारत के व्यापार व्यवसाय व भौतिक उन्नति में बहुत अधिक सहायता मिली।

रेलवे, पक्की सड़कें, नहरें, जहाज, डाक, तार आदि भारत के आर्थिक जीवन में एक नया युग लाने में समर्थ हुए। इनके कारण जहां भारतीय जनता का जीवन पहले की अपेक्षा अधिक सम्पन्न बना, वहां साथ ही उसे व्यवसाय और व्यापार के क्षत्र में उन्नति करने का भी अवसर मिला।

(२) व्यवसाय और व्यापार

ब्रिटिश लोगों ने भारत में अपना राज्य स्थापित कर इस देश के व्यवसायों के सम्बन्ध में किस नीति का अनुसरण किया, इसका निर्देश हम इसी अध्याय में ऊपर कर चुके हैं। अंग्रेजों के आगमन से पूर्व भारत शिल्प और व्यवसाय की दृष्टि से अच्छी उन्नत दशा में था। इस देश में तैयार हुआ माल विदेशों में अच्छी बड़ी मात्रा में बिकता था, और यूरोप के बाजारों में बंगाल के वस्त्र की मांग बहुत अधिक थी। भारत के व्यापार से आकृष्ट होकर ही यूरोपियन लोगों ने यहां आना शुरू किया था। सतरहवीं सदी के अन्त तक अंग्रेज लोग भारत के व्यापार से ही संतुष्ट रहे। पर जब अठारहवीं सदी में इङ्गलैण्ड में व्यावसायिक क्रान्ति हुई, और यान्त्रिक शक्ति का उपयोग कर वहां के कारखाने अच्छी बड़ी मात्रा में वस्त्र आदि तैयार माल उत्पन्न करने लगे, और इधर भारत में अंग्रेजी आधिपत्य स्थापित होने लगा, तो अंग्रेजों ने स्वाभाविक रूप से यह प्रयत्न किया, कि वे अपने माल को भारत के बाजारों में बेचकर रुपया पैदा करें, और अपने देश के कारखानों के लिये आवश्यक कपास आदि कच्चा माल यहां से सस्ती कीमत पर प्राप्त करें। इस दशा में उन्होंने भारत के शिल्पों को नष्ट करने के लिये अनेक घृणित उपायों का प्रयोग किया। राजशक्ति का सहारा लेकर उन्होंने बंगाल के वस्त्र-व्यवसाय को नष्ट करने के लिये सब प्रकार के उपायों को प्रयुक्त किया। इस प्रकार अंग्रेजी शासन का एक हानिकारक परिणाम यह हुआ, कि भारत के पुराने व्यवसाय नष्ट होने लगे, और इस देश के बाजार इङ्गलैण्ड के कारखानों में तैयार हुए माल से भर गये। अंग्रेज चाहते थे, कि भारत केवल कृषिप्रधान देश बना रहे, ताकि यहां से

कच्चे माल को सस्ती कीमत में खरीद-सकना उनके लिये जरा भी कठिन न हो। इसी कारण उन्नीसवीं सदी के चतुर्थ चरण के प्रारम्भ होने तक भारत में व्यावसायिक उन्नति जरा भी न होने पाई। अंग्रेजी शासन की पहली एक सदी भारत के आर्थिक जीवन के लिये बहुत ही भयंकर थी। इस काल में सरकार 'मुक्तद्वार वाणिज्य' की नीति का अनुसरण करती थी, जिसके कारण भारत के कारखानों के लिये विदेशी प्रतिस्पर्धा का मुकाबला कर सकना सर्वथा असम्भव था। प्रथम तो इस युग में भारत में कारखानों का विकास हुआ ही नहीं था। पर परम्परागत रूप से जो कतिपय शिल्प व व्यवसाय इस देश में विद्यमान थे, उनके लिये इङ्गलैण्ड के यान्त्रिक शक्ति से चलनेवाले कारखानों का मुकाबला कर सकना असम्भव था। यूरोप में इस समय व्यावसायिक क्रान्ति हो चुकी थी, पर भारत में अभी उसने कोई प्रभाव उत्पन्न नहीं किया था। नये वैज्ञानिक आविष्कारों का लाभ भारत को भी पहुंचने लगा था। रेल, तार आदि के प्रवेश के कारण जनता की सुविधा में वृद्धि हो गई थी। बिजली की रोशनी से कलकत्ता, बंबई सदृश बड़े शहर जगमगाने भी लगे थे। लोगों के यातायात के लिये बिजली से चलनेवाली ट्रामगाड़ियों का भी प्रयोग होने लगा था। ये सब बातें मनुष्यों के सुख व सुविधा की वृद्धि में सहायक तो थीं, पर पाश्चात्य संसार की वैज्ञानिक उन्नति का प्रयोग ब्रिटिश शासकों ने भारत की आर्थिक व व्यावसायिक उन्नति के लिये नहीं किया। इसीलिये शुरू में जो नये ढंग के कारखाने भारत में खोले गये, उन्हें बहुत दिक्कतों का सामना करना पड़ा।

कपड़े का पहला कारखाना भारत में १८१८ ई० में खुला था। पर इसके कारण भारत में वस्त्र-व्यवसाय के विकास का प्रारम्भ नहीं हो गया था। उन्नीसवीं सदी के मध्य भाग (१८५४ ई०) में जब बंबई में कपड़े के कारखाने खुलने लगे, तभी वस्तुतः इस व्यवसाय का भारत में विकास शुरू हुआ। १८७७ ई० के बाद नागपुर, अहमदाबाद, शोलापुर आदि अनेक स्थानों पर कपड़े की मिलें कायम हुईं। बंग-भंग के कारण १९०५ में जब स्वदेशी आन्दोलन ने जोर पकड़ा, तो भारत के अनेक धनी व सम्पन्न लोगों का ध्यान व्यावसायिक उन्नति की ओर आकृष्ट हुआ, और अनेक नई मिलें खुलनी प्रारम्भ हुईं। पर इन मिलों के लिये सफल हो सकना सुगम नहीं था। भारत के बाजार पर अंग्रेजी कपड़े का प्रभुत्व था। लंकाशायर और लिवरपूल की मिलें अपनी प्रभूत पूंजी और दीर्घ अनुभव के कारण जिस ढंग का कपड़ा तैयार करती थीं, वैसा भारत की मिलें नहीं बना सकती थीं। साथ ही, कीमत की दृष्टि से भी विलायती कपड़ा सस्ता पड़ता था।

इस दशा में स्वदेशी मिलें तभी कामयाब हो सकती थीं, जब सरकार उनकी सहायता करती, और संरक्षण-नीति का उपयोग कर स्वदेशी मिलों की रक्षा करने के लिये तत्पर होती। पर भारत की ब्रिटिश सरकार ने मुक्तद्वार वाणिज्य की नीति का अनुसरण किया। जब आर्थिक आमदनी की आवश्यकता से विवश होकर सरकार ने अंग्रेजी माल के आयात पर कर लगाया, तो साथ ही भारतीय मिलों द्वारा तैयार किये माल पर भी उतनी ही एक्साइज ड्यूटी लगा दी, ताकि आयात-कर के कारण स्वदेशी व्यवसायों को किसी प्रकार का लाभ न पहुंच सके। वस्तुतः, बीसवीं सदी के प्रारम्भिक भाग तक अंग्रेजों को भारतीय व्यवसायों की उन्नति का जरा भी ध्यान नहीं था। १६०५ के बाद जब जापान ने व्यावसायिक क्षेत्र में असाधारण उन्नति की, तो उसकी मिलों मे तैयार हुआ सस्ता माल भारत के बाजारों मे प्रचुर परिमाण में आने लगा। अंग्रेजी माल के लिये जापान और जर्मनी के सस्ते माल का मुकाबला करना कठिन हो गया। विवश होकर सरकार ने 'साम्राज्यान्तर्गत रियायती कर' (इम्पीरियल प्रिफरेन्स) की नीति का प्रयोग किया, जिसके अनुसार साम्राज्य से बाहर के देशों के माल के मुकाबले में अंग्रेजी माल पर आयात कर में रियायत की जाती थी। इस नीति के कारण अंग्रेजी माल का जर्मनी और जापान के माल के मुकाबले में सस्ता बिक सकना तो सम्भव हो गया, पर भारतीय व्यवसायों को इससे कोई मदद नही मिली।

१६१४-१८ के महायुद्ध मे जापान और जर्मनी ब्रिटेन के शत्रुपक्ष के देश थ। उनका माल तो इस काल में भारत में आ ही नही सकता था, पर अंग्रेजी माल के लिये भी यहां आ सकना कठिन हो गया, कि शत्रुपक्ष के जंगी जहाजों के आक्रमणों से बचकर अंग्रेजी जहाजों का भारत में आ सकना सुगम नहीं था। इस दशा में भारतीय व्यवसायों को उन्नति का सुवर्णीय अवसर प्राप्त हो गया। भारत के बाजारों में अंग्रजी माल की कमी हो गई, और भारतीय कारखानों का माल वहां प्रचुर परिमाण में दिखाई पड़ने लगा। ब्रिटेन के शत्रुपक्ष में टर्की भी शामिल था। ईराक, सीरिया आदि भी इस काल में युद्ध-क्षेत्र बने हुए थे। यहां के ब्रिटिश पक्ष के सैनिकों के लिये वस्त्र, जूते, युद्ध-सामग्री आदि जिन वस्तुओं की आवश्यकता थी, वे ब्रिटेन से नहीं आ सकते थे, क्योंकि भूमध्यसागर में शत्रुपक्ष के जहाज व पनडुब्बियों की प्रभुता थी। इस युद्धक्षेत्र के लिये आवश्यक सामग्री केवल भारत से ही निरापदरूप में पहुँचाई जा सकती थी। इस दशा में अंग्रेजी सरकार ने भी भारतीय व्यवसायों को उन्नत करने की आवश्यकता को अनुभव किया। महायुद्ध के समय में सरकार भी भारत की व्यावसायिक उन्नति के लिये

उत्सुक हो गई। महायुद्ध की समाप्ति पर वस्तुओं की कीमतें बहुत बढ़ गई थीं। इस स्थिति का भी भारतीय कारखानों ने लाभ उठाया। परिणाम यह हुआ, कि १६१६ ई० के बाद भारत की व्यावसायिक उन्नति बड़ी तेजी के साथ हुई, और ऐतिहासिक दृष्टि से यह कहा जा सकता है, कि जिस ढंग की व्यावसायिक क्रान्ति का प्रार्दुभाव इङ्गलैण्ड में अठाहरवी सदी में हुआ था, वैसी ही व्यावसायिक क्रान्ति का भारत में बीसवीं सदी में सूत्रपात हुआ। व्यावसायिक क्षेत्र में जर्मनी, जापान और रूस इङ्गलैण्ड से प्रायः एक सदी पीछे रहे थे। पर भारत में यह प्रक्रिया प्रायः दो सदी के बाद शुरू हुई।

बड़े-बड़े कारखानों की स्थापना के अनतर भारत में भी पूंजीपतियों और श्रमियों की प्रायः उसी ढंग की समस्यायें उत्पन्न हुई, जैसी कि इङ्गलैण्ड आदि पाश्चात्य देशों में हुई थी। परिणाम यह हुआ, कि यहां भी श्रमीसंघों (ट्रेड यूनियन) की स्थापना हुई, और अनेक विचारशील व्यक्ति मजदूरों का संगठन करने और उनके हितों की रक्षा के लिये तत्पर हुए। इन लोगों के आन्दोलन के कारण सरकार ने अनेक ऐसे कानून बनाये, जिनका उद्देश्य कारखानों में काम करनेवाले मजदूरों की दशा में सुधार करना था। इन कानूनों के अनुसार कारखानों में मजदूरों से अधिक से अधिक कितने घण्टे प्रति सप्ताह काम लिया जा सके, उनकी भृति की न्यूनतम दर क्या हो, बीमार पड़ने और चोट खा जाने की दशा में उन्हें क्या सुविधायें दी जावें—इस प्रकार की बहुत-सी बातों की व्यवस्था की गई। व्यावसायिक क्रान्ति के परिणामस्वरूप जिस प्रकार पाश्चात्य देशों में सोशलिज्म, कम्युनिज्म आदि नये आन्दोलन शुरू हुए, वैसे ही भारत में भी हुए, और यहां भी बहुत-से लोग वैयक्तिक सम्पत्ति और पूंजीवाद का अन्त कर सामाजिक व आर्थिक सगठन में नई व्यवस्था का सूत्रपात करने के लिये कटिबद्ध होने लगे।

व्यावसायिक क्षेत्र के समान अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में भी ब्रिटिश युग में अच्छी उन्नति हुई। १८५५–६० के काल में भारत का विदेशी व्यापार ५२,००,००० रुपया वार्षिक के लगभग था। उस समय इङ्गलैण्ड जानेवाले जहाज अफ्रीका का चक्कर लगाकर जाया करते थे। १८६९ में जब स्वेज नहर बनकर तैयार हो गई, तो समुद्र-मार्ग द्वारा पूर्व और पश्चिम का सम्पर्क बहुत सुगम हो गया। यूरोप आने-जानेवाले माल की ढुलाई के खर्च में भी इससे बहुत कमी हुई। इस कारण भारत के विदेशी व्यापार में बड़ी तेजी के साथ वृद्धि हुई, और सन् १९०० तक उसकी मात्रा दो करोड़ रुपया वार्षिक तक पहुंच गई। महायुद्ध (१९१४–१८) के बाद भारत का यह व्यापार और अधिक तेजी के साथ बढ़ा। १९२८-२९ तक इसकी

मात्रा छः करोड़ रुपया वार्षिक से भी ऊपर पहुँच गई थी। बीसवीं सदी के प्रथम चरण तक भारत के विदेशी व्यापार में कच्चे माल (कपास, जूट, तिलहन, चाय आदि) का निर्यात बहुत अधिक मात्रा में होता था, और उसके आयात माल में वस्त्र, बाइसिकल, रेशम आदि तैयार माल का परिमाण बहुत अधिक था। ज्यों-ज्यों भारत में व्यावसायिक उन्नति होती गई, वस्त्र सदृश तैयार माल का आयात कम होता गया। भारत के विदेशी व्यापार में निरन्तर वृद्धि हो रही है, पर अब वह केवल कच्चे माल का ही निर्यात नहीं करता। उसके तैयार माल की भी विदेशी बाजारों में अच्छी मांग है। हवाई जहाज, मोटरकार, अस्त्र-शस्त्र, इन्जन आदि जिस सामान के लिये अत्यधिक शिल्पनैपुण्य की आवश्यकता है, उनके सम्बन्ध में अब भी भारत बहुत-कुछ अपने आयात-व्यापार पर निर्भर करता है। पर धीरे-धीरे इस स्थिति में परिवर्तन आ रहा है। वह समय अब दूर नहीं है, जब कि भारत व्यावसायिक क्षेत्र में संसार के उन्नत देशों में अपना समुचित स्थान प्राप्त कर लेगा।

इस अध्याय में हमने ब्रिटिश युग में हुई भौतिक उन्नति का अत्यन्त संक्षिप्त रूप से निर्देश किया है। भौतिक व आर्थिक दशा का किसी भी देश की सभ्यता व संस्कृति के साथ सीधा सम्बन्ध होता है। कृषि-प्रधान देश की संस्कृति की तुलना में व्यवसाय-प्रधान देश की सस्कृति अनेक अंशों में भिन्न होती है। रेल, तार, टैलीफोन, रेडियो और यान्त्रिक शक्ति से संचालित कारखानों ने जहां भारत के आर्थिक जीवन पर प्रभाव डाला है, वहां साथ ही यहां की जनता की मानसिक दशा को भी परिवर्तित किया है। आज भारत में समाजवाद-सम्बन्धी जो अनेक आन्दोलन चल रहे हैं, वे इसी आर्थिक उन्नति और व्यावसायिक क्रान्ति के परिणाम है। इन आन्दोलनों ने भारत के धार्मिक, सामाजिक व नैतिक विचारों को भी अनेक अंशों में परिवर्तित किया है। आज जो भारत में बहुत-से लोग पुरानी रूढ़ियों, बद्धमूल धारणाओं और विश्वासों का परित्याग कर एक नये समाज के निर्माण की कल्पना को सम्मुख रखकर कार्य करने के लिये तत्पर है, उसका एक महत्त्वपूर्ण कारण वे समाजवादी आन्दोलन भी है, जो भौतिक उन्नति और व्यावसायिक क्रान्ति के कारण इस देश में विकसित हो रहे हैं।

सहायक ग्रन्थ

Roberts : History of British India.

चौंतीसवां अध्याय

राष्ट्रीय चेतना और राजनीतिक स्वाधीनता

(१) राष्ट्रीय चेतना

राजनीतिक क्षेत्र में आधुनिक युग की मुख्य विशेषतायें राष्ट्रीयता, स्वाधीनता और लोकतन्त्रवाद की भावनायें हैं। मध्यकाल में न राष्ट्रीयता की भावना थी, न स्वाधीनता की और न लोकतन्त्रवाद की। जर्मनी, फ्रांस आदि पाश्चात्य देशों में भी राष्ट्रीय अनुभूति का अभाव था। प्रशिया और बवेरिया के निवासी अपने को जर्मन न मानकर प्रशियन व बवेरियन समझते थे। ग्रेट ब्रिटेन तक में स्काटलैण्ड व वेल्स के निवासी अपने को इङ्गलिश लोगों से भिन्न मानते थे। राष्ट्रीय भावना के अभाव में राष्ट्रीय स्वतन्त्रता का विचार भी मध्य युग में विकसित नहीं हुआ था। आस्ट्रिया का सम्राट् स्पेन, इटली आदि का भी स्वामी हो सकता था, और उनको इसमें कोई असाधारणता अनुभव नहीं होती थी। जर्मनी के अन्यतम प्रदेश का राजा ब्रिटेन के राजसिंहासन पर भी आरूढ़ हो सकता था, और दोनों राज्यों के निवासियों की दृष्टि में इसमें कोई अनौचित्य नहीं था। जिन लोगों की भाषा, धर्म, ऐतिहासिक परम्परा व रीति-रिवाज आदि एक हैं, उनका अपना एक पृथक् राज्य होना चाहिये, और इस राज्य पर किसी विदेशी राजा का शासन नहीं होना चाहिये—यह विचार मध्ययुग में प्रचलित नहीं था। लोकतन्त्रवाद की तो कल्पना भी सतरहवीं सदी तक यूरोप में उत्पन्न नहीं हुई थी। सर्वत्र किसी एक निरंकुश व स्वेच्छाचारी राजा या किसी कुलीन श्रेणि का शासन था। फ्रांस की राज्यक्रान्ति ने इस स्थिति में क्रान्तिकारी परिवर्तन किया, और राष्ट्रीयता, स्वाधीनता व लोकतन्त्रवाद के विचारों ने जोर पकड़ना शुरू किया। उन्नीसवीं सदी में ये विचार निरन्तर प्रबल होते गये और अब वह समय आ चुका हैं, जब कि यूरोप के विविध राज्यों का निर्माण राष्ट्रीयता के सिद्धान्त के अनुसार हो गया है, और इन राज्यों में जनता का अपना शासन कायम है।

इस दशा में ब्रिटिश आधिपत्य के सूत्रपात के समय अठारहवीं सदी में यदि भारत में भी राष्ट्रीयता की भावना, स्वाधीनता के विचार और लोकतन्त्रवाद का अभाव रहा हो, तो इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है। पाश्चात्य जगत् में आधुनिकता की जिन प्रवृत्तियों का प्रादुर्भाव इस काल में हो रहा था, वे न केवल यूरोप को अपितु संसार के अन्य देशों को भी प्रभावित कर रही थीं। भारत भी इन प्रवृत्तियों के प्रभाव से अछूता नहीं रहा। अंग्रेजी शिक्षा और पाश्चात्य साहित्य से परिचय के कारण भारत में इन प्रवृत्तियों को बल मिला। धार्मिक सुधार, सामाजिक कुरीतियों के निवारण, भारत के प्राचीन गौरव का ज्ञान और नई शिक्षा द्वारा भारत में जो नवजागरण हो रहा था, उसने राजनीतिक क्षेत्र में भी जागृति उत्पन्न की, और भारतीय जनता में राष्ट्रीय चेतना प्रादुर्भूत होनी शुरू हुई।

अफगान और मुगल लोग भारत के लिये विदेशी अवश्य थे, पर इस देश को जीतकर वे यहां पर ही स्थिर रूप से बस गये थे। यद्यपि उन्होंने अपने धर्म इस्लाम का परित्याग कर यवनों, शकों व हूणों के समान भारतीय धर्म को नहीं अपना लिया था, पर भारत में स्थायी रूप से बस जाने के कारण यही देश उनका 'वतन' हो गया था, और कुछ समय बाद वे 'भारतीय' ही बन गये थ। मुगल-युग में शासन के क्षेत्र में भी हिन्दुओं और मुसलमानों का भेद प्रायः नष्ट हो गया था। मुगल बादशाहों के बहुत से उच्च राजपदाधिकारी व सेनापति हिन्दू थे, और शिवाजी जैसे महाराष्ट्र-धर्म के प्रवर्धक द्वारा संस्थापित मराठा राज्य में भी मुसलिम सेनापतियों व राजकर्मचारियों की कमी नहीं थी। धार्मिक विचार, कला, संगीत, संस्कृति आदि के प्रायः सभी क्षेत्रों में मुगल-युग में हिन्दू और मुसलमान एक दूसरे के बहुत समीप आ गये थे। पर अंग्रेजों के रूप में जिस नई राजशक्ति ने भारत में प्रवेश किया था, वह भारत के लिये अविकलरूप से विदेशी थी।

अफगानों व मुगलों के समान अंग्रेजों ने भारत को अपना 'होम' नहीं बना लिया था। वे सात समुद्र पार इङ्गलैण्ड से भारत का शासन करते थे, और इस देश के अपने राज्य को इङ्गलैण्ड की समृद्धि और उत्कर्ष का साधन मात्र समझते थे। इस दशा में यह सर्वथा स्वाभाविक था, कि उनके शासन के विरुद्ध भारतीय लोगों में विद्रोह की भावना उत्पन्न हो, और वे इन विदेशी व विधर्मी लोगों के शासन का अन्त करने के लिये प्रयत्नशील हों।

सर्वसाधारण जनता में राष्ट्रीयता और स्वाधीनता की भावनाओं का प्रादुर्भाव तो इस युग में (अठारहवीं सदी) यूरोप में भी नहीं हुआ था। इस स्थिति में

यदि अठारहवीं सदी में ब्रिटिश शासन के विरुद्ध जो प्रयत्न हुए, वे सर्वसाधारण जनता द्वारा न किये जाकर किसी वर्ग विशेष द्वारा हुए, तो इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है। उन्नीसवीं सदी में भी ब्रिटिश शासन के विरुद्ध भावना जनता में उत्पन्न नहीं हुई थी, क्योंकि आधुनिक युग की प्रवृत्तियों के विषय में भारत पश्चिमी यूरोप के देशों के मुकाबले में दो सदी के लगभग पीछे था। जिस प्रकार नवजागरण, धार्मिक सुधार व व्यावसायिक क्रान्ति के क्षेत्र में भारत पाश्चात्य देशों के मुकाबले में पीछे रह गया था, वैसे ही जन-जागृति के सम्बन्ध में भी वह इन देशों से पीछे रह गया। पर इसका यह अभिप्राय नहीं, कि अठारहवी और उन्नीसवीं सदियों में भारत में राष्ट्रीय चेतना का सर्वथा अभाव रहा, या यहां के लोगों ने ब्रिटिश शासन का अन्त कर देने का कोई प्रयत्न ही नहीं किया।

१७५७ में प्लासी के युद्ध के बाद जब बंगाल पर अंग्रेजों का प्रभुत्व कायम हुआ, तो इस प्रदेश में अनेक ऐसे दल उठ खड़े हुए, जिनका ध्येय अंग्रेजी शासन से अपनी मातृभूमि को मुक्त करना था। इन दलों का नेतृत्व कतिपय ऐसे व्यक्तियों के हाथों में था, जो 'संन्यासी' के वेश में रहते थे, और जनता को अंग्रेजों के विरुद्ध विद्रोह करने के लिये उकसाते थे। कुछ समय के लिये सन्यासी दल बंगाल में बहुत प्रबल हो गया, और उनके विद्रोह व विरोध से अंग्रेज लोग परेशान हो गये। पर संन्यासियों को अपने उद्देश्य मे सफलता नहीं हो सकी, क्योंकि नये अस्त्र-शस्त्रों से सुसज्जित अंग्रेज सैनिकों का मुकाबला कर सकना उनके लिये सम्भव नहीं था।

उन्नीसवीं सदी के मध्यभाग में जब अंग्रेजों ने प्रायः सम्पूर्ण भारत को जीत कर उसके पुराने राजवंशों की शक्ति का अन्त कर दिया, तो अग्रेजी शासन के विरुद्ध विद्रोह की प्रवृत्ति ने एक बार फिर जोर पकड़ा, और सन् ५७ की राज्य-क्रान्ति के रूप में यह विद्रोह-भावना अत्यन्त प्रबल रूप मे फट पड़ी। सन् ५७ की क्रान्ति सर्वसाधारण जनता का अंग्रेजों के विरुद्ध विद्रोह नहीं था, क्योंकि जनता में राष्ट्रीय चेतना इस समय तक प्रादुर्भूत नहीं हुई थी। पर जिन राजवंशों, कुलीन लोगों, सैनिक वर्ग व अन्य व्यक्तियों को अंग्रेजी राज से प्रत्यक्ष हानि हुई थी, वे सब इस समय एक साथ मिलकर अंग्रेजों के विरुद्ध उठ खड़े हुए, और सर्वसाधारण जनता के बहुत-से लोगों ने भी उनका साथ दिया। यदि भारत में राष्ट्रीय चेतना इस समय प्रादुर्भूत हो चुकी होती, तो सन् ५७ की राज्यक्रान्ति अवश्य सफल होती। पर स्वार्थ-भावना से प्रेरित होकर या राष्ट्रीय चेतना के अभाव के कारण बहुत-से भारतीयों ने इस समय अंग्रेजों का पक्ष लिया, और अंग्रेज शासक राज्य-क्रान्ति को कुचलने में समर्थ हुए।

सन् ५७ की राज्यक्रान्ति के कुछ समय बाद १८६०–६२ में बंगाल में किसानों ने विद्रोह किया। इस समय बंगाल में नील की खेती बहुत बड़े परिमाण में होती थी, और यह खेती पूर्णतया अंग्रेज जमींदारों के हाथों में थी। नील के खेतों के मालिक अंग्रेज लोग भारतीय किसानों से गुलामों का-सा व्यवहार करते थे, और उनपर अत्याचार करने में जरा भी संकोच नहीं करते थे। विवश होकर इन किसानों ने विद्रोह कर दिया, जिसे दबाने में अंग्रेजी राजकर्मचारी, यूरोपियन मिशनरी, सैनिक व अन्य यूरोपियन लोग सब मिलकर एक हो गये। इतनी विरोधी शक्तियों के मुकाबले में १८६०–६२ का विद्रोह भी सफल नहीं हो सका।

शस्त्र-शक्ति का प्रयोग कर अंग्रेजी शासन का अन्त करने के लिये जो भी प्रयत्न हुए, उन्हें सफलता नहीं मिल सकी, क्योंकि सैनिक दृष्टि से अंग्रेज लोग भारतीयों की अपेक्षा बहुत अधिक उन्नत थे। पर उन्नीसवीं सदी में एक नई प्रकार की शक्ति का प्रयोग शुरू हुआ, जिसे 'आन्दोलन' व 'प्रचार' कहते हैं। यह आन्दोलन समाचार-पत्रों द्वारा या सार्वजनिक व्याख्यानों द्वारा किया जाता था, जिससे जहां जनता का उद्बोधन होता था, वहां साथ ही शासक वर्ग पर भी इसका असर पड़ता था। श्री द्वारिकानाथ टैगोर जब १८४२ में यूरोप की यात्रा करके भारत वापस लौटे, तो ब्रिटिश पार्लियामेन्ट के अन्यतम सदस्य श्री ज्यार्ज थामसन भी उनके साथ आये। उन्होंने भारत की राजनीतिक समस्या के सम्बन्ध में अनेक भारतीयों के साथ बातचीत की, और शिक्षित वर्ग के सम्मुख कतिपय व्याख्यान भी दिये। इसके बाद १८५१ ई० में 'ब्रिटिश इन्डियन एसोशियेशन' नामक एक राजनीतिक संस्था की स्थापना हुई, जिसका उद्देश्य भारतीयों की राजनीतिक मामलों में दिलचस्पी पैदा करना था। १८५३ ई० में श्री रामगोपाल घोष द्वारा 'हिन्दू-पैट्रियट' नाम से एक अंग्रेजी समाचार-पत्र का प्रकाशन प्रारम्भ हुआ। यह पहला पत्र था, जो किसी भारतीय की ओर से अंग्रेजी में निकाला गया था। इससे पहले बंगला, हिन्दी आदि भारतीय भाषाओं में तो समाचार-पत्र प्रकाशित होते थे, पर अंग्रेजों के लिये उन्हें पढ़ सकना सम्भव नहीं था। 'हिन्दू पैट्रियट' द्वारा अंग्रेजों को भारतीय दृष्टिकोण से परिचय प्राप्त करने का अवसर मिला। उन्नीसवीं सदी के मध्य भाग में धार्मिक सुधार के अनेक आन्दोलन भारत में प्रचलित हो चुके थे। इनके कारण जनता का जागरण भी हो रहा था। पर राजनीतिक क्षेत्र में जो कुछ भी आन्दोलन इस समय चल रहे थे, वे केवल शिक्षित वर्ग तक ही सीमित थे, और इस काल में शिक्षित लोगों की संख्या भारत में बहुत कम थी।

कृष्णदास पाल और महादेव गोविन्द रानाडे सदृश अन्य सुशिक्षित भारतीय भी इस काल में भारत की राजनीतिक दशा के सुधार के लिये प्रयत्न करते रहे। पर इनकी आवाज भी केवल शिक्षित वर्ग तक ही पहुंचती थी, और इनके आन्दोलन का उद्देश्य राष्ट्रीय स्वाधीनता की प्राप्ति न होकर केवल इतना था, कि अंग्रेज शासकों की नीति को भारतीयों के प्रति अधिक सहानुभूतिपूर्ण बनाने का यत्न किया जाय। ये लोग व्याख्यानों, लेखों व आवेदन-पत्रों द्वारा भारतीयों की शिकायतों को सरकार के सम्मुख पेश करते थे, और सामाजिक सुधार व शासन-सुधार की ओर उसका ध्यान आकृष्ट करते थे। १८७६ ई० में अनेक ऐसी सभायें स्थापित की गईं, जिनका प्रयोजन भारत के शिक्षित वर्ग की आवाज को अंग्रेजी सरकार तक पहुंचाना था। इनमें कलकत्ता के 'इण्डियन एसोसियेशन' और पूना की 'सार्वजनिक सभा' के नाम उल्लेखनीय हैं। इसी समय कलकत्ता से अमृत-बाजार पत्रिका, मद्रास से हिन्दू और लाहौर से ट्रिब्यून नामक अंग्रेजी पत्रों का प्रकाशन प्रारम्भ हुआ। ये पत्र केवल शिक्षित वर्ग के दृष्टिकोण को ही सरकार के सम्मुख उपस्थित नहीं करते थे, अपितु साथ ही भारत के नवजागरण द्वारा उत्पन्न जनता की भावनाओं की तरफ भी शासकवर्ग का ध्यान आकृष्ट करते थे।

सन् १८८३ में ब्रिटिश सरकार ने यह व्यवस्था करने की योजना बनाई, कि भारतीय न्यायाधीशों की अदालतों में यूरोपियन लोगों के मुकदमे भी विचारार्थ पेश किये जा सकें। इससे पूर्व यूरोपियन लोगों के मुकदमों का फैसला यूरोपियन जजों द्वारा ही किया जाता था। पर सन् ५७ की राज्यक्रान्ति के बाद जब भारत का शासन ईस्ट इण्डिया कम्पनी के हाथों से निकलकर ब्रिटिश राजा व उसकी सरकार के हाथों में आ गया, तो शासन-कार्य में भारतीयों के सहयोग की नीति का अनुसरण किया गया। इसी कारण अनेक सुशिक्षित भारतीय न्यायाधीश आदि के पदों पर नियुक्त किये जाने लगे। १८८३ में इल्बर्ट बिल द्वारा यह व्यवस्था की गई थी, कि भारतीय न्यायाधीश यूरोपियन लोगों के मुकदमों पर भी विचार कर सकें। पर भारत में निवास करनेवाले यूरोपियन लोगों को यह बात असह्य थी। वे यह कल्पना भी नहीं कर सकते थे, कि उन्हें किसी काले आदमी के सम्मुख पेश होना पड़े। परिणाम यह हुआ, कि यूरोपियन लोगों ने इस बिल के विरुद्ध घोर आन्दोलन शुरू कर दिया। यूरोप के लिये इस ढंग का आन्दोलन कोई नई बात नहीं थी। इससे कुछ समय पूर्व इङ्गलैण्ड में चार्टिस्ट आन्दोलन बहुत जोर पकड़ चुका था, और राजनीतिक आन्दोलन द्वारा अपनी बात को मनाने का प्रयत्न करना इङ्गलिश लोगों के लिये कोई असाधारण बात नहीं थी। इल्बर्ट बिल के

विरुद्ध यूरोपियन लोगों के आन्दोलन ने इतना जोर पकड़ा, कि अन्त में सरकार को उसके सम्मुख झुकना पड़ा। बिल में ऐसे संशोधन किये गये, जिनसे भारत के यूरोपियन निवासी संतोष अनुभव कर सकें।

भारत के शिक्षित वर्ग के लिये यूरोपियन लोगों का यह आन्दोलन एक उदाहरण बन गया। उन्होंने अनुभव किया, कि राजनीतिक आन्दोलन में इतनी अधिक शक्ति होती है, कि उसके सम्मुख सरकार को भी झुकना पड़ता है। उन्होंने सोचा, कि यदि भारतीयों को भी संगठित किया जा सके, और उनकी सम्मिलित आवाज को सरकार तक पहुंचाया जा सके, तो उसका परिणाम अवश्य निकलेगा। इसीलिये १८८५ में (इल्बर्ट बिल के विरुद्ध यूरोपियन आन्दोलन के शुरू होने के केवल दो साल बाद) इण्डियन नेशनल कांग्रेस की स्थापना की गई, जो धीरे-धीरे भारत की सर्वप्रधान राजनीतिक शक्ति बन गई। पर यह ध्यान में रखना चाहिये, कि १८८५ में कांग्रेस भारत की सर्वसाधारण जनता का प्रतिनिधित्व नहीं करती थी। इस काल में जनसाधारण में राजनीतिक चेतना का प्रादुर्भाव नहीं हुआ था। समाज-सुधार व धार्मिक सुधार के विविध आन्दोलन जनता में नवजागरण उत्पन्न कर रहे थे। इनके कारण जनता अपने देश की पराधीनता और राजनीतिक दुर्दशा का भी अनुभव करने लगी थी। उसका ध्यान भारत के लुप्त गौरव की ओर भी आकृष्ट होने लगा था, और वह यह भी सोचने लगी थी, कि एक बार फिर भारत को अपने पुराने गौरवपूर्ण स्थान को प्राप्त करना चाहिये। पर इसके लिये किसी ऐसी राजनीतिक संस्था का अभी संगठन नहीं हुआ था, जो जनता में राष्ट्रीय चेतना का विकास कर उसे स्वराज्य-प्राप्ति के संघर्ष के लिये तैयार करे। राष्ट्रीय चेतना और स्वाधीनता की आकांक्षा इस समय दो रूपों में प्रगट होने लगी थी। अंग्रेजी पढ़े-लिखे लोग इण्डियन नेशनल कांग्रेस जैसी सभाओं में एकत्र होकर व्याख्यान देते थे, प्रस्ताव पास करते थे, और सरकार की सेवा में भेजने के लिये आवेदन-पत्र तैयार करते थे। इसके विपरीत कुछ देश-भक्त लोग क्रान्तिकारी समितियों का संगठन कर शस्त्रबल के प्रयोग द्वारा ब्रिटिश शासन का अन्त करने की तैयारी में तत्पर थे, और इसके लिये उन्हें अपने प्राणों की आहुति देने में भी कोई संकोच नहीं था। उन्नीसवीं सदी के अन्त तक भारत की राष्ट्रीय चेतना का यही स्वरूप था। सर्वसाधारण जनता में अभी स्वाधीनता की आकांक्षा संगठित रूप में उत्पन्न नहीं हुई थी।

(२) स्वराज्य आन्दोलन

जनता में राष्ट्रीय चेतना उत्पन्न करने और स्वाधीनता-प्राप्ति के लिये

संघर्ष करने में इण्डियन नेशनल कांग्रेस ने सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण कार्य किया। १८८५ ई० में जब कांग्रेस की स्थापना हुई थी, तो वह जनसाधारण की संस्था नहीं थी, और न ही उसका उद्देश्य ब्रिटिश आधिपत्य का अन्त कर स्वराज्य को स्थापित करना था। कांग्रेस के प्रथम अधिवेशन में उसके सभापति श्री उमेशचन्द्र चक्रवर्ती ने उसके उद्देश्य इस प्रकार प्रगट किये थे—(१) ब्रिटिश साम्राज्य में निवास करनेवाले उन सब लोगों में जान-पहचान व मैत्री उत्पन्न करना, जो भारत की उन्नति के पक्षपाती हैं। (२) ऐसे उपायों व साधनों पर विचार करना, जिनसे भारत की शासन-पद्धति में सुधार हो। (३) देश के शासन में भारतीयों को अधिक संख्या में नियुक्त कराने के लिये प्रयत्न करना। १८८५ से १९०५ तक कांग्रेस का यही रूप रहा, कि हर साल क्रिसमस की छुट्टियों में देश के सुशिक्षित व सार्वजनिक जीवन का शौक रखनेवाले लोग किसी बड़े शहर में एकत्र होते थे, और कांग्रेस के अधिवेशन में परिमार्जित भाषा में व्याख्यान देकर अपनी अंग्रेजी की योग्यता का परिचय देते थे। इस युग के कांग्रेसी नेताओं में सुरेन्द्रनाथ बैनर्जी, महादेव गोविन्द रानाडे, फीरोजशाह मेहता, गोपालकृष्ण गोखले और दादाभाई नौरोजी के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। १९०५ ई० में बंग-भंग के प्रश्न पर बंगाल में बहुत उत्तेजना फैली, और अनेक देश-भक्त लोग उग्र उपायों द्वारा ब्रिटिश सरकार का विरोध करने के लिये अग्रसर हुए। इसी समय जापान जैसे छोटे से एशियन देश द्वारा रूस जैसे विशाल यूरोपियन देश की पराजय के कारण एशिया के निवासियों में स्फूर्ति व नवजीवन उत्पन्न हुआ, और जनता में यह विचार प्रबल होने लगा, कि यूरोपियन लोग नसल आदि की दृष्टि से एशियन लोगों की अपेक्षा उत्कृष्ट नही है। नये युग के ज्ञान-विज्ञान को अपनाकर कोई भी एशियन देश पाश्चात्य देशों को परास्त कर सकता है। बंगाल में इन्हीं भावनाओं से प्रेरित होकर स्वदेशी आन्दोलन ने जोर पकड़ा, जिसका प्रभाव भारत के अन्य प्रान्तों पर भी पड़ा। सन् १९०५ का भारत की राष्ट्रीय स्वाधीनता के इतिहास में बहुत अधिक महत्त्व है। इसी समय कांग्रेस में एक नये दल का प्रादुर्भाव हुआ, जो केवल भाषण देने व प्रस्ताव पास करने पर ही विश्वास नहीं करता था, अपितु स्वराज्य-प्राप्ति के लिये क्रियात्मक पग उठाने की नीति का प्रतिपादक था। इसे 'गरम' दल कहते थे। इसके मुकाबले पर पुराने कांग्रेसी लोगों को 'नरम' कहा जाता था। कांग्रेस के गरम दल के प्रधान नेता बालगंगाधर तिलक, लाजपतराय और विपिनचन्द्र पाल थे। ये नेता भारत में घूम-घूम कर राजनीतिक चेतना और स्वराज्य की आकांक्षा उत्पन्न

करने के लिये प्रयत्नशील थे, और विदेशी सरकार का विरोध करना अपना कर्तव्य समझते थे। बंगाल, पंजाब और महाराष्ट्र में जो अनेक क्रान्तिकारी व विप्लववादी आन्दोलन इस समय चल रहे थे, गरम नेताओं की दृष्टि में उनका भी उपयोग था। परिणाम यह हुआ, कि नरम और गरम दल के मतभेद ने उग्र रूप धारण कर लिया, और १९०७ में हुई सूरत की कांग्रेस में इन दलों में फूट पड़ गई।

१९१४–१८ के महायुद्ध में भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन को बहुत बल मिला। इस युद्ध में ब्रिटिश पक्ष के लोग यही कहते थे, कि वे राष्ट्रीयता, स्वाधीनता और लोकतन्त्रवाद के सिद्धान्तों को सम्मुख रखकर रणक्षेत्र में उतरे है, और उनका उद्देश्य आस्ट्रिया, हंगरी, जर्मनी और टर्की के स्वेच्छाचारी शासनों का अन्त कर राष्ट्रीयता और लोकतन्त्रवाद के अनुसार यूरोप का पुनर्निर्माण करना ही है। भारत की जनता में इन विचारों द्वारा नवस्फूर्ति का संचार हुआ। ब्रिटिश लोगों ने भी उसे यह आश्वासन दिया, कि युद्ध की समाप्ति पर वे भारत की राष्ट्रीय आकांक्षाओं की पूर्ति में कोई कसर नहीं उठा रखेंगे। यही कारण था, जो कांग्रेस ने युद्ध-प्रयत्न में ब्रिटिश सरकार का उत्साहपूर्वक साथ दिया, और महात्मा गांधी जैसे नेता ने सेना में रंगरूट भरती करने में सहायता की। पर महायुद्ध की समाप्ति पर भारतीयों की राष्ट्रीय आकांक्षायें पूर्ण नही हो पाई, और ब्रिटिश सरकार की कृपा पर आश्रित रहके स्वराज्य-प्राप्ति की आशा छोड़कर उन्होंने अपने बल द्वारा स्वतन्त्र होने का प्रयत्न प्रारम्भ किया। इस समय कांग्रेस का नेतृत्व महात्मा गांधी के हाथों में आ गया, जिन्होंने १९२०-२१ में एक नये आन्दोलन का प्रारम्भ किया। इस आन्दोलन का कार्यक्रम निम्नलिखित था—(१) सरकार की सेवा में जो भारतीय कार्य कर रहे है, वे त्याग-पत्र दे दें, ताकि ब्रिटिश शासकों के लिये इस देश पर शासन कर सकना सम्भव न रहे। (२) सरकार द्वारा संचालित व अभिमत शिक्षणालयों का बहिष्कार कर विद्यार्थी राष्ट्रीय विद्यालयों व विद्यापीठों में शिक्षा प्राप्त करें, जिससे कि वे राष्ट्रीय हितों की विरोधी शिक्षा के असर में न रहें। (३) सब भारतीय स्वदेशी वस्तुओं और हाथ के कते व हाथ के बुने कपड़ों का व्यवहार करें, और विदेशी वस्त्रों के बहिष्कार में प्रवृत्त हों। इस आन्दोलन को 'असहयोग' (नान-कोआपरेशन) का नाम दिया गया, और इसे सफल बनाने के लिये एक करोड़ रुपये का 'तिलक-स्वराज्य-फंड' कायम किया गया। असहयोग-आन्दोलन के कारण सारे भारत में राजनीतिक चेतना उत्पन्न हो गई। खिलाफत के प्रश्न को लेकर मुसलमान भी अच्छी बड़ी

संख्या में इस आन्दोलन में शामिल हुए। यद्यपि दमन-नीति का प्रयोग कर सरकार इस आन्दोलन को कुचलने में सफल हुई, पर इसके कारण राष्ट्रीय चेतना और स्वराज्य की आकांक्षा सर्वसाधारण जनता तक पहुंच गई। गांधीजी के नेतृत्व की भारत को सबसे बड़ी देन यही है, कि उन्होंने स्वराज्य-आन्दोलन को सर्वसाधारण जनता तक पहुंचा दिया। अंग्रेज असहयोग-आन्दोलन को कुचलने में तो समर्थ हुए थे, पर इससे देश में अशान्ति दूर नहीं हो गई थी। विवश होकर ब्रिटिश सरकार ने १९२७ में सर जान साइमन के नेतृत्व में एक कमीशन की नियुक्ति की, जिसे भारत में शासन-सुधार सम्बन्धी परामर्श देने का काम सुपुर्द किया गया। इस कमीशन के सब सदस्य अंग्रेज थे। उससे यह आशा नहीं की जा सकती थी, कि वह भारत की राष्ट्रीय आकांक्षाओं को भलीभांति समझ सकेगा। कांग्रेस ने उसका बहिष्कार किया, और किसी महत्त्वपूर्ण नेता ने उसके सम्मुख गवाही नहीं दी। साइमन कमीशन जहां भी गया, काले झण्डों से उसका स्वागत किया गया। इस कमीशन की रिपोर्ट से भारत में किसी को भी संतोष नही हुआ। १९२९ में पण्डित जवाहरलाल के सभापतित्व में कांग्रेस ने लाहौर के अधिवेशन में पूर्ण स्वराज्य की स्थापना को ही अपना उद्देश्य निश्चित किया। मार्च, १९३० में महात्मा गांधी ने सत्याग्रह-आन्दोलन शुरू किया, जिसके लिये उन्होंने नमक कानून को तोड़ने का कार्यक्रम बनाया। गांधीजी का अनुसरण कर जगह-जगह पर नमक कानून तोड़ा गया, और हजारों स्त्री-पुरुषों ने स्वेच्छापूर्वक जेलयात्रा की।

इसी समय कांग्रेस ने यह भी आन्दोलन किया, कि विदेशी वस्त्र की दूकानों और शराब की भट्टियों पर धरनादिया जाय, और किसान सरकार को माल गुजारी अदा न करें। शीघ्र ही सत्याग्रह-आन्दोलन सारे देश में फैल गया, और जेल जानेवाले वीर देशभक्तों की संख्या एक लाख तक पहुंच गई। सरकार ने देशभक्त सत्याग्रहियों पर घोर अत्याचार किये। १९२०-२१ के असहयोग-आन्दोलन और १९३०-३१ के सत्याग्रह-आन्दोलन का परिणाम यह हुआ, कि सर्वसाधारण जनता में अन्याय का प्रतिरोध करने की शक्ति और स्वराज्य की आकांक्षा उत्पन्न हो गई। महात्मा गांधी और उनके साथी नेताओं के प्रयत्न से भारत में एक ऐसी जागृति प्रादुर्भूत हुई, जिससे ब्रिटिश शासन का इस देश में स्थिर रह सकना असम्भव हो गया। ब्रिटेन जैसे शक्तिशाली देश का शिकंजा जो भारत में ढीला पड़ गया, उसका प्रधान कारण यही था, कि जन-शक्ति ब्रिटिश साम्राज्य के विरुद्ध उठ खड़ी हुई थी।

१९३९-४५ के महायुद्ध से भारत के स्वराज्य-संग्राम को बहुत बल मिला।

१९४२ के अगस्त मास में कांग्रेस ने विदेशी सरकार का प्रतिरोध करने के लिये अधिक उग्र उपायों का अनुसरण करने का निश्चय किया। उसकी प्रेरणा से देश-भक्त भारतीय युवक ब्रिटिश सत्ता को नष्ट करने के लिये बड़ी से बड़ी कुर्बानी करने के लिये तैयार हो गये। १९४२ में सरकार के प्रतिरोध ने इतना उग्ररूप धारण कर लिया, कि रेल-तार और डाक तक में अनियमितता आ गई। कई स्थानों पर तो जनता खुले तौर पर विद्रोह के लिये उतारू हो गई। यद्यपि ब्रिटिश शासक अस्त्र-शक्ति का उपयोग कर इस क्रान्ति को कुचलने में सफल हुए, पर इसके कारण भारत में इतनी अधिक जागृति उत्पन्न हो गई थी, कि अंग्रेजों के लिये भारत को अपनी अधीनता में रख सकना सम्भव नहीं रह गया था। उसने अनुभव कर लिया था, कि भारत को स्वतन्त्र कर देने में ही ब्रिटेन का लाभ है।

भारत को स्वतन्त्र कराने में इण्डियन नेशनल कांग्रेस का बहुत बड़ा हाथ है। पर साथ ही क्रान्तिकारी युवको ने अंग्रेजी शासन के विरुद्ध जो विप्लव-वादी उपाय प्रयुक्त किये, उनका महत्त्व भी कम नहीं है। यद्यपि शस्त्र-बल का प्रयोग कर अंग्रेजी शासन को नष्ट कर सकना सम्भव नहीं था, पर इन देशभक्तों के कार्यों से जनता में उत्साह और जागृति उत्पन्न होने में बहुत अधिक सहायता मिलती थी। लाहौर में सान्डर्स की हत्या, किसी अंग्रेज गवर्नर पर बम्बपात, दिल्ली की एसेम्बली के मध्य में बम्ब का फूटना, क्रान्तिकारियों द्वारा रेल-गाड़ी को लूट लेना—ये ऐसी घटनायें होती थीं, जिन्हें पढकर भारतीय जनता का हृदय पुलकित हो जाता था। समाचार-पत्रों व सार्वजनिक सभाओं में इस प्रकार की क्रान्तिकारी बातों का चाहे विरोध किया जाता हो, पर यह स्वीकार करना होगा, कि सर्वसाधारण भारतीय लोग विप्लववादियों को श्रद्धा की दृष्टि से देखते थे, और उन्हे शहीद मानते थे। बंगाल, महाराष्ट्र, पंजाब और उत्तर-प्रदेश भारतीय क्रान्तिकारी आन्दोलन के प्रधान केन्द्र थे।

१९३९-४५ के महायुद्ध के समय नेताजी सुभाषचन्द्र बोस ने आजाद हिन्द सेना का संगठन कर जापान और जर्मनी की सहायता से ब्रिटिश शासन का अन्त करने का प्रयत्न किया। महायुद्ध में ब्रिटिश पक्ष की विजय होने के कारण यद्यपि नेताजी को अपने प्रयत्न में सफलता नहीं मिली, पर इसका महत्त्वपूर्ण परिणाम यह हुआ, कि ब्रिटेन की भारतीय सेना में राष्ट्रीय चेतना उत्पन्न हो गई। भारत में ब्रिटिश शासन का मुख्य आधार वह भृत सेना ही थी, जिसके सैनिक धन की लालसा से विदेशी शासन की सहायता करते थे। जब उन्हीं में राष्ट्रीय जागृति और स्वराज्य की आकांक्षा उत्पन्न हो गई, तो अंग्रेजों के लिये भारत को अपनी

अधीनता में रख सकना असम्भव हो गया । इसी कारण बंबई में भारतीय जल-सेना ने भी अंग्रेजों के विरुद्ध विद्रोह किया, और अंग्रेजों ने स्पष्ठ रूप से अनुभव कर लिया, कि अब वे इस देश पर अपना शासन कायम नहीं रखा सकेंगे ।

(३) मुसलिम राष्ट्रीयता

इसमें सन्देह नहीं, कि अफगान और मुसलिम शासकों के शासन-काल में हिन्दुओं और मुसलमानों में अनेक दृष्टियों से सामञ्जस्य उत्पन्न हो गया था। धर्म, भाषा, रहन-सहन, रीति-रिवाज आदि अनेक क्षेत्रों में वे एक-दूसरे के बहुत समीप आ गये थे । यदि ब्रिटिश युग में भी हिन्दू-मुसलिम सामञ्जस्य की यह प्रक्रिया जारी रहती, और भारत में नवजागरण की जो प्रक्रिया शुरू हुई थी, वह हिन्दुओं और मुसलमानों में एकानुभूति विकसित करने में सहायक होती, तो भारत के इन दो प्रधान धर्मों के अनुयायी राष्ट्रीय दृष्टि से भी एक हो सकते। पर ब्रिटिश युग में यह नहीं हो पाया । नवजागरण, धार्मिक सुधारणा, राजनीतिक चेतना और शिक्षा——सब हिन्दुओं और मुसलमानों को एक-दूसरे से पृथक् करने में सहायक हुए । हिन्दुओं और मुसलमानों में भेद उत्पन्न करनेवाले इन तत्त्वों का इस प्रसंग में उल्लेख करना उपयोगी है।

(१) ब्राह्मसमाज, आर्यसमाज, प्रार्थना-समाज, रामकृष्ण मिशन आदि नये धार्मिक आन्दोलनों ने धार्मिक और सामाजिक क्षेत्र में हिन्दुओं में नवजागरण उत्पन्न किया । यद्यपि ये सभी आन्दोलन भारतीय जनता की एकता के पक्षपाती थे, और धार्मिक भेदभाव को दूर कर भारतीयों को एकता के सूत्र में बांधने का यत्न करते थे, पर इनका प्रभाव मुख्यतया हिन्दुओं पर ही पड़ा । स्वामी दयानन्द तक ने मुसलिम नेता सर सैयद अहमद खां से मिलकर धार्मिक एकता को स्थापित करने का उद्योग किया । पर तात्त्विक रूप से ये सब आन्दोलन हिन्दू जाति और प्राचीन आर्य-धर्म में नवजागृति उत्पन्न करने में सहायक हुए, और इन्होंने धर्म का एक ऐसा रूप जनता के सम्मुख रखा, जिसमें मुसलमानों के लिये सम्मिलित हो सकना सम्भव नहीं था । मध्य युग में कबीर, नानक सदृश सन्त-महात्माओं ने जिस धार्मिक आन्दोलन का प्रारम्भ किया था, उसका आधार पुराने वेद-शास्त्र नहीं थे। उनकी शिक्षाओं और वाणियों में सब धर्मों के विशिष्ट तत्त्वों का समावेश था । पर उन्नीसवीं सदी के हिन्दू धार्मिक आन्दोलन वेदशास्त्रों के महत्त्व पर जोर देते थे । आर्यसमाज की तो स्थापना ही वेदों के पुनरुद्धार

के लिये हुई थी । ब्राह्मसमाज की उपासना भी वैदिक मन्त्रों और उपनिषदों पर आश्रित थी । रामकृष्ण मिशन के सर्वप्रसिद्ध प्रचारक विवेकानन्द भी वेदान्त के गौरवपूर्ण व उत्कृष्ट सिद्धान्तों को देश-विदेश के लोगों के सम्मुख लाने के लिये प्रयत्नशील थे ।

(२) नवजागरण का प्रभाव मुसलमानों पर न पड़ता, यह सम्भव नहीं था । पर उनमें जागरण की जो प्रवृत्ति प्रादुर्भूत हुई, वह सर्वथा स्वतन्त्र रूप में थी । अठारहवीं सदी में जब मुसलिम राजशक्ति का पतन हुआ, तो अनेक मौलवियों के हृदय में इस्लाम की दुर्दशा की अनुभूति उत्पन्न हुई । देहली के मुहम्मद शाह वलीउल्ला सदृश कितने ही मुसलिम नेता इस्लाम के लुप्त गौरव का पुनरुद्धार करने के लिये उतावले हो उठे । वलीउल्लाह के अन्यतम शिष्य अहमद शाह ने वहाबी सम्प्रदाय की नीव डाली, जिसका उद्देश्य इस्लाम की कमजोरियों को दूर कर मुसलमानों में नवजीवन व स्फूर्ति का संचार करना था । अंग्रेजों की बढ़ती हुई शक्ति को वहाबी लोग बड़ी चिन्ता की दृष्टि से देखते थे । १८५७ की राज्य-क्रान्ति में उन्होंने मुसलमानों को अंग्रेजों के विरुद्ध भड़काने में महत्त्वपूर्ण कार्य किया था । पर वहाबी लोगों को भारत की दुर्दशा का उतना ध्यान नहीं था, जितना कि इस्लाम की दुरवस्था का था । इस आन्दोलन न इस्लाम में स्फूर्ति का संचार अवश्य किया, पर मुसलमानों को हिन्दुओं से दूर करने में भी सहायता की ।

(३) सर सैयद अहमद खां ने अलीगढ़ को केन्द्र बनाकर एक नये मुसलिम आन्दोलन का सूत्रपात किया, जिसका उद्देश्य मुसलमानों में नई शिक्षा का प्रसार करना और उन्हें भारत की राजशक्ति के उपभोग में हाथ बटाने के लिये तैयार करना था । ब्रिटिश शासन की स्थापना के बाद मुसलमानों ने अंग्रेजी शिक्षा की उपेक्षा की थी । इसके विपरीत हिन्दुओं ने अंग्रेजी पढ़कर नये ज्ञान-विज्ञान को सीख लिया था, और भारत के राजनीतिक व सामाजिक जीवन में उनका महत्त्व निरन्तर बढ़ता जाता था । १८७५ में सर सैयद ने अलीगढ़ में ऐंग्लो ओरियन्टल कालिज की स्थापना की, और मुसलिम जनता के नवजागरण का प्रारम्भ किया, जिससे इस जाति में नई स्फूर्ति और आशा का संचार हुआ । भारत भर के मुसलमान अलीगढ़ को अपना केन्द्र मानने लगे । बंगाल, मद्रास, पंजाब, बंबई आदि सब प्रान्तों के मुसलिम युवक अलीगढ़ में पढ़ने के लिये आने लगे, और वहां रहते हुए उनमें एक भाषा, एक रहन-सहन, एक विचारसरणी और एक संस्कृति का विकास होने लगा । अलीगढ़ में स्कूल-विभाग में शिक्षा का माध्यम उर्दू को बनाया गया

और मैट्रिक परीक्षा उत्तीर्ण करने के लिये उर्दू का ज्ञान आवश्यक कर दिया गया। अलीगढ़ का विद्यार्थी चाहे भारत के किसी भी भाग का निवासी हो, वह उर्दू को अपनी भाषा समझने लगा। इस दशा का परिणाम यह हुआ, कि भारत भर के शिक्षित मुसलमान उर्दू को अपनी धार्मिक व राष्ट्रीय भाषा समझने लगे। रहन-सहन, भाषा, विचारसरणी आदि की एकता के कारण जहां अलीगढ़ के वातावरण में पले हुए मुसलमान अपने को एक जाति व एक राष्ट्र का अंग समझते थे, वहां उनमें यह अनुभूति भी उत्पन्न होने लगी, कि हम हिन्दुओं से पृथक् हैं।

(४) भारत के नवजागरण का एक महत्वपूर्ण परिणाम यह हुआ, कि विविध जातियों व सम्प्रदायों में अपनी पृथक् शिक्षा-संस्थायें खोलने की प्रवृत्ति का प्रारम्भ हुआ। मुसलमानों के मुहम्मडन एंग्लो ओरियन्टल कालेज के समान, दयानन्द एंग्लो-वैदिक कालिज, सनातनधर्म कालिज, खालसा कालिज आदि शिक्षा-संस्थाओं की स्थापना शुरू हुई; जिनमें नवीन शिक्षा के साथ-साथ अपने धर्म, सम्प्रदाय आदि की शिक्षा की भी व्यवस्था की गई। इस्लामिया कालेजों के विद्यार्थी जहां उर्दू को अपनी भाषा समझते थे, और इस्लाम के उत्कर्ष को अपना ध्येय मानते थे, वहां डी० ए० वी० कालेजों के विद्यार्थियों को हिन्दी की शिक्षा दी जाती थी, और वैदिक धर्म के पुनरुत्थान का आदर्श उनके सम्मुख उपस्थित किया जाता था।

(५) उन्नीसवीं सदी का अन्त होते-होते आर्य समाज ने गुरुकुलों की स्थापना शुरू कर दी थी। सनातनी और जैनी लोग भी उनकी देखादेखी अपने 'कुल' स्थापित करने में तत्पर थे। देवबन्द आदि में मुसलमानों ने भी ऐसे मदरसे कायम कर लिये थे, जो इस्लाम की शिक्षा को ही संसार के लिये आदर्श व कल्याणकारी मानते थे। ये सब संस्थायें भारत के नवजागरण मे सहायक अवश्य थीं, पर साथ ही इनके कारण हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच की खाई अधिक-अधिक चौड़ी होती जाती थी। देहात के रहनेवाले हिन्दू और मुसलमान एक भाषा बोलते थे, उनके विचार करने का ढंग एकसदृश था, उनके रहन-सहन में भी विशेष अन्तर नहीं था। पर जब ये देहाती बालक गुरुकुल कांगड़ी या देवबन्द में पढ़कर बाहर निकलते थे, तो वे एक-दूसरे से भिन्न दो पृथक् संस्कृतियों के मूर्तरूप बन जाते थे। अलीगढ़ के एंग्लो-ओरियन्टल कालेज और लाहौर के दयानन्द एंग्लो-वैदिक कालेज के विद्यार्थियों की संस्कृति में भी इसी प्रकार का भेद आ जाता था। पण्डित मदनमोहन मालवीय के प्रयत्न से जब काशी में 'हिन्दू विश्वविद्यालय'

की स्थापना हुई, तो यह संस्था हिन्दू अध्ययन और संस्कृति का उसी प्रकार केन्द्र बन गई, जैसे कि अलीगढ़ मुसलिम-शिक्षा का केन्द्र था। शिक्षा का प्रसार हिन्दुओं और मुसलमानों के भेद को घटाने के स्थान पर उसे बढ़ा रहा था। राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के आन्दोलन के परिणामस्वरूप जब भारत में राष्ट्रीय शिक्षणालयों की स्थापना का प्रयत्न शुरू हुआ, तो राष्ट्रीय शिक्षा का आन्दोलन भी शिक्षा के क्षेत्र में हिन्दुओं और मुसलमानों को एक नहीं कर सका। दिल्ली की 'जामिया मिल्लिया इस्लामिया' मुसलिम राष्ट्रीय शिक्षा का प्रतिनिधित्व करती थी, और काशी का 'काशी विद्यापीठ' हिन्दू राष्ट्रीय शिक्षा का। कांग्रेस की दृष्टि में दोनों ही संस्थायें राष्ट्रीय शिक्षा देती थीं, पर इनके पढ़े हुए विद्यार्थियों में विदेशी शासन का अन्त करने की इच्छा समानरूप से विद्यमान होते हुए भी संस्कृति की दृष्टि से वे एक-दूसरे से बहुत भिन्न थे। राष्ट्रीय शिक्षा भी हिन्दुओं और मुसलमानों के भेद को दूर करने में असमर्थ रही थी।

(६) राष्ट्रीय स्वाधीनता का आन्दोलन भी इन दो जातियों को एक करने में समर्थ नहीं हुआ। सर सैयद अहमद खां और उनके अनुयायी भलीभांति अनुभव करते थे, कि भारत में मुसलिम लोग अल्प संख्या में हैं। लोकतन्त्रवाद पर आश्रित स्वराज्य के स्थापित हो जाने का परिणाम यह होगा, कि मुसलमान अल्प-संख्या में होने के कारण सदा हिन्दुओं के वशवर्ती बने रहेंगे। इसीलिये उन्होंने मुसलिम-हितों की रक्षा का आन्दोलन खड़ा किया, और १९०६ में मुसलिम लीग के रूप में अपनी पृथक् राजनीतिक संस्था का संगठन किया। १९१६ में कांग्रेस और लीग में समझौता अवश्य हुआ, पर उसके कारण भारत के राष्ट्रीय नेताओं ने व्यवस्थापिका सभाओं में हिन्दुओं और मुसलमानों के पृथक् प्रतिनिधित्व के सिद्धान्त को स्वीकृत कर लिया, जिसके कारण इन दो धर्मों व जातियों के लोगों में अपनी पृथक् अनुभूति ने स्पष्ट राजनीतिक रूप धारण कर लिया।

(७) गांधीजी के नेतृत्व में जब कांग्रेस ने जनसाधारण में राजनीतिक चेतना के प्रादुर्भाव का प्रयत्न किया, तो मुसलमानों को अपने साथ लेने के लिये उन्होंने 'खिलाफत आन्दोलन' को अपनाया। टर्की में खिलाफत के पुनरुद्धार का विचार मुसलमानों को बहुत आकर्षक प्रतीत होता था, और वे इसी कारण बड़ी संख्या में कांग्रेस में शामिल हुए। १९२०-२२ के कांग्रेस-आन्दोलन में मुसलिम स्वयंसेवक अरब पोशाक पहन कर शामिल होते थे, और खिलाफत पर व्याख्यान देते थे। गांधी टोपी धारण किये हुए हिन्दू लोग अरबी पोशाक पहने हुए मुसलमानों की राष्टीय भावना और देशभक्ति की प्रशंसा करते थे। इस युग में उन्हें यह

अनुभव करने का अवकाश नहीं था, कि मुसलिम राष्ट्रीयता हिन्दू राष्ट्रीयता से किस प्रकार भिन्न है, और मुसलमान लोग किस प्रकार राष्ट्रीय क्षेत्र मे एक नये मार्ग का अनुसरण करने मे प्रवृत्त है।

इन्हीं सब कारणों का यह परिणाम हुआ, कि मुसलमान हिन्दुओं से पृथक् होते गये। मुसलमान एक पृथक् राष्ट्र है, यह विचार उनमें निरन्तर विकसित होता गया। इसी कारण पाकिस्तान का पृथक् रूप से निर्माण हुआ। मुहम्मद अली जिन्ना ने उस प्रवृत्ति को मूर्त रूप प्रदान किया, जो ब्रिटिश युग में निरन्तर विकास को प्राप्त करती रही थी।

(४) उपसंहार

इस समय भारत मे स्वराज्य स्थापित हो चुका है। अगस्त, १९४७ म स्वराज्य की स्थापना के बाद भारत मे एक नये युग का सूत्रपात हुआ है, जो अफगान, मुगल व ब्रिटिश युगों से बहुत अधिक भिन्न है। इन युगों मे भारत का शासन भारतीय जनता के हाथ मे न होकर किसी एक व्यक्ति, वर्ग व जाति के हाथों म था। संसार के अन्य देशों के समान भारत मे भी अब लोकतन्त्रवाद पर आश्रित स्वराज्य सरकार की स्थापना हुई है, जिसके कारण जनता को अपनी उन्नति करने का अवसर प्राप्त हुआ है। इसम सन्देह नहीं, कि कांग्रेस के नेतृत्व मे भारतीय जनता अपने उत्कर्ष के लिये प्रयत्नशील है, और सामाजिक सुधार, आर्थिक दशा, राजनीतिक शक्ति आदि सब क्षेत्रों मे भारत उन्नति पथ-पर तेजी के साथ पग बढ़ा रहा है। आधुनिक युग की सब विशेषतायें इस समय भारत मे विकसित हो रही है। नवजागरण इस देश म उन्नीसवी सदी मे ही शुरू हो गया था। अब शिक्षा के प्रसार के कारण इसका प्रभाव सर्वसाधारण जनता पर भी पड़ रहा है। देहात में निवास करनेवाले लोग भी नये विचारों से परिचित हो रहे है, और वे अपने सामाजिक व आर्थिक संगठन मे परिवर्तन लाने की बातों को शौक के साथ सुनते व पढ़ते हैं। बड़ी-बड़ी नहरो के निर्माण और जमींदारी-प्रथा के अन्त के कारण कृषि के क्षेत्र मे तेजी के साथ उन्नति हो रही है। यान्त्रिक शक्ति से चलने वाले विशालकाय कारखानों की स्थापना से देश मे व्यावसायिक क्रान्ति हो रही है, और भारत अब 'कृषि-प्रधान' देश न रहकर 'व्यवसाय-प्रधान' होता जाता है। धर्म के क्षेत्र मे भी संसार के लोग भारत के अध्यात्मचिन्तन की ओर आकृष्ट हो रहे हैं, और बुद्ध व गांधी सदृश महात्माओं के सत्य व अहिंसा के आदर्श संसार में नई आशा का संचार कर रहे है। भारतीय संस्कृति

के मूल तत्त्व संसार के उन्नत व सभ्य लोगों के लिये आकर्षण की चीज बनते जा रहे हैं।

भारतीय संस्कृति द्रविड़, आर्य, बौद्ध, यवन, शक, हूण, अफगान, मुगल व ब्रिटिश संस्कृतियों के तत्त्वों के सम्मिश्रण का परिणाम है। यद्यपि इसकी मूल व मुख्य धारा आर्य है, पर यवन, शक, मुसलिम व ईसाई धाराओं ने भारतीय संस्कृति की इस मूलधारा को समृद्ध व विशाल बनाने में बहुत महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। यह ठीक है, कि ब्रिटिश युग के नवजागरण के परिणामस्वरूप हिन्दू और मुसलमान के भेद में अधिक वृद्धि हुई, और अन्ततोगत्वा भारत का विभाजन होकर पाकिस्तान के रूप में एक पृथक् मुसलिम राष्ट्र का निर्माण हो गया। पर अब भी भारत में चार करोड़ के लगभग मुसलमान विद्यमान हैं, जो इस देश की संस्कृति को प्रभावित किये बिना नहीं रह सकते। 'धर्मनिरपेक्ष' (सिक्युलर) राष्ट्र की कल्पना इसी स्थिति का परिणाम है। समन्वय और सामञ्जस्य की भावना भारतीय संस्कृति की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता रही है, और धर्मनिरपेक्ष राष्ट्र का आदर्श भारत की इसी सांस्कृतिक विशेषता का परिचायक है। ब्रिटिश शासन के कारण भारत को पाश्चात्य संसार के भौतिकवाद से परिचित होने का सुवर्णीय अवसर प्राप्त हुआ, पर इससे उसने अपने अध्यात्मवाद को सर्वथा भुला नहीं दिया। अध्यात्मवाद और भौतिकवाद के समन्वय द्वारा यदि भारत एक नई संस्कृति के विकास में समर्थ हुआ, तो यह संस्कृति संसार के सुख व शान्ति में सहायक होगी, यह निर्विवाद है।

सहायक ग्रंथ

Panikkar : A Survey of Indian History.
Zacharias : Renascent India.
Mazumdar : Indian National Evolution.
Graham Pole : India in Transition.
Sitaramaiyya : History of the Indian National Congress.